हिंदुस्तानी

हिंदुस्तानी एकेडेमी की तिमाही पत्रिका

१९३३

हिंदुस्तानी एकेडेमी

संयुक्तप्रांत, इलाहाबाद

हिंदुस्तानी, १९३२

संपादक—रामचंद्र टंडन

लेख-सूची

हिंदुस्तानी एकेडेमी द्वारा प्रकाशित ग्रंथ

(१४) वेलि क्रिसन रुक्मणी री , ठाकुर रामसिंह, एम्० ए० और श्री सूर्यकरण पारीक, एम्० ए० । मूल्य ६)

(१५) चंद्रगुप्त विक्रमादित्य—लेखक, श्रीयुत गंगाप्रसाद मेहता, एम्० ए० । सचित्र । मूल्य ३)

(१६) भोजराज—लेखक, श्रीयुत विश्वेश्वरनाथ रेउ । मूल्य ३॥) सजिल्द, ३) बिना जिल्द ।

(१७) हिंदी उर्दू या हिंदुस्तानी—लेखक, श्रीयुत पंडित पद्मसिंह शर्मा । मूल्य सजिल्द १॥), बिना जिल्द १)

(१८) नातन—लेसिंग के जर्मन नाटक का अनुवाद । अनुवादक—मिर्ज़ा अबुलफ़ज़्ल । मूल्य १।)

(१९) हिंदी भाषा का इतिहास—लेखक, श्रीयुत धीरेंद्र वर्मा, एम्० ए० । मूल्य सजिल्द ४), बिना जिल्द ३॥)

(२०) औद्योगिक तथा व्यापारिक भूगोल—लेखक, श्रीयुत शंकरसहाय सक्सेना । मूल्य सजिल्द ५॥), बिना जिल्द ५)

(२१) ग्रामीय, अर्थशास्त्र—लेखक, श्रीयुत व्रजगोपाल भटनागर एम्० ए० । मूल्य ४॥) सजिल्द, ४) बिना जिल्द ।

हिंदुस्तानी

तिमाही पत्रिका

की पहिले दो वर्ष की कुछ फाइलें अभी प्राप्त हो सकती हैं । मूल्य पहिले वर्ष का ८) तथा दूसरे वर्ष का ५) ।

प्रकाशक

हिंदुस्तानी एकेडेमी

संयुक्तप्रांत, इलाहाबाद

मिलने का पता

इंडियन प्रेस लिमिटेड, इलाहाबाद

नोबेल पुरस्कार-प्राप्त

प्रसिद्ध नाट्यकार

जॉन गाल्सवर्दी

की

चार अमूल्य रचनाएँ

१—न्याय—'जस्टिस' नामक नाटक का अनुवाद। अनुवादक—श्रीयुत प्रेमचंद। मूल्य २।)

२—हड़ताल—'स्ट्राइफ़' नामक नाटक का अनुवाद। अनुवादक—श्रीयुत प्रेमचंद। मूल्य २)

३—धोखाधड़ी—'स्किन गेम' नामक नाटक का अनुवाद। अनुवादक—श्रीयुत ललताप्रसाद शुक्ल, एम्० ए०। मूल्य १।।।)

४—चाँदी की डिबिया—'सिल्वर बॉक्स' नामक नाटक का अनुवाद। अनुवादक—श्रीयुत प्रेमचंद। मूल्य १।।)

सभी पुस्तकों पर सुंदर सुनहरी कपड़े की मज़बूत जिल्दें हैं।

प्रकाशक

हिंदुस्तानी एकेडेमी,

संयुक्तप्रांत, इलाहाबाद

सोल एजेंट:

इंडियन प्रेस लिमिटेड, इलाहाबाद

हिंदुस्तानी, जनवरी १९३३

संपादक—रामचंद्र टंडन

लेख-सूची

वार्षिक मूल्य पाँच रुपए; एक अंक का १।); डाक व्यय अलग।

हिंदुस्तानी एकेडेमी के उद्देश

हिंदुस्तानी एकेडेमी का उद्देश हिंदी और उर्दू साहित्य की रक्षा, वृद्धि तथा उन्नति करना है। इस उद्देश की सिद्धि के लिए वह

(क) भिन्न भिन्न विषयों की उच्च कोटि की पुस्तकों पर पुरस्कार देगी।

(ख) पारिश्रमिक देकर या अन्यथा दूसरी भाषाओं के ग्रंथों के अनुवाद प्रकाशित करेगी।

(ग) विश्व-विद्यालयों या अन्य साहित्यिक संस्थाओं को रुपये की सहायता देकर मौलिक साहित्य या अनुवादों को प्रकाशित करने के लिये उत्साहित करेगी।

(घ) प्रसिद्ध लेखकों और विद्वानों को एकेडेमी का फ़ेलो चुनेगी।

(ङ) एकेडेमी के उपकारकों को सम्मानित फ़ेलो चुनेगी।

(च) एक पुस्तकालय की स्थापना और उस का संचालन करेगी।

(छ) प्रतिष्ठित विद्वानों के व्याख्यानों का प्रबंध करेगी।

(ज) ऊपर कहे हुए उद्देश की सिद्धि के लिए और जो जो उपाय आवश्यक होंगे उन्हें व्यवहार में लाएगी।

हिंदुस्तानी

हिंदुस्तानी एकेडेमी की तिमाही पत्रिका

भाग ३ | जनवरी, १९३२ | अंक १

कबीर साहब की साखी

[१]

[लेखक—श्रीयुत परशुराम चतुर्वेदी, एम० ए०, एल्-एल्० बी०]

साखी शब्द संस्कृत 'साक्षी' का अन्यतम रूप है और इस का मूल अर्थ है "वह पुरुष जिस ने किसी वस्तु अथवा घटना को अपनी आँखों देखा हो"। ऐसे साक्षात् अनुभव द्वारा ही किसी वस्तु अथवा घटना का यथार्थ ज्ञान होना संभव है, जिस कारण साक्षी या साखी शब्द से अभिप्राय प्रायः उस पुरुष से हुआ करता है जो उक्त विषय पर कोई विवाद खड़ा होने पर, निर्णय करते समय प्रमाणस्वरूप समझा जा सके। संतों की सिद्धांतमयी 'बानियों' के लिए, जान पड़ता है, साखी शब्द इसी अर्थ में व्यवहृत हुआ है क्योंकि इन साखियों की ओर हमारा ध्यान बहुधा ऐसे अवसरों पर ही विशेष रूप से जाना संभव है जब कि हमारे दैनिक जीवन में कभी कभी नैतिक, आध्यात्मिक अथवा व्यावहारिक विषयों की उलझनें सामने आ जाती हैं और भ्रम अथवा संदेह के अंधकार को दूर करने के लिए हमें ज्ञान के आलोक की आवश्यकता पड़ती है। साखियाँ ऐसे समय हमें सच्चा मार्ग सुझाती हैं जिस का अनुसरण

कर हम अपने कल्याण की ओर अग्रसर हो सकते हैं। साखियों का महत्त्व दर्शाते हुए 'बीजक के अंतिम दोहे में भी कहा गया है—

साखी आँखी ज्ञान की, समुझि देखु मन माहिं।
बिनु साखी संसार का, झगरा छूटत नाहिं[1] ॥३५३॥

अर्थात यदि भली भाँति विचार कर देखा जाय तो साखियाँ वास्तव में ज्ञान-चक्षु का काम देती हैं क्योंकि साक्षी पुरुष के समान तत्त्वनिर्णायक मान कर इन के द्वारा, यदि हम चाहें तो अपना भव-बंधन तक छुड़ाने में समर्थ हो सकते हैं।

साखी रचना की परंपरा कबीर साहब के समय (अर्थात सन १३९९-१५१८ ई०) से भी अधिक प्राचीन है और कहा जाता है कि बाबा गोरखनाथ (संभवतः सन ११५०-१२४० ई०) ने भी कई साखियों की रचना की थी जिन में से कुछ के संग्रह "गोरखनाथ की बानी" तथा "जोगेश्वरी साखी" नामक ग्रंथों में इस समय भी पाए जाते हैं।[2] बाबा गोरखनाथ तथा उन के समसामयिक अथवा उन के नाथ-पंथी शिष्यों की रचनाएं अभी पर्याप्त रूप में उपलब्ध नहीं हो सकी हैं अन्यथा, संभव है कि, हमें साखी कहलाने योग्य बहुत से अन्य तात्कालीन पद्यों का भी पता चल सके। स्वयं कबीर साहब के ग्रंथों के भी पढ़ने से विदित होता है कि उन के समय में पदों, साखियों एवं दोहरों के बनाने अथवा कहने की प्रथा प्रचलित थी, जैसे—

पद गाएँ मन हरषिया, साखी कह्याँ अनंद।
सो तत नाव न जाणिया, गल मैं पड़िया फंध[3] ॥३७२॥

तथा, साखी कहैं गहै नहीं, चाल चली नहिं जाय।
सलिल मोह नदिया बहै, पाँव नहीं ठहराय[4] ॥७९॥

[1] 'बीजक' (बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग), पृ० ११६।

[2] 'हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण', पृ० ३१, ७९ व १४८।

[3] 'कबीर-ग्रंथावली' (नागरीप्रचारिणी सभा, काशी), पृ० ३८।

[4] 'बीजक' (बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग), पृ० ९५।

और, दोहरा कथि कहैं कबीर, प्रतिदिन समय जो देखि।
मुये गये नहि बाहुरे, बहुरि न आये फेरि[1] ॥ ३२० ॥

अथवा, हरि जी यहै बिचारिया, साखी कहौ कबीर।
भौसागर मै जीव हैं, जे कोइ पकड़ै तीर[2] ॥ ५५० ॥

और कबीर ने अपने समय की चाल के अनुसार ही अपनी साखियों की रचना की। इन के पूर्ववर्ती नामदेव तथा समसामयिक रैदास के भी क्रमशः "नामदेव की साखी" तथा "रैदास की साखी तथा पद" नामक दो ग्रंथ मिलते हैं और उन के परवर्ती नानक, दादू आदि कई संतों ने भी, जान पड़ता है, उसी नियम का अनुसरण किया है। परंतु कबीर साहब की साखियाँ उन की अन्य रचनाओं की ही भाँति इन सब से अधिक प्रसिद्ध हैं।

कबीर साहब की साखियों के कई भिन्न भिन्न संग्रह देखने में आते हैं। "बीजक" के पूर्वांश मे दी गई ८४ रमैनियों मे से ७६ के साथ एक एक साखी है और अंत में फिर ३५३[3], ३६१[4], ३७९[5] अथवा ३८३[6] साखियों का एक अलग संग्रह भी वर्तमान है। ३७९ साखियों वाले संस्करण के अंत मे "परिशिष्ट साखी प्रकरण" नाम देकर उस के अंतर्गत ६१ और भी साखियाँ जोड़ी गई हैं और रेवरेंड अहमदशाह के संस्करण में रमैनियाँ और उन के साथ वाली साखियाँ नहीं हैं बल्कि प्रायः अंत मे ४४५ साखियाँ ही दे दी गई हैं। "बीजक" के अधिक साखियों वाले संस्करण में इस प्रकार कुल मिला कर

---

[1] 'बीजक' (बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग), पृ० ३२० ।

[2] 'कबीर ग्रंथावली', पृ० ५६ ।

[3] 'बीजक' (बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग), पृ० ८९-११६ ।

[4] 'बीजक सटीक' (नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ), पृ० ५२०-६५७ ।

[5] 'बीजक सटीक' (पो० फतुहा जि० पटना वाला संस्करण), पृ० १८४-४५८ व ४५९-४८२ ।

[6] 'बीजक सटीक' (वेङ्कटेश्वर प्रेस, बंबई) ।

अधिक से अधिक ७१० साखियाँ मिलती हैं। इधर "कबीर ग्रंथावली"[1] में संगृहीत साखियों की संख्या ८०९ दिखलाई गई है, १९२ साखियाँ उस की पाद-टिप्पणी में हैं और परिशिष्ट भाग में फिर १९२ ऐसी भी साखियाँ संगृहीत हैं जो सिक्ख संप्रदाय के धर्मग्रंथ "ग्रंथसाहब" में तो आती हैं किंतु उपरोक्त साखियों के अंतर्गत नहीं पाई जातीं। इस प्रकार 'ग्रंथावली' की साखियों की संख्या ११३४ तक पहुँचती है। प्रयाग के "बेलवेडियर प्रेस" द्वारा प्रकाशित "कबीर साहिब का साखी संग्रह"[2] नामक ग्रंथ के दोनों भागों की साखियों का योग इसी प्रकार २१२८ होता है और साखियों के विषय में लिखते हुए "कबीरवचनावली"[3] के संग्रहकर्त्ता पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय "हरिऔध" ने यहाँ तक लिखा है कि "इस में पाँच सहस्र दोहे हैं जो साखी नाम से पंथ में पुकारे जाते हैं।" परंतु कबीर साहब की साखियों की इतनी बड़ी संख्या आज तक कदाचित् किसी भी संग्रह में नहीं पाई जाती। संभव है साखियों की यह संख्या भी उसी प्रकार अत्युक्तिपूर्ण हो जिस प्रकार कबीर साहब की रमैनियों की संख्या "सहस छानबे औ छव लाखा" है। साखियों के अनेक छोटे छोटे संग्रहों में से 'कबीर परिचय की साखी', 'साखियाँ', 'दोहे', 'भक्ति का अंग', 'पिया पहचानने का अंग', 'साधु को अंग', 'सतसंग को अंग', 'सोरठा', 'कबीर जी की साखी' आदि कुछ पुस्तकों[4] में गिनाए गए हैं और इन में से बहुतों की हस्तलिखित प्रतियाँ भी पाई गई हैं। इन के सिवाय

[1] 'कबीर ग्रंथावली' (काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा), पृ० १-८६ व २४९-२६३।

[2] 'कबीर साहब का साखी संग्रह' (बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग), १-१९०।

[3] 'कबीरवचनावली' (काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा), पृ० ३३-३४ व पृ० १११।

[4] 'हिंदी नवरत्न' (गंगा-पुस्तक-माला कार्यालय, लखनऊ), द्वितीय संस्करण पृ० ४५१-२ तथा 'हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण', प्रथम भाग, पृ० १८-१९।

उपरोक्त 'बचनावली' में किसी "चौरासी अंग की साखी" नामक एक प्राचीन हस्तलिखित हिंदी पुस्तक का भी वर्णन आया है।

उपरोक्त संग्रहों की साखियों का आपस में मिलान करने पर विदित होता है कि "कबीर ग्रंथावली" तथा उस की पाद-टिप्पणी की प्रायः ४५० साखियाँ उसी रूप में अथवा केवल थोड़े से ही फेरफार के साथ "कबीर साहब का साखी संग्रह" में भी वर्तमान हैं और उसी प्रकार उन में से प्रायः ७०-८० साखियाँ "बीजक" की साखियों के अंतर्गत भी आती हैं। 'ग्रंथावली' के परिशिष्ट की १९२ साखियों में से भी प्रायः ५० ऐसी हैं जिन में और 'ग्रंथावली' की वैसी ही साखियों में केवल थोड़ा सा ही अंतर है।[१] अतएव उपरोक्त संग्रहों में दी हुई साखियों की संख्या के ही आधार पर कबीर साहब की कुल साखियों का वास्तविक परिमाण बतलाना भ्रमात्मक जान पड़ता है। जब तक सभी प्राचीन संग्रह एकत्रित न किए जायँ और उनमें आई हुई साखियों की छान-बीन सावधानी के साथ न कर ली जाय तब तक यह कहना बहुत कठिन है कि सब मिला कर ऐसी साखियाँ कितनी होती हैं और उन में से भी हम किन किन को कबीर साहब की रचना, निर्विवाद रूप से, मान सकते हैं। संभव है कि असली साखियों की लोक-प्रियता के कारण उनकी नक़ल में वैसी ही अन्य साखियों का भी निर्माण बराबर होता रहा हो और यह भी हो सकता है कि इस के साथ ही भिन्न भिन्न संग्रहकर्ताओं ने केवल भ्रमवश अनेक साखियों को कबीर साहब की रचना समझ कर, उन्हें असावधानी के कारण, अपने अपने संग्रहों में सम्मिलित कर लिया हो।

प्राप्त संग्रहों में से काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित "कबीर ग्रंथावली" की साखियों को ५९ अंगों अथवा छोटे बड़े शीर्षकों के अंतर्गत

---

[१] इसके सिवाय "साखी संग्रह" में कुछ पद्य दोबारा संगृहीत हैं तथा "ग्रंथावली" के ही लगभग आधे दर्जन पद्य, थोड़े से ही अंतर के साथ, मूल अथवा पाद टिप्पणी में दोबारा आ गए हैं।

विभक्त किया गया है। ऐसे अंगों अथवा खंडों की संख्या बहुत से लोग ८४ बतलाते हैं और कहते हैं कि पहले पहल कबीर साहब ने अपनी साखियों की रचना ८४ ही अंगों में की थी। परंतु इस का कोई स्पष्ट कारण नहीं दीख पड़ता क्योंकि "बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग" द्वारा प्रकाशित "साखी-संग्रह" में जो ८४ अंग दिए गए हैं उन में से कई ऐसे हैं जो अन्य अंगों में भी समाविष्ट किए जा सकते हैं। उदाहरण के लिए उक्त संग्रह के 'गुरुदेव', 'झूठा गुरु', 'गुरुमुख', 'मनमुख' और 'निगुरा' नामक पाँच अंगों के लिए केवल एक 'गुरुदेव का अंग' पर्याप्त हो सकता था और 'कबीर ग्रंथावली' में इन के स्थान पर केवल 'गुरुदेव को अंग' तथा 'गुरु शीष हेरा को अंग' नाम के दो अंग दिए गए हैं। इसी प्रकार कई अन्य अंगों के विषय में भी कहा जा सकता है। इस के साथ ही, यदि ध्यान पूर्वक देखा जाय तो, "कबीर ग्रंथावली" के भी ५९ अंगों की संख्या कम की जा सकती है इस लिए इन साखियों के शीर्षकों की संख्या ८४ अथवा ५९ तब तक नहीं मानी जा सकती जब तक इस के लिए कोई प्राचीन प्रामाणिक आधार न मिल जाय। 'अंग' का शाब्दिक अर्थ किसी वस्तु अथवा शरीर का भाग या अवयव होता है। इस कारण साखियों को यदि हम साखीरूप किसी पुरुष का शरीर समझ कर उन के अंगों की संख्या निर्धारित करें तो भी उसे ५९ अथवा ८४ करना उचित न होगा। मुझे तो साखियों के ये अंग वास्तव में वे विषय जान पड़ते हैं जिन पर कबीर साहब ने समय समय पर अपने विचार प्रकट किए होंगे अथवा जिन के अंतर्गत उन के ही समय से या पीछे से उन के शिष्यों अथवा अनुयायियों ने उन के समय समय पर प्रकट किए गए विचारों को संगृहीत किया होगा। स्वयं कबीर साहब ने भी नीचे लिखी साखी में 'अंग' शब्द का व्यवहार 'लक्षण' के अर्थ में किया है। जैसे—

निरवैरी निहकामता, साँई सेती नेह।
विषिया सूं न्यारा रहै, संतनि का अंग एह[1] ॥ ४९४ ॥

[1] 'कबीर ग्रंथावली' (काशी नागरी-प्रचारिणी सभा), पृ० ५० ।

अर्थात् निर्वैर एवं निष्काम रह कर परमात्मा से प्रेम करना और सांसारिक विषयों से निर्लिप्त रहना, यही लक्षण संतों के हैं। ऐसी दशा में उन को संख्या को निश्चित कर देना केवल अनुमान मात्र पर ही आश्रित कहा जा सकता है। ८४ वाली संख्या, संभव है, 'बीजक' की ८४ रमैनियों के अनुसार भी निर्धारित की गई हो अथवा इन दोनों में ८४, चौरासी लाख योनि या अन्य किसी ऐसे संकेत के विचार से, मान लिया गया हो।

जो हो, 'कबीर ग्रंथावली' के अंतर्गत आई हुई साखियों को वर्तमान स्थिति में उन के अंगों के अनुसार हम निम्नलिखित आठ शीर्षकों के भीतर ला सकते हैं:—

(१) नियम—१३ मन को अंग, १६ माया कौ अंग, ४६ काल कौ अंग और ५८ वेली कौ अंग;

(२) मानवी स्वभाव—१७ चांणक कौ अंग, २० कामी नर कौ अंग, २५ कुसंगति कौ अंग, ३९ कुसबद कौ अंग, ४८ अपारिष कौ अंग, ५३ कस्तूरिया मृग कौ अंग, ५४ निद्या कौ अंग और निगुणां कौ अंग;

(३) पाखंड—१८ करणी बिना कथनी कौ अंग, १९ कथनी बिना करणी कौ अंग, २२ साच कौ अंग २३ भ्रम बिधौंसण कौ अंग, २४ भेष कौ अंग, २७ असाध कौ अंग और ४२ चित कपटी कौ अंग;

(४) गुरुदेव—१ गुरदेव कौ अंग और ४३ गुर सीष हेरा कौ अंग;

(५) परमात्म-परिचय—५ परचा कौ अंग, ७ लांबि कौ अंग, ८ जर्णां कौ अंग, ९ हैरान कौ अंग, १४ सूषिम मारग कौ अंग, १५ सूषिम जनम कौ अंग, ३३ बिचार कौ अंग, ३६ पीव पिछांणन कौ अंग,

३८ समथाई कौ अंग, ४० सबद कौ अंग, ४७ संजीवनी कौ अंग, ५० उपजणि कौ अंग, और ५९ अविहड़ कौ अंग;

(६) प्रेमाभक्ति—२ सुमिरण कौ अंग, ३ विरह कौ अंग, ४ ग्यान विरह कौ अंग, ६ रस कौ अंग, १० लै कौ अंग, ११ निहकरमी पतिव्रता कौ अंग, ३५ बेसास कौ अंग, ३७ निरंनाई कौ अंग, ४४ हेत प्रीति सनेह कौ अंग, ४५ सूरापन कौ अंग, और ५२ सुंदरि कौ अंग;

(७) आदर्श व्यवहार—२१ सहज कौ अंग, २६ संगति कौ अंग, २८ साध कौ अंग, २९ साध सापीभूत कौ अंग, ३० साध महिमा कौ अंग, ३१ मधि कौ अंग, ३२ सार ग्राही कौ अंग, ४१ जीवन मृतक कौ अंग, ४९ पारिप कौ अंग, ५१ दया निरवैरता कौ अंग और ५७ सापीभूत कौ अंग;

(८) उपदेश व विनय—१२ चितावणी कौ अंग, ३४ उपदेश कौ अंग, तथा ५६ वीनती कौ अंग।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि उपरोक्त प्रकार से अंगों को कति-बड़े शीर्षकों के अंतर्गत समाविष्ट कर देना भी विवाद से रहित नहीं कहा सकता क्योंकि विचार पूर्वक देखने पर एक शीर्षक के अंगों में आए अनेक पद्य दूसरे शीर्षक के अंगों में भी रखने योग्य समझे जा सकते हैं। शीर्षकों के अंतर्गत लाने के लिए बहुत से अंगों की दो चार साखियों र फार करना ही पड़ेगा।

[२]

उपरोक्त प्राप्त संग्रहों के अध्ययन से पता चलता है कि कबीर साहब ऊपर जिस बात का सब से अधिक प्रभाव पड़ा था वह संसार की अन-ता है। संसार की कोई भी वस्तु चिरस्थायी नहीं और हमारा अपना

जीवन तक क्षण भंगुर है इस नियम को उन्होंने भली भाँति समझ लिया था। उन के अनुसार हमें अपने जीवन में यह बात सदा देखने को मिलती है कि—

जो ऊग्या सो आँथवै, फूल्या सो कुम्हिलाइ।
जो चिणियां सो ढहि पड़ै, जो आया सो जाइ[1] ॥ ७०४ ॥

अर्थात् जो उदय लेता है वह अस्त होता है, जो फूलता है वह कुम्हला जाता है, जो मंदिर आदि चुनकर उठाए जाते हैं वे गिर पड़ते हैं और जो आता है वह चला जाता है। और,

जिनि हम जाए ते मुए, हम भी चालण हार।
जे हमको आगै मिले, तिनभी बंध्या भार[2] ॥ ७२५ ॥

अर्थात् जिन्होंने हमें उत्पन्न किया था वे मर गए और हम भी जाने ही वाले हैं और जो हमें आगे मिल रहे हैं उन की भी गठरी बँधी हुई ही जान पड़ती है। यह काल-चक्र का सर्वव्यापक नियम है जिसे अधिक स्पष्ट करने के लिए उन्हों ने कई सुंदर सुंदर अन्योक्तियों एवं रूपकों का भी सहारा लिया है। कबीर साहब को इस करुणा-पूर्ण दशा के सामने संसारी लोगों का आँखें मूँद कर, निश्चित भाव के साथ, व्यवहार करते जाना निरा हास्य-जनक जान पड़ता है। वे कहते हैं कि मनुष्य जिस सुख को सुख समझता है वह नितांत असत्य है, तो भी वह इसी झूठे सुख के फेर में नित्यशः मारा मारा फिरता है और व्यर्थ के भ्रम में पड़कर अपना सारा जीवन नष्ट कर देता है। या तो वह कामी बन कर किसी सुंदरी के साथ यावज्जीवन भोग विलास करने की लालसा करता है अथवा अपने जीवन के प्रत्येक अवसर को, एक स्वर्ण संयोग न समझ कर, उस के महत्त्व का तिरस्कार करते हुए, उसे बुरे लोगों की संगति में खो देता है। वास्तव में अज्ञान के कारण यह बात उस की समझ में नहीं आती कि सच्चे सुख का स्रोत, यदि देखा जाय तो, हमारे भीतर ही वर्तमान है

[1] 'कबीर ग्रंथावली' (का० ना० प्र० सभा), पृ० ७२।

[2] वही, पृ० ७१।

और कस्तूरी वाले मृग की भाँति हम इधर उधर उस की खोज में व्यर्थ ही भटका करते हैं। और कभी कभी तो वह जान बूझ कर भी ऐसा करता दीखता है। वह मानो अनेक छोटे बड़े ग्रंथों को पढ़ कर दिन रात दूसरों को उपदेश दिया करता है और स्वयं अपना जीवन तक न सँभालते हुए उन्हीं ग्रंथों की ही आड़ में, दूसरों से अनेक कुकर्म करा देता है अथवा ऊपर से बड़े बड़े ज्ञानियों का भेष धारण कर के भीतर ही भीतर संसार को धोखा देने से भी नहीं चूकता। ऐसे ऐसे मूर्खों तथा पाखंडियों से संसार को भरा हुआ पाकर कबीर साहब अत्यंत दुःख भी प्रकट करते हैं और उस दुरवस्था को भली भाँति सुझा कर सर्वसाधारण को सन्मार्ग पर लाने की चेष्टा करना ही वास्तव में उन के कुल उपदेशों का सार जान पड़ता है। कबीर साहब इस बात पर सदा जोर देते रहने से कभी नहीं चूकते।

परंतु आश्चर्य की बात तो यह है कि उपरोक्त दुरवस्था लाख सुझाये जाने पर भी नहीं सूझा करती क्योंकि वास्तव में मनुष्य के दैनिक व्यवहार कतिपय ऐसे दृढ़ नियमों से प्रभावित होते हैं जिन का तोड़ना उस के लिए बहुत ही कठिन है। कबीर साहब का कहना है कि पहला नियम तो 'मोहनी' माया के जाल का पसारा है जो संसार में सब कहीं वर्तमान है और जिस के बंधन से छूट जाना हमारे लिए असंभव के समान है। माया पापिनी या तो संसार के हाट में 'स्वाद' ठग के सहारे अपनी मनो-मोहक सामग्रियाँ हाथों हाथ बेचा करती है, जिस की ओर एक बार भी आकृष्ट होने पर, हम अपना लोभ किसी प्रकार भी संवरण नहीं कर सकते अथवा अपने प्रतिक्षण के संसर्ग द्वारा विविध भाँति का बढ़ावा दे कर हमारे ऊपर एक ऐसे अहंकार की मादकता चढ़ा देती है जिसे दूर करना हमारे लिए अत्यंत दुष्कर कार्य हो जाता है। माया की उलझन को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि—

बाड़ि चढ़ंती बेलि ज्यूं, उलझी आसा फंध।
टूटै पणि छूटै नहीं, भई ज बाचा बंध[1] ॥ ३० ॥

[1] 'कबीर ग्रंथावली' (का० ना० प्र० सभा) पृ० ३४ ॥

अर्थात माया की शक्तियों द्वारा सींचा हुई आशालता का फंदा मनुष्य के ऊपर इस प्रकार अपना प्रभाव जमा लेता है कि, घर के छप्पर पर चढ़ी हुई बेलि के समान, हटा कर दूर किए जाते समय भी कई बार टूट टूट तक जाता है परंतु छूटने का नाम तक नहीं लेता। इस माया के बंधन में पड़ कर सारा संसार जल रहा है क्योंकि कबीर साहब का कहना है कि—

माया की झल जग जल्या, कनक कामिणीं लागि।
कहुँधौं किहि विधि राखिये, रुई पलेटी आगि[1] ॥३४६॥

अर्थात् कनक और कामिनी अथवा मनो-मोहक विषयों के पीछे सारा संसार माया की ज्वाला में भस्मीभूत हो रहा है और इसे उस से बचा लेना उतना ही कठिन है जितना रुई में लपेटे हुए अंगारे को अपने पास रख कर उस से बचने की आशा करना। भावार्थ यह है कि जिस प्रकार आग के किसी टुकड़े को रुई में लपेट कर रखने पर बाहर से एक क्षण के लिए सुखदायक सा जान पड़ता है किंतु शीघ्र ही भीतर की आग, रुई को अपना अंग बना कर रखने वाले को भी जलाने लगती है उसी प्रकार विषय के सभी सामान अनुभव करते समय ऊपर से क्षण भर के लिए तो सुखदायक प्रतीत होते हैं, किंतु उन का वास्तविक रहस्य तब खुलता है जब माया की शक्ति, उन के कारण, और भी प्रबल हो उठती है और अंत में मनुष्य अपने को उस के प्रभाव से पूर्णतया अभिभूत पाता है। दूसरा नियम यह है कि बाहर की इस लुभावनी परिस्थिति के साथ साथ अपने भीतर वर्तमान मन की मनमानी चालें हमें सदा दुष्कर्मों में प्रवृत्त होने के लिए विवश किया करती हैं। वास्तव में मन के नियम ही कुछ अनियमित से हैं। एक तो यह मन स्वयं—

पाँणीं ही तैं पातला, धूवाँ ही तैं झींण।
पवनां बेगि उतावला, सो दोस्त कबीरैं कीन्ह[2] ॥२७४॥

[1]'कबीर ग्रंथावली' (का० ना० प्र० सभा), पृ० ३५।

[2]वही, पृ० २९।

अर्थात पानी से भी पतला एवं तरल है और आग से भी झीना अथवा सूक्ष्म है तथा वायु से भी अधिक शीघ्रता के साथ इधर उधर दौड़ने वाला है। दूसरे यह अपनी दशाओं में सतत परिवर्तन भी करता रहता है। इन कारणों से मन की प्रवृत्तियाँ माया के प्रभाव से किसी प्रकार भी कम शक्तिदायक नहीं समझी जा सकती। फिर सदा एक नियम से चलती रहने वाली कभी नियमों से जकड़ी हुई संसार की परंपरा भी एक तीसरी वस्तु है जो मन और माया इन दोनों के ही समान इसे बराबर प्रभावित किए रहती है। कबीर साहब के अनुसार इन उपरोक्त तीनों कारणों से मनुष्य अपने आप को सँभाल नहीं पाता और इन की दृढ़ता इतनी प्रबल बनी रहती है कि उसे क्षणमात्र के लिए सोचने का भी अवसर नहीं देती।

इन उपरोक्त नियमों के प्रभाव में पड़ कर ही मनुष्य अज्ञानवश अपने हित अनहित की पहचान नहीं कर पाता और न उसे सर्वव्यापी काल-चक्र की अमोघ शक्तियों का ही पता लगता है। सांसारिक जीवन, इस प्रकार दूषित वायु-मंडल से परिपूर्ण है और मनुष्य उस में सदा निराधार और निःसहाय डोलता फिर रहा है। उसे ऐसी स्थिति में भी सँभाल कर ले चलने वाला एवं उक्त झंझटों से उसे उबारने वाला, कबीर साहब के अनुसार, एक सद्गुरु के सिवाय दूसरा कोई नहीं है। सद्गुरु ही सब से अधिक आत्मीय है। माया-रूपी दीपक के आकर्षण में आ कर मनुष्य पतंग के समान अपने को समर्पित कर देता है और उस की रक्षा, यदि होती है तो, गुरु की कृपा से ही होती है। संदेह और अविश्वास सारे संसार को खाए डालता है, उसे कोई नहीं खा पाता, परंतु जिन्हें सद्गुरु की कृपा से ज्ञान-प्राप्ति हो जाती है वे संशय को भी निर्मूल कर देते हैं। वास्तव में गुरु और गोविंद दोनों एक ही हैं। सद्गुरु मनुष्य को देवता तक बना सकता है। उस के सुंदर उपदेशों का बाण सदा अचूक हो कर लगा करता है और हमारे मर्मस्थल तक पहुँचे बिना नहीं रहता। उस के प्रभाव द्वारा प्रेम के बादल उमड़ आते हैं और ऐसी सुधावृष्टि होती है कि सारे अंग, रोम रोम तक, भीग जाते हैं। योग्य अधिकारी अथवा शिष्य के लिए गुरु की कृपा द्वारा कोई भी वस्तु असंभव

नहीं। यदि शिष्य तन, मन आदि सर्वस्व समर्पण कर के मृग की भाँति 'बधिक' गुरु के मनोमोहक संगीतमय उपदेशों को एकचित्त हो श्रवण करने पर उद्यत हो जाय तो उसे अगम पद तक की प्राप्ति हो सकती है। इस मे कोई भी संदेह नहीं।

इस अगम पद अथवा अंतिम श्रेय की प्राप्ति होने पर जो मनुष्य को अनुभव हो सकता है उसे कबीर साहब ने बड़े अनोखे ढंग से वर्णन किया है। वे कहते हैं कि उस अनंत का तेज अपूर्व है। उस का वर्णन क्या अनुमान तक भी नहीं हो सकता। वह शोभा कहने को वस्तु नहीं, देखने ही बनती है। इस कारण उस का दिग्दर्शन उस के अनुभवी को विचित्र दशा के वर्णन द्वारा ही थोड़ा बहुत कराया जा सकता है। उस के अनुभवी की भी दशा की विचित्रता का अनुमान इसी में लगाया जा सकता है कि वास्तव में यदि विचार किया जाय तो अनुभव के उपरांत अनुभवी का कोई अस्तित्व ही नहीं रह जाता। जैसे—

जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि है हम नाहि।
सब अंधियारा मिटि गया, जब दीपक देख्या माहि[1] ॥१५७॥

अर्थात् जिस प्रकार अंधकार के कारण किसी वस्तु का अस्तित्व न रहते हुए भी हम भ्रमवश उसे अपने निकट अनुमान कर लिया करते हैं और प्रकाश का सहारा पाते ही, वास्तविक स्थिति का पता चलने पर हमें अपने भ्रम का अनुभव होता है उसी प्रकार पहले अज्ञानवश हम एक अर्थात् परमात्मा के स्थान पर दो अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा दोनों का अस्तित्व समझा करते हैं और जब ज्ञान का प्रकाश होता है तो जान पड़ता है कि वास्तव में दो नहीं बल्कि एक परमात्मा ही परमात्मा है और हमने आज तक जो समझ रक्खा था वह मिथ्या भ्रम था। ठीक भी है, क्योंकि—

पाणी ही तैं हिम भया, हिम ह्वै गया बिलाइ।
जो कुछ था सोई भया, अब कछु कह्या न जाइ[2] ॥१३९॥

---

[1] 'कबीर ग्रंथावली' (का० ना० प्र० सभा), पृ० १५।

[2] वही, पृ० १३।

अर्थात् इस प्रकार पानी से बर्फ़ बन कर फिर उस का पानी में हो परिणत हो जाना है अथवा जो कुछ पहले था वही फिर हो जाता है और उसे 'मूल वस्तु का जैसे का तैसा रह जाना' छोड़ कर हम दूसरा नहीं कह सके उसी प्रकार हम अपने अनुभव का भी कोई भिन्न वर्णन करना असंभव सा है। कबीर साहब ने इसी बात को एक स्थान पर इस ढंग से भी कहा है कि

हेरत हेरत हे सखी, रह्या कबीर हिराइ।
बूँद समानी समुद में, सो कत हेरी जाइ[1] ॥१७॥

अर्थात् परमात्मा की जिज्ञासा करते करते उस की खोज में स्वयं मैं ने अपने को खो दिया और मेरी दशा अब ऐसी हो गई जैसे समुद्र की खोज में अपने को पूर्णरूपेण मिटा देने वाली एक बूँद की हुआ करती है। ऐसी स्थिति में भला मेरा पता कौन लगा सकता है?

परन्तु इस स्थिति को प्राप्त होना भी सर्वसाधारण के लिए एक महा विकट प्रश्न है। यह वह अवस्था है जहाँ पहुँचने वाली राह तक एकदम सँकरी और रपटीली है और जहाँ तक चींटी के चढ़ने की अथवा जहाँ पर राई के रखने की बात कौन कहे जहाँ पहुँचने में सूक्ष्म पवन अथवा मन तक की शक्ति कुंठित हो जाती है। वहाँ तक जाने का साहस केवल उसी को हो सकता है जिस में कबीर साहब के अनुसार कतिपय अपूर्व गुणों का संयोग हो। एक तो उस की मनोवृत्ति पर पूर्णविश्वास का पक्का रंग होना चाहिए जिस के प्रभाव में आ कर वह अपना सर्वस्व न्योछावर अथवा असंदिग्ध आत्मसमर्पण कर सके तथा अपनी टेक पर इस प्रकार अटल रहे और उस के लिये इतना निर्भय बना रहे की अवसर पड़ने पर अपने प्राणों तक की बाजी लगाने में उसे एक सच्चे आनंद का ही अनुभव हो। अपनी मनोवृत्ति को इस प्रकार भली भाँति दृढ़ कर लेने पर ही उसे उस अलौकिक प्रेम का आभास मिल सकता है जो कबीर साहब की आदर्श स्थिति का एकमात्र आधार है। निर्भयता की दशा को स्पष्ट करने के लिए उन्हों ने बहुत से अनूठे पद्यों की

[1] 'कबीर ग्रंथावली' (का० ना० प्र० सभा), पृ० १७।

रचना की है और प्रेम तथा विरहावस्था को प्रकट करने के लिए इन्हों ने जैसे पद्य रचे हैं वैसे विरले कवियों ने ही कभी लिखे हों। वे कहते हैं—

जिस मरने से जग डरै, सो मेरे आनंद।
कब मरिहूँ कब देखिहूँ पूरन परमानंद॥ ६६५॥

तथा, सत कंठी कोपीन है साध न मानै संक।
राम अमलि माता रहै, गिणै इन्द्र कौं रंक॥ ५९२॥

अथवा, बिरहा बुरा जिनि कहौ, बिरहा है सुलितान।
जिस घट बिरह न संचरै सो घट सदा मसान॥ ८८॥

और, फाड़ि फुटोला धज करौं, कामलड़ी पहिराउँ।
जिहि जिहि भेषा हरि मिलै, सोइ सोइ भेष कराउँ॥ १०८॥
नैना अंतरि आव तूँ, ज्यूँ हौं नयन झँपेउँ।
नाँ हौं देखौं और कूँ, ना तुझ देखन देउँ॥ १८४॥
मेरा मुझ में कुछ नहीं, जो कुछ है सो तेरा।
तेरा तुझ को सौंपता, क्या लागै है मेरा[1]॥१८५॥

ऐसी मनोवृत्ति के स्वभाव से परिणत होने पर हम उस सहज दशा को प्राप्त होते हैं जिसे कबीर साहब ने जीवन्मुक्त की अवस्था माना है। जीवन्मुक्त की अवस्था में मनुष्य का दैनिक व्यवहार किस प्रकार का हो जाता है उसे कबीर साहब ने अनेक पद्यों में स्पष्ट किया है। वे कहते हैं कि जीवन्मुक्त अथवा संत सदा निर्वैर, निष्काम और विषयादि से निर्लिप्त रहा करता है। वह हंस के समान सदा सारग्राही एवं सत्य-परीक्षक होता है तथा आत्मानंद के कारण अनासक्ति-पूर्वक संसार के सारे आवश्यक व्यवहारों में समुचित भाग लेता रहता है। इस प्रकार अपने को खो कर निर्द्वंद होने का ही परिणाम होता है कि—

कबीर मन मृतक भया, दुरबल भया सरीर।
तब पैंडे लागा हरि फिरै, कहत कबीर कबीर[2]॥ ६२०॥

[1] 'कबीर ग्रंथावली' (का० ना० प्र० सभा), पृ० ६५, ६१, ९, ११, १९।
[2] वही, पृ० ६४।

[३]

कबीर साहब की प्रामाणिक रचनाओं में हमें कुछ ऐसे भी पद्य मिलते हैं जिन्हें हम एक ढंग से आत्मपरिचयात्मक कह सकते हैं। उदाहरण के लिए 'कबीर ग्रंथावली' के परिशिष्ट प्रकरण से आए हुए नीचे लिखे दोहे लिए जा सकते हैं—

कबीर मेरी जाति कौं, सब कोइ हँसणेंहार।
बलिहारी इस जाति कौं, जिहि जपियौ सिरजनहार॥ ११९॥
जाति जुलाहा क्या करै, हिरदै बसे गुपाल।
कबीर रमइया कंठ मिल, चूकहिं सब जंजाल[1]॥ ५५॥

जिस से इस बात का कुछ पता चलता है कि कबीर साहब की उत्पत्ति एक ऐसी जाति में हुई थी जिसे सब कोई निकृष्ट समझा करते थे और वह जाति संभवतः जुलाहों की ही थी। उक्त 'ग्रंथावली' के मूल भाग में भी एक स्थान पर "कबीर जुलाहा भया पारखू, अनभै उतरया पार" रूप में यह बात देखने को मिलती है। उक्त 'ग्रंथावली' की ही पाद-टिप्पणी में एक स्थान पर यह भी मिलता है कि—

मेरी बोली पूरबी, ताहि न चीन्हैं कोइ।
मेरी बोली सो लखै, जो पूरब का होइ[2]॥ ५॥

जिस से, यदि पूरब शब्द का अर्थ किसी आध्यात्मिक दृष्टि से न किया जाय तो स्पष्ट जान पड़ता है कि कबीर साहब किसी पूर्व देश के ही रहने वाले थे और उन्हें पश्चिम के देशों में जा कर उपदेशादि देते समय, अपनी पूर्वी बोली के कारण बहुधा कुछ कठिनाई पड़ा करती थी। इसी प्रकार बीजक के एक दोहे, अर्थात्—

मसि कागद छूवों नहीं, कलम गहौं नहिं हाथ।
चारिउ जुग के महात्मा, कबीर मुखहि जनाई बात[3]॥ १८७॥

[1] 'कबीर ग्रंथावली' (का० ना० प्र० सभा), पृ० २५८, २५२।
[2] वही, पृ० १६।
[3] बीजक (बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग), पृ० १०३।

से यह भी विदित होता है कि कबीर साहब कदाचित् पढ़ना लिखना तक नहीं जानते थे और जो कुछ रचनाएँ उन की देखने में आती हैं वे सब उन के मौखिक उपदेश मात्र हैं। कबीर साहब की एक साखी अर्थात्—

जदि का माइ जनमियो, कहूँ न पाया सुख।
डाली डाली मैं फिरौ, पातौं पातौं दुख[1] ॥ ६०५ ॥

से यह भी प्रकट होता है कि कम से कम उन का प्रारंभिक जीवन-काल अधिकतर कष्टमय ही रहा और सांसारिक ऐश्वर्यादि आनंददायक बातों से वे कदाचित् कोसों दूर रहे। इसी प्रकार नीचे लिखे एक पद्य में यह भी लक्षित होता है कि आत्मरहस्य की खोज में उन्हें बहुत भटकना भी पड़ा था और अंत में किसी पहुँचे हुए संत अथवा किन्हीं बड़े संतों की कृपा से ही उन्हें पूर्ण शांति मिल सकी—

कबीर बन बन मैं फिरा, कारणि अपणैं राम।
राम सरीखे जन मिले, तिन सारे सब काम[2] ॥ ४८५ ॥

कबीर साहब की इन साखियों के देखने से यह भी पता चलता है कि उन्हें वैष्णवों में पूरी श्रद्धा थी। उन्हों ने वैष्णवों की प्रशंसा कई बार भिन्न भिन्न प्रकार से की है। वे कहते हैं कि—

कबीर धनि ते सुंदरी, जिनि जाया बैस्नौं पूत।
राम सुमरि निरभै हुआ, सब जग गया अऊत[3] ॥ ५२१ ॥

अर्थात् उस माता को धन्य समझना चाहिए जिस ने वैष्णव पुत्र उत्पन्न किया हो क्योंकि ऐसा पुत्र राम को स्मरण करके निर्भय अथवा निश्चित हो जाता है। इस के विरुद्ध अर्थात् ऐसा पुत्र न उत्पन्न कर सकने के कारण संसार की अन्य स्त्रियों को अपुत्र अथवा बाँझ ही मानना उचित है। इसी प्रकार एक स्थान पर फिर कहते हैं कि—

[1] 'कबीर ग्रंथावली' (का० ना० प्र० सभा०), पृ० ६२।
[2] वही, पृ० ४९।
[3] वही, पृ० ५२।

चंदन की कुटकी भली ना बबूर का अँबराउ।
वैस्नों की छपरी भली, ना साषत का बड़गाँव[1] ॥ ११ ॥

अर्थात् बबूल के बड़े विस्तीर्ण बाग से चंदन की लकड़ी की एक छोटी सी टुकड़ी भी श्रेष्ठ होती है उसी प्रकार निगुरे अथवा शाक्त मतानुयायी लोगों के एक बड़े गाँव से भी वैष्णव की एक छोटी सी कुटिया कहीं श्रेष्ठ हुआ करती है। यही नहीं, उन का तो यहाँ तक कहना है कि निगुरा अथवा शाक्त मतानुयायी ब्राह्मण भी हो तो भी वह मुझे पसंद नहीं परंतु वैष्णव यदि चांडाल भी मिल जाय तो उस से मैं, स्वयं ईश्वर से मिलने के समान ही फूल कर मिलूँगा। उन्हीं के शब्दों में—

साषत ब्राह्मण जिनि मिलै, बैसनों मिलौ चंडाल।
अंक माल दे भेंटिए, मानूँ मिले गोपाल[2] ॥१६ पाद टिप्पणी॥

ऐसे ही एकाध और भी अवतरण इस विषय के दिए जा सकते हैं इसी प्रकार प्रसिद्ध योगी बाबा गोरखनाथ जी के प्रति भी कबीर साहब ने कई स्थलों पर सम्मान-सूचक शब्दों के ही प्रयोग किए हैं। जैसे—

मन गोरख मन गोविंदौ, मन ही औघड़ होइ[3]।

में गोरख और गोविंद अर्थात् ईश्वर को प्रायः समान श्रेणी में ही रक्खा है और इन दोनों की ही तुलना में औघड़ की निकृष्टता व्यंजित की है। इस के सिवाय—

झिलमिल झगरा झूलते, बाकी छुटै न काहु।
गोरख अटके कालपुर, कवन कहावै साहु[4] ॥ ५२ ॥

में कहा है कि 'झिलमिल' अर्थात् चंचल मन के झगड़े अर्थात् वासनाओं के कारण कर्म नियमानुकूल सभी को झूलना अथवा फँसना पड़ता है। इस से

[1] 'कबीर ग्रंथावली' (का० ना० प्र० स०), पृ० ५२।

[2] वही, पृ० २६।

[3] वही, पृ० २९।

[4] 'बीजक' (बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग), पृ० ९२।

आज तक कोई भी नहीं बचा और जब गोरखनाथ जैसे बड़े योगी तक को, कर्मबंधनों के कारण, इस 'कालपुर' अर्थात् संसार में अटकना अथवा उलझना पड़ा तो और दूसरे की क्या दशा हो सकती है। उन से बढ़ कर दूसरा कौन 'साहु' अथवा बड़ा है ?

कबीर साहब ने अपनी साखियों में शाक्त मतानुयायियों की निंदा जी खोल कर की है। उन के लिए 'साकत' अथवा 'सापत' शब्दों के प्रयोग हुए हैं जो वास्तव में एक ही शब्द 'शाक्त' के रूपांतर हैं। शाक्तों के प्रति दुर्भाव रखने का कारण कदाचित् उन के मांसादि का खाना तथा मद्यपान है क्योंकि एक स्थल पर वे इस प्रकार कहते हैं—

पापी पूजा बैसि करि, भखै मांस मद दोइ।
तिन की दष्या मुकति नहिं, कोटि नरक फल होइ ॥ ४२१ ॥
सकल बरण इकत्र ह्वै, सकति पूजि मिलि खाँहि।
हरि दासनि की भ्रांति करि, केवल जमपुर जाँहि[1] ॥ ४२२ ॥

अर्थात् ये शाक्त लोग सभी वर्णों के लोगों को इकट्ठा कर के शक्ति की पूजा करते हैं और उस पूजा पर ही बैठ कर मांस खाते तथा मदिरा पीते हैं। इन की तो मुक्ति हो ही नहीं सकती और ये अवश्य बाँध कर नरक भेजे जाते हैं। परंतु कबीर साहब ने इन हिंसावादी शाक्तों की ही भाँति अहिंसावादी जैनियों की भी हँसी उड़ाई है और आत्मतत्व का ज्ञान प्राप्त करने की अपेक्षा कोरी अहिंसा पद्धति को अपनाने के कारण, उन के विषय में कहते हैं कि—

पंडित भए सरावगी, पाणी पीवैं छाणि।

अर्थात् सरावगी अथवा श्रावक जैन मतानुयायी छान कर पानी पी लेने से ही अपने को पंडित समझ लिया करते हैं। इसी प्रकार मुस्लिम धर्मानुयायी काजी तथा मुल्ला लोगों की भी कबीर साहब ने निंदा की है और उन की नित्य क्रियाओं के संबंध में कहते हैं कि—

[1] 'कबीर ग्रंथावली' (का० ना० प्र० सभा), पृ० ४३, ३७।

यहु सब झूठी बंदिगी, बरियाँ पंच निवाज।
साँचै मारै झूठ पढ़ि, काजी करै अकाज[1] ॥ ४१३ ॥

अर्थात् मुसलमानों की बंदगी और अनिवार्य रूप से पाँच बार नमाज पढ़ना आदि सब व्यर्थ हैं क्योंकि भीतर सच्ची भावनाओं के न रहते हुए भी काजी ऊपर से झूठ-मूठ प्रार्थनाएँ किया करते हैं और दूसरों को धोखे में डाल कर लाभ पहुँचाने के बदले 'अकाज' अर्थात् हानि किया करते हैं। काजी मस्जिद पर चढ़ कर 'ईश्वर एक है' का रट लगाया करता है, परंतु उसी के अनुसार दुनिया के साथ साथ सदा चलने रहने में तत्पर नहीं रहता। हाथ में छुरी लेते ही 'बिस्मिल' में 'दीन' को भूल जाता है और जीवों के साथ जिबह करके अपने कर्म को हलाल अथवा धर्मोचित बतलाया करता है।

हिंदू धर्मानुयायियों के पाखंडों का भी वर्णन कबीर साहब ने कई स्थलों पर किया है और कोरे वेद शास्त्रादि के अध्ययन के भरोसे मुक्ति की चाह रखने वाले पंडितों का भी उसी प्रकार बुरा भला कहा है जिस प्रकार मुल्लाओं की निंदा की है। कबीर साहब के अनुसार तीर्थ, व्रत, मूर्ति-पूजा, भेष, जप और तिलकादि सभी भ्रम के कारण, अज्ञान-वश, किए जाते हैं, वास्तव में इन से कोई भी लाभ नहीं। ये सब दिखावे की बातें हैं और कबीर साहब कहते हैं कि चतुराई के साथ दूसरों को धोखे में डाल कर अपने को धर्मात्मा सिद्ध करने की चेष्टा करना निरी मूर्खता है, क्योंकि—

चतुराई हरि ना मिलै, ए बातां की बात।
एक निस्प्रेही निरधार का, गाहक गोपीनाथ[2] ॥ ७५८ ॥

अर्थात् सब बातों की एक बात तो यह है कि परमात्मा चतुराई के साथ चलने वाले को प्राप्त नहीं होता वह तो केवल उसी को चाहता है जो एकांत निस्पृही तथा निराधार हो, उसे भेष अथवा किसी प्रकार के बाह्यविधानों से कोई तात्पर्य नहीं। परंतु यह सब कुछ होते हुए भी कबीर साहब का झुकाव,

[1] कबीर ग्रंथावली (का० ना० प्र० सभा), पृ० ४२।

[2] वही, पृ० ४७।

धार्मिक दृष्टि से हिंदू धर्म का ही और अधिक ऋणी रहता है और न इस के अधिकांश उच्च दार्शनिक विचारों को ही केवल नहीं अपनाते, प्रत्युत बहुत से ऐसे भी सिद्धांतों का स्वीकार करते हुए जान पड़ते हैं जिन्हें हम लोग सर्वसाधारण की भाषा में, पौराणिक मत कहा करते हैं। वे आत्मा, ब्रह्म, पारब्रह्म, ब्रह्मज्ञान, माया, त्रिगुण, तारा-मंडल, आदि के विषय में तो कहते ही हैं, साथ ही ईश्वर के लिए राम, कृष्ण, केसौ, हरि, मुरारि, बनवारी, सारंगपानि, जगदीश, गोविंद, गोपाल, गोपीनाथ अथवा महेश आदि के भी नाम लेते हैं और पूर्वजन्म तथा कर्मसंबंधी नियमों में पूर्ण विश्वास करते हुए समझ पड़ते हैं। इस के अनेक उदाहरण साखियों में मिलेंगे। यहाँ पर केवल दो दोहे इस विषय के देते हैं—

नलनी सायर घर किया, दौं लागी बहुतेणि।
जलहि माँहैं जलि मुई, पूरब जनम लिषेंण ॥ ३२६ ॥

तथा, देखौ कर्म कबीर का, कछु पूरब जनम का लेख।
जाका महल न मुनि लहैं, सो दोसत किया अलेख[1] ॥ १३४ ॥

इसी प्रकार कबीर साहब स्वर्ग के अर्थ में 'अमरपुर' तथा नरक के लिए 'जमपुर' के भी प्रयोग करते हैं और साथ ही 'काइथि' अर्थात् चित्रगुप्त के पास सब के कर्मों का हिसाब किताब होना भी बतलाते हैं। वे परमात्मा को कहीं कहीं 'त्रिभुवनपति राइ' भी कहते हैं और इंद्र, नारद के नाम लेते तथा रावण एवं पाण्डवों की कथाओं के प्रसंग छेड़ते हैं। उन्होंने 'कलियुग' के दुर्दिनों की ओर बार बार संकेत किया है और काल तथा माया की भी प्रबल शक्ति का वर्णन किया है जिस के विषय में ऊपर उल्लेख है। ईश्वर के लिए कहीं कहीं 'रहिमान' तथा 'अलह' और 'खोदाइ' नामक शब्दों के भी व्यवहार देखने में आते हैं और स्वर्ग के लिए एकाध स्थलों पर 'भिस्त' शब्द का भी प्रयोग हुआ है किंतु सिद्धांत की दृष्टि से उन्हों ने मुस्लिम धर्म को कहीं कदाचित् नहीं अपनाया है।

[1] 'कबीर ग्रंथावली' (का० ना० प्र० सभा), पृ० ३४, १२।

४]

'साखी' शब्द कहने से बहुधा यह भान होता है कि जिस पद्य के विषय में कहा जा रहा है वह दोहा छंद में ही होगा। यह प्रायः सभी की धारणा है। परंतु ध्यानपूर्वक देखने से पता चलता है कि कबीर साहब की साखियों के छंद लगभग ३० प्रकार से कम के न होंगे. इन में दोहे तथा सोरठे मिला कर अधिकांश मात्रिक तथा थोड़े से वर्णिक छंद मिलते हैं और इन के रूपों के आकार भिन्न भिन्न होना पड़ने के कारण ऊपर की दृष्टि से, हम लोग बहुधा बहुतों का अशुद्ध सा समझने लगते हैं। कबीर साहब की साखियों में दोहे, सोरठे, सार छंद, हरिपद छंद, [illegible] छंद, चौपाई, चौपई, बरवै, श्याम उल्लास, मुक्तामणि, गीता आदि छंद अधिक संख्या में आए हैं और इन में से छोटे भी कई ढंग के हैं। 'कबीर ग्रंथावली' के "बिस्वास कौ अंग" का प्रथम पद्य ऐसे रूप में है कि उसे हम एक प्रकार का षट्पदी छंद कह सकते हैं। वह पद्य इस प्रकार है—

जिनि नर हरि जठराँह उदिकँथै पंड प्रगट कियौ।
सिरजे श्रवण कर चरण, जीव जीभ मुख ता दीयौ॥
उरध पाव अरध सीस, बीस पषा इम रखियौ।
अंन पान जहाँ जरै, तहाँ तैं अनल न चखियौ॥
इहिं भाँति भयानक उद्र मैं, उद्र न कबहूँ छंछरै।
कृसन कृपाल कबीर कहि, इम प्रति पालन क्यों करै[1] ॥१६०॥

इस की पंक्तियों में मात्राओं का न्यूनाधिक्य तो है ही इस के अंत में बराबर गुरु की मात्रा ही दिखलाई पड़ती है जैसा प्रायः षट्पदियों में नहीं पाया जाता। इस बड़े छंद से लेकर नीचे लिखे दैशिक छंद अथवा उस से भी छोटे चौपई छंद तक के उदाहरण साखियों में मिलते हैं।

भूला सो भूला, बहुरि के चेतना।
विस्मय की छुरी, संशय को रेतना[2] ॥२११॥

[1] कबीर ग्रंथावली (का० ना० प्र० सभा), पृ० ५७।

[2] बीजक (बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग), पृ० २११।

परंतु छंद कितने भी प्रकार के अथवा नियम विरुद्ध क्यों न हों, कबीर साहब की साखियों में, साहित्यिक दृष्टि से, सुंदर सुंदर पद्यों की कमी न मिलेगी। भिन्न भिन्न भावों को स्पष्ट करने के लिए उपयुक्त शब्दों का चुनाव, उन के स्वल्प-संख्यक प्रयोग द्वारा ही विस्तृत से विस्तृत विषयों का पर्याप्त विवेचन एवं सीधी किंतु चुटीली शैली के अनुरूप शब्दों का क्रम कबीर साहब की साखियों की विशेषताएं हैं जिन के कारण, भाषा के कभी कभी आलंकारिक न होते हुए भी, साहित्यिक सौन्दर्य की छटा दीख पड़ने लगती है। कबीर साहब कवि से पहले संत थे और काव्य-रचना का प्रयत्न उन्हों ने कदाचित् कभी नहीं किया, किंतु उन की अलौकिक प्रतिभा के कारण, उन के पद्यों में बहुत से ऐसे काव्य-संबंधी चमत्कार स्वभावतः आ गए हैं जिन्हें अनेक कवि परिश्रम द्वारा भी उस ढंग से लाने में असमर्थ होते हैं। पद्यों में अनेक स्थलों पर आलंकारिक भाषा के भी प्रयोग होते गए हैं और इन साखियों में प्रायः १०-१२ ऐसी भी रचनाएं मिलेंगी जिन्हें उल्टबांसी के नाम से पुकारा जाता है। आगे इन उपरोक्त सभी गुणों के दो चार उदाहरण देने का प्रयत्न किया जायगा। सब से पहले, इन की, सादे किंतु सुंदर ढंग से की हुई, भावाभिव्यक्ति के नमूने देते हैं। जैसे—

जौ रोऊं तौ बल घटै, हँसौं तौ राम रिसाइ।
मनहीं माँहि बिसूरणां, ज्यूं घुण काठहि खाइ ॥ ९५ ॥

मेरा मुझ में कुछ नहीं, जो कुछ है सो तेरा।
तेरा तुझ कौं सौंपता, क्या लागै मेरा ॥१८५॥

सब जाणैं सब बात, जाणत ही औगुण करै।
काहे की कुसलात, कर दीपक कूँवै पड़ै ॥२६९॥

उतथैं कोइ न आवई, जासूं बूझौं धाइ।
इतथैं सबै पठाइये, भार लदाइ लदाइ ॥२९४॥

चलौं चलौं सब को कहै, मोहि अँदेसा और।
साहिब सूं पर्चा नहीं, ए जाहिंगे किस ठौर ॥२९६॥

कबीर केसौं की दया संसा घाल्या खोइ ।

जे दिन गये भगति बिन, ते दिन सालैं मोहि[१] ॥७५१॥

इन उपरोक्त साखियों में "मन ही मांहि बिसूरणां", "अन्धा लागै भेरा", "कर दीपक कूँवै पड़े", "उनीथें कोइ न आवई", "ए जाहिंगे किस ठौर", तथा "ते दिन सालैं मोहि" में की गई क्रमशः अंतर्वेदना, अनासक्ति, विवेकहीनता, रहस्यमयता, सहानुभूति एवं पश्चात्ताप विषयक भावाभिव्यक्ति का ढंग इन के रचयिता की मर्मज्ञता तथा सहृदयता का परिचय भली भाँति दे रहा है। इसी प्रकार,

पाणी ही तैं हिम भया, हिम ह्वै गया बिलाइ ।

जो कुछ था सोई भया, अब कछू कह्या न जाइ[२] ॥१५९॥

द्वारा जीवात्मा और परमात्मा की वास्तविक एकता का तथा,

कबीर धूलि सकेलि करि, पुड़ी ज बांधी एह ।

दिवस चारि का पेखणा, अंति खेह की खेह[३] ॥२२०॥

द्वारा वास्तव में केवल पंचतत्त्व मात्र के संयोग से ही बने हुए मानव शरीर की नश्वरता का थोड़े ही, किन्तु उपयुक्त शब्दों की सहायता से स्पष्ट वर्णन हो जाता है जो एकदम अनूठा है।

कबीर साहब ने प्रेम तत्त्व एवं उस की अनुभूति के वर्णन को भी बड़े अच्छे ढंग से निभाया है। अपनी साखियों में प्रेमतत्त्व की परिभाषा स्पष्ट शब्दों में वे कदाचित कहीं नहीं देते किंतु नीचे लिखे पद्य से यह पता चलता है कि प्रेम का रूप वे किन्हीं दो व्यक्तियों के मनों के पारस्परिक मिलन द्वारा ही निर्धारित करते हैं। उन का कहना है कि—

ज्यूं मन मेरा तुझ सौं, यौं जे तेरा होइ ।

ताता लोहा यौं मिलै, संधि न लखई कोइ[४] ॥ ७९७ ॥

---

[१] 'कबीर ग्रंथावली' (का० ना० प्र० सभा), पृ० ९, १९, २८, ३१, ७१ ।

[२] वही, पृ० १३ ।

[३] वही, पृ० २२ ।

[४] वही, पृ० ६५ ।

अर्थात् जिस प्रकार लोहे के दो गर्म गर्म टुकड़े एक ही प्रकार तपाए हुए होने के कारण आपस में मिल जाते हैं और उन के बीच का जोड़ दिखलाई नहीं पड़ता उसी प्रकार दो व्यक्तियों के मन जब एक प्रकार के हो जाते हैं तो उन दोनों की अभिन्न हृदयता स्पष्ट हो जाती है और उन का प्रेम स्थायी रूप धारण कर लेता है। इसी लिए दो प्रेमियों के प्रेम पर उन के अलग अलग रहने का भी प्रभाव नहीं पड़ता क्योंकि—

कमोदिनीं जलहरि बसै, चंदा बसै अकासि।
जो जाही का भावना, सो ताही कै पास[1] ॥ ६४९ ॥

अर्थात् क्रमशः तालाब तथा आकाश में रहने पर भी प्रेमभाव के कारण कुमुदनी और चंद्रमा निकट ही समझे जाते हैं। यदि ऐसा न होता तो चंद्रोदय के समय कुमुदनी का विकसित होना एवं चंद्रास्त होने पर उस का संपुटित हो जाना संभव नहीं था। परंतु प्रेमभाव की उत्पत्ति, कबीर साहब के अनुसार, कोई सरल बात नहीं। प्रेमी के हृदय में प्रेम स्वयं एक 'पीर' अथवा दर्द के रूप में निवास करता है। उन का कहना है—

कबीर पीर पिरावनीं, पंजर पीड़ न जाइ।
एकज पीड़ परीति की, रही कलेजा छाइ[2] ॥ ८० ॥

अर्थात् यों तो पीड़ा का काम पीड़ित करना है ही परंतु मर्मस्थल तक पहुँच कर यह पीर कभी जाने का नाम तक नहीं लेती। प्रीति की पीड़ा सदा कलेजे पर ही प्रभुत्व जमाए रह जाती है। प्रेम एक प्रकार की मदिरा है जो पीते समय तो बहुत स्वादिष्ट जान पड़ती है परंतु उस के बदले 'कलाल' अथवा मदिरा बेचने वाला हम से हमारा सिर तक माँग बैठता है अतएव जो प्रेम का स्वाद लेना चाहे उसे उचित है कि वह पहले अपना सिर अपने पैर के नीचे रख ले। तभी तो, नितांत महँगी होने के कारण यह प्रेमवस्तु इतनी अभीष्ट

---

[1] 'कबीर ग्रंथावली' (का० ना० प्र० सभा), पृ० ६७।

[2] वही, पृ० ८।

हुआ करती है और इस के निरंतर उपभोग के निमित्त हम इतने सावधान रहा करते हैं कि

> कबीर सुपिनैं हरि मिल्या, सूतां लिया जगाइ।
> आंखि न मीचौं डरपता, मति सुपिनां ह्वै जाइ ॥ ७५६ ॥

अथवा

> गोब्यंद के गुण बहुत हैं, लिखे जु हिरदै मांहि।
> डरता पांणीं ना पीऊं, मति वै धोये जांहि[1] ॥ ७५७ ॥

अर्थात् प्रियतम के साथ स्वप्न में मिलते समय प्रेमी, प्रेमातिरेक के कारण, इतना सावधान रहता है कि जगने का अवसर मिलने पर वह अपनी आँखें नहीं खोलता जिस से, जागरण का भान होते ही, उस का मिलन कहीं स्वप्नवत् न समझ पड़ने लगे। इसी प्रकार, प्रेमातिरेक के ही कारण, अपने हृदय-पट पर अंकित हुए प्रेमपात्र के गुणों को सुरक्षित रखने में वह यहाँ तक सावधानी दिखलाता है कि, वे कदाचित् किसी प्रकार धुल न जायँ, उस भय से, वह पानी तक डरते डरते ही पिया करता है। प्रेमी का अपने प्रेमपात्र के साथ मिलना भी एक अपूर्व आनंद का अवसर है। प्रेमी को मिलन में किसी प्रकार संतोष हो नहीं होता क्योंकि—

> अंक भरे भरि भेटिया, मन मैं नाहीं धीर।
> कहै कबीर ते क्यूँ मिलैं, जब लगि दोइ सरीर[2] ॥ १५७ ॥

अर्थात् साधारण प्रकार से गले से गला लगा कर मिलना प्रेमी के लिए पर्याप्त नहीं होता। वह ऐसा मिलना चाहता है कि दोनों मिल कर एकदम एक रूप हो जायँ। द्वैतावस्था का मिलना प्रेम का मिलन नहीं है। जीवात्मा और परमात्मा का आदर्श मिलन भी तभी संभव है जब द्वैतभाव की गंध तक न रह जाय। कबीर साहब अपने अनुभव द्वारा इस विषय को इस प्रकार स्पष्ट करते हैं—

[1]'कबीर ग्रंथावली' (का० ना० प्र० सभा), पृ० ७१।

[2]वही, पृ० १४।

जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नाहिं।
तब अँधियारा मिटि गया, जब दीपक देख्या माहिं[1] ॥ १५७ ॥

अर्थात् मैं अथवा अहंभाव जब तक विद्यमान था तब तक परमात्मा का नाम तक नहीं था और जब आत्मप्रकाश द्वारा दोनों की एकता सिद्ध हो गई तो अब सिवाय परमात्मा के दूसरी वस्तु दिखलाई नहीं देती।

कबीर साहब ने, इसी प्रकार, प्रेमतत्त्व के विरह पक्ष को भी बड़ी सुंदरता के साथ निभाया है। वे कहते हैं कि विरह की चोट का अनुभव रोम रोम व्यापी हुआ करता है और उस का वास्तविक ज्ञान सिवाय उस चोट के पहुँचाने वाले तथा अनुभव करने वाले के किसी तीसरे को होना संभव नहीं। इस लिए विरही का लक्षण बतलाते हुए सर्वसाधारण का यह भी कहना उचित नहीं कि हम उसे हँसने की जगह केवल रोता हुआ देख कर पहचान सकते हैं। विरही के और दूसरों के रोने में भी महान अंतर है। कबीर साहब के अनुसार,—

सोई आँसू सजणाँ, सोई लोक बिडाँहि।
जे लोइण लोंहीं चुवैं, तौ जाणौं हेत हियाँहि[2] ॥ १२ ॥

अर्थात् अपने और पराये लोगों के आँसू एक ही प्रकार के होते हैं। उन में कोई अंतर नहीं और न उन के लिए किसी पहचान अथवा लक्षण-ज्ञान की आवश्यकता है। परंतु प्रेम के आँसुओं की पहचान के लिए यह जान लेना परमावश्यक है कि वे आँखों से सदा लोहू के ही रूप में निकला करते हैं। रक्त के रूप में जहाँ आँसू देखिए वहाँ समझ लीजिए कि प्रेम या विरह अवश्य वर्तमान होगा। यहां तक नहीं, विरह के आँसुओं में यदि रक्त की धारा है तो उसके सर्वांग अनुभव में भी एक ऐसी ज्वाला है जो किसी प्रकार बुझाये नहीं बुझती। इस ज्वाला से बेचैन हो कर कबीर साहब के ही शब्दों में एक विरहिणी अपनी अनुभव कथा यों कहती है—

---

[1] 'कबीर ग्रंथावली' (का० ना० प्र० स०), पृष्ठ १५।

[2] वही, पृ० ९।

बिरह जलाई मैं जलौं जलती जलहरि जाउँ।

मो देख्याँ जलहरि जलै संतौं कहाँ बुझाउँ[1] ॥ १०६ ॥

अर्थात् विरह की ज्वाला में मैं जलती जा रही हूँ और जब मैं इसे बुझाने के लिए किसी जलाशय के पास जाती हूँ तो वह मुझे देखने ही स्वयं जल उठता है। अब मैं बड़े फेर में हूँ कि इसे बुझाऊँ तो कैसे बुझाऊँ। कोई शीतल पदार्थ ही नहीं मिलता।

हाँ, इस विरह ज्वाला को बुझाने के लिए एक यह उपाय हो सकता है कि—

यहु तन जालौं मसि करूँ, ज्यूँ धूवाँ जाइ सरग्गि।

मति वै राम दया करैं, बरसि बुझावैं अग्गि[2] ॥७८॥

अर्थात् विरही अपने इस शरीर को जला कर राख बना दे जिस से जलने समय उठे हुए धुएँ से पर्याप्त रूप में बादल बन कर आकाश में वृष्टि करें और तब किसी प्रकार उस जल से यह ज्वाला शांत हो। परंतु यह भी उस प्रेम-पात्र राम की दया पर ही संभव है। इसलिए प्रेमी कबीर साहब कहते हैं कि

यहु तन जालौं मसि करौं, लिखौं राम का नाउँ।

लेखणि करूँ करंक की, लिखि लिखि राम पठाउँ[3] ॥७९॥

अर्थात् मेरी इच्छा तो यह है कि इस शरीर को जला कर जो राख तैयार हो उस की मैं स्याही बनाऊँ और अपने सिर की ही लेखनी से अपने प्रेमपात्र राम के नाम लिख लिख कर उसी के पास पठाया करूँ। अथवा उस के आगमन की प्रतीक्षा में मैं—

इस तन का दीवा करौं, बाती मेल्यूँ जीव।

लोही सींचौं तेल ज्यूँ, कब मुख देखौं पीव[4] ॥२०॥

[1] 'कबीर ग्रंथावली' (का० ना० प्र० सभा), पृ० १०।

[2] वही, पृष्ठ ८।

[3] वही, पृष्ठ ८।

[4] वही, पृ० ९।

अर्थात् अपने शरीर को दीपक बनाकर उस में अपने प्राणों की बत्ती डालूँ और तेल की जगह अपना लोहू काम में ला कर, उस के प्रकाश से अपने प्रियतम का रूप देखने के लिए खड़ा रहूँ। वास्तव में उपरोक्त वर्णन प्रेम की पराकाष्ठा के द्योतक हैं।

कबीर साहब की कुछ साखियों में साहित्यिक रसों का परिपाक भी देखने को मिलता है। शृंगार रस के संयोग एवं वियोग इन दोनों के कतिपय उदाहरण अन्य प्रसंगवश ऊपर आ ही चुके हैं। यहाँ पर वीर रस से संबंध रखने वाले कुछ पद्यों के भी उदाहरण दे देना कदाचित् अनुचित न होगा। वीररस के पूर्णरूपेण अनुकूल उत्साहव्यंजक वातावरण प्रकट करते हुए एक साखी में कहते हैं—

गगन दमामा बाजिया, पड्या निसानैं घाव।
खेत बुहार्‌या सूरिवैं, मुझ मरणे का चाव[1] ॥६५८॥

अर्थात् वायु मंडल में नगाड़े की ध्वनि गूज उठी और डंके पर चोटें पड़ने लगीं। यह देख कर शूरवीर मैदान में ललकार कर बोला कि रणक्षेत्र में प्राण देने की मुझे अभिलाषा है। इसी प्रकार शूरवीर की परीक्षा के विषय में एक स्थल पर और कहते हैं—

सूरा तब ही परषिये, लड़े धणीं के हेत।
पुरिजा पुरिजा ह्वै पड़ै, तऊ न छाड़ै खेत ॥६६१॥

अर्थात् शूरवीर की परीक्षा इसी बात में है कि वह अपने मालिक के लिए लड़ते समय टुकड़े टुकड़े तक कट जाय किंतु तौ भी रणक्षेत्र से विमुख न हो। ऐसी उत्साहपूर्ण टेक उदाहृत करने के लिए कबीर साहब ने, अपने पति के मरणोपरांत उस के शव के साथ जलने वाली, सतियों का भी प्रसंग छेड़ा है। वे कहते हैं कि—

अब तो ऐसी ह्वै पड़ी, मनका रुचित कीन्ह।
मरनैं कहा डराइये, हाथि स्यंधौरा लीन्ह[2] ॥६६४॥

---

[1]'कबीर ग्रंथावली' (का० ना० प्र० सभा), पृ० ५।

[2]वही, पृ० ६९।

अर्थात् अब तो अवसर आ ही पहुँचा और अपना मन भी स्थिर कर लिया तथा कटिबद्ध हो कर हाथ में 'सिंधौरा' अथवा सिंदूरदान तक ले लिया तो फिर अब मरने से डरना कौन है। सती के हृदय में इतनी शक्ति है तभी तो वह चिता पर चढ़ कर श्मशानभूमि के प्रति इस प्रकार कहती है--

सती पुकारै सलि चढ़ी, सुनि रे मीत मसान।
लोग बटाऊ चलि गए, हम तुम रहे निदान[१] ॥६८॥

अर्थात् चिता पर चढ़ी हुई सती श्मशान से कहती है कि "हे मित्र, और लोग जो सहानुभूति प्रदर्शन करने के लिए यहाँ तक आए थे वे सभी बटोहियों की भाँति तमाशबीनों का साथ छोड़ कर चले गए और अब अंत तक हमीं दोनों का साथ रहेगा।" इन उपर्युक्त पद्यों में त्यागभाव उत्साह के साथ ही धैर्य, हर्ष, गर्व, आवेगादि कई संचारी भावों का भी समावेश स्पष्ट दीख पड़ता है और साहस की मात्रा तो इतनी है कि उस का प्रभाव दूसरों पर पूरा पड़ सकता है। इसी प्रकार कबीर साहब की साखियों में, और विशेषकर उन में जिन्हें बहुधा उलटबाँसियों के नाम से पुकारते हैं अद्भुत रस के कई अच्छे अच्छे उदाहरण मिल सकते हैं। जैसे --

घर जालौं घर उबरै, घर राखौं घर जाइ।
एक अचंभा देखिया, मड़ा काल कौं खाइ[२] ॥३२॥

तथा, चौगोड़ा के देखते, व्याधा भागा जाय।
अचरज एक देखो हो संतो, मुवा काल को खाय[३] ॥१२७॥

अर्थात् यदि घर जलाते अथवा विषयादि से विरक्त हो जाते हैं तो घर रह जाता है अथवा जीवात्मा परमात्मा को प्राप्त कर लेता है किन्तु यदि घर की रक्षा करते अथवा विषयादि से अनुरक्ति रखते हैं तो, इन उलझनों के ही कारण, घर चला जाता है अथवा आत्मज्ञान नहीं हो पाता और इस से

---

[१] 'कबीर ग्रंथावली' (का० ना० प्र० सभा), पृ० ७१।

[२] वही, पृ० ६४।

[३] 'बीजक' (वे० प्रे० प्रयाग), पृ० ९८-९९।

भी अधिक आश्चर्य की बात तो यह है कि जब तक हमारा संसारी जीवन है तब तक काल के नियमानुसार हमारे जन्म-मरण का झगड़ा लगा हुआ रहता है, किंतु हम ज्यों ही 'जीवन मृतक' अथवा जीवन्मुक्त हो कर, संसारी जीवन की दृष्टि से, मर जाते हैं त्यों ही हमारे ऊपर से काल का भी प्रभाव एक दम हट जाता है। दूसरे शब्दों में, अनंत में लीन हो जाने के कारण, हम स्वयं काल तक को खा जाते हैं। इसी प्रकार कितने आश्चर्य की बात है कि पशुओं का बराबर शिकार करने वाला स्याना एक 'चौगाड़' अथवा चौपाये को देख कर भाग जाता है अर्थात् काल जो निरंतर सभी का नाश किया करता है वह 'चौगोड़ा' अर्थात् ज्ञान अनुभवसंपन्न जीवन्मुक्त के पास फटकने तक नहीं पाता और, संसारी जीवन की दृष्टि से, मरे होने पर भी उस पर अपना अधिकार जमाने में वह असमर्थ ही रहता है। ऐसे ही कम से कम आधी दर्जन उलटबासियों में तथा अन्य कई साखियों में अद्भुत रस के उदाहरण दीख पड़ेंगे। इन साखियों में इसी प्रकार शांत और हास्य रस के भी बहुत से पद्य मिलते हैं किंतु बहुत से उदाहरण देकर लेख का कलेवर बढ़ाना भी उचित नहीं जान पड़ता।

इसी प्रकार कबीर साहब की साखियों में कई भिन्न भिन्न साहित्यिक अलंकारों के भी उदाहरण कहीं कहीं देखने में आते हैं। इनका प्रयोग कदाचित उन्होंने जान बूझ कर नहीं किया था। किंतु ध्यानपूर्वक देखने से इन की उपयोगिता एवं औचित्य स्पष्ट विदित होते हैं जैसा कि नीचे दिए हुए कतिपय अवतरणों से प्रकट हो जायगा, जैसे—

यहु ऐसा संसार है, जैसा सैंबल फूल।
दिन दस के व्यौहार कौं, झूठै रंगि न भूल ॥ २१३ ॥

तथा, बाड़ि चढ़ंती बेलि ज्यूं, उलझी आसा फंध।
तूटै पणि छूटै नहीं, भई ज बाचा बंध[1] ॥ ३३० ॥

[1] 'कबीर ग्रंथावली' (का० ना० प्र० सभा), पृ० २१, २४।

में से पहले पद्य में संसार को उस के क्षणस्थायी सुख देने वाले विषयादि के कारण, पूर्वरूप में कुछ दिनों के लिए सुंदर दीख पड़ने वाले सेमर के फूल के समान माना है। और कहा है कि जिस प्रकार सेमर का फूल अंत में अथवा कुछ ही दिनों के अनंतर केवल भुआ प्रकट कर के ही रह जाता है उसी प्रकार, सांसारिक विषयादि के अंत में दुखदायक सिद्ध होने के कारण सांसारिक जीवन भी एक मात्र धोखे की ही वस्तु है। इसी ढंग से, दूसरे पद्य में हमारे सांसारिक जीवन में निरंतर उलझनें पैदा करने वाली आशा को घर के छप्परों पर चढ़ी हुई लता के समान माना है और कहते हैं कि जिस प्रकार छप्पर वाली लता अपनी टहनियों के अंकुशों द्वारा वहाँ के तिनके आदि को कस कर पकड़ लेती है और हटाये जाते समय टूट तक जाती है परंतु अलग होने का नाम नहीं लेती उसी प्रकार आशा भी अनेक बातों की उलझनों द्वारा हमारी मनोवृत्ति पर अपना पूरा अधिकार जमा लेती है और लाख प्रयत्न करते रहने पर भी हम उस की वासना को दूर नहीं कर सकते। नित्यशः आँखों के सामने आनेवाली वस्तुओं को उपमान बना कर उन के द्वारा अपने दैनिक जीवन के अनुभवों को उपमेयों की भाँति स्पष्ट करने की चेष्टा यहाँ बहुत सफल हुई है इस कारण उपमा अलंकार के ये अच्छे उदाहरण कहे जा सकते हैं। इसी प्रकार—

> सब रँग तंत रबाब तन , बिरह बजावै नित्त ।
> और न कोई सुणि सकै , कै साँई कै चित्त ॥ ८७ ॥
> माया तरवर त्रिविधका , साखा दुख संताप ।
> सीतलता सुपिनै नहीं , फल फीको तनि ताप ॥ ३२४ ॥
> जुरा कुती जोबन ससा , काल अहेड़ी बार ।
> पलक बिना में पाकड़े , गरब्यो कहाँ गँवार[1] ॥ ८ पाद टिप्पणी ॥

में से पहले पद्य में शरीर के रगों को तारों के समान मान कर सारे शरीर का ही रबाब नाम का बाजा बतलाया है और कहते हैं कि विरही के रबाब-

[1] 'कबीर ग्रंथावली' (का० ना० प्र० सभा), पृ० ९, ३४, ७२ ।

रूपी शरीर का विरह सदा बजाता रहता है परन्तु साधारण रबाब और इस रबाब में यह अंतर है कि उस को तो सभी सुन सकते हैं किन्तु इस बाजे की ध्वनि 'साईं' अर्थात् परमात्मा एवं स्वयं अपने चित्त के सिवाय दूसरा कोई नहीं सुन सकता। इसी प्रकार दूसरे पद्य में त्रिविध गुण संपन्न माया को एक विशाल वृक्ष माना है परन्तु इस की शाखाओं को दुःख एवं संतापमयी बतला कर उस के नीचे छाया का अभाव तथा उस के फलों का फीका और तापवर्धक होना कहा है। इन दोनों पद्यों में उपमेय को उपमान से क्रमशः बढ़ा कर और घटा कर दिखलाने के कारण और वाचकादि न रहने से अधिक तद्रूप और हीन तद्रूप नामक रूपक के दो भेदों के उदाहरण मिल जाते हैं। तीसरे पद्य में इसी ढंग से 'जुरा' अर्थात् वृद्धावस्था को शिकारी-रूपी काल की कुतिया मान कर उस के द्वारा खरगोश-रूपी यौवन का पीछा कराना दिखलाया है और कहते हैं कि, निरंतर पीछा करते रहने के कारण, एक न एक दिन यौवन शीघ्र ही आक्रांत हो कर नष्ट हो सकता है इसलिए इस पर गर्व करना मूर्खता के सिवाय कुछ नहीं। इस पद्य में अभेद रूपक का एक अच्छा उदाहरण पाया जाता है। ऐसे ही—

> कागद केरी नाँव री, पाणी केरी गंग।
> कहै कबीर कैसैं तिरूँ, पंच कुसंगी संग॥ २८३॥
> चतुराई सूवै पढ़ी, सोई पंजर माँहि।
> फिरि प्रमोधै आन कौं, आपण समझै नाँहि[1]॥ ३६०॥

में से पहले पद्य में 'कागद' की नाव पर पाँच पूरे साथियों के साथ बैठ कर नदी पार करने की असमर्थता ऊपर से दिखलाते हुए वस्तुतः शब्दों के गूढ़ार्थ द्वारा, नश्वर शरीर के लिए, सदा ऊधम मचाने वाली अपनी पंचेंद्रियों के साथ, तरल सांसारिक जीवन का निर्वाह करना एकदम असाध्य सिद्ध किया है तथा दूसरे पद्य में कई प्रकार की बुद्धिमान जनोचित बातें सीख कर भी पिंजरे में ही रहने वाले तथा दूसरों को शिक्षा देते हुए भी स्वयं न सम-

[1] 'कबीर ग्रंथावली' (का० ना० प्र० सभा), पृ० २९, ३७।

करने वाले तोते की मूर्खता को ऊपर से वर्णन करते हुए वास्तव में उस के द्वारा वेद शास्त्रादि अनेक ग्रंथों का अध्ययन कर लेने पर भी सदा माया के बंधनों में पड़े रहने वाले एवं साथ ही दूसरों को उपदेश देते हुए भी उस के भावों का स्वयं हृदयंगम न कर सकने वाले धर्माचार्यों की दशा का विवरण दे दिया है। जिस से दोनों पद्यों में समासोक्ति अलंकार के उदाहरण मिल जाते हैं। इसी प्रकार—

> खंभा एक गइंद दोइ, क्यूं करि बंधिसि बारि।
> मानि करै तौ पीव नहीं, पीव तौ मानि निवारि॥ २५७॥
> निरमल बूँद अकास की, परि गई भौमि बिकार।
> मूल बिनंठा मानवी, बिन संगति भठछार[1]॥ ६६३॥

इन में पहले पद्य में एक ही खंभे में दो हाथियों के बाँधने की मूर्खता दिखला कर इस साधारण बात के द्वारा एक ही साथ अपने प्रियतम को वश में रखने तथा गर्व भी दिखलाने की व्यर्थता दिखलाई है तथा इसी ढंग से अपने मूलस्थान आकाश से अलग हो कर पृथ्वी पर आ पड़ने वाली तथा इसी कारण धूल में मिलकर अपनी निर्मलता खो देने वाली बूँद के साधारण नियम का वर्णन कर के उस के द्वारा अपने मूल परमात्मा से अलग हो कर एवं कुसंगति में पड़ कर अपने शुद्ध रूप को मलिन कर देने वाले मनुष्य की दशा को स्पष्ट किया है जिस कारण एक साधारण नियम के द्वारा एक विशेष बात का समर्थन होने से यहाँ पर दोनों पद्यों में अर्थान्तरन्यास अलंकार उदाहृत होता है। ऐसे ही अन्य कई अर्थालंकार तथा बहुत से शब्दालंकारों के भी उदाहरण कबीर साहब की साखियों में देखने को मिलते हैं। परंतु यहाँ पर केवल कुछ अन्योक्ति अलंकार के ही उत्तम उत्तम उदाहरण अंत में दे देना हम उचित समझते हैं। जैसे—

> मालिन आवत देखि करि, कलियाँ करी पुकार।
> फूले फूले चुनि लिए, कालि हमारी बार[2]॥ ११ पाद टिप्पणी॥

[1] 'कबीर ग्रंथावली' (का० ना० प्र० सभा), पृ० २५, ७७।

[2] वही, पृ० ७२।

अर्थात मालिन को आती देखते ही फुलवारी की सारी कलियाँ चिल्ला उठीं और कहने लगीं कि हाय! आज फूले हुए सभी फूल तुम लिए जाओगे और हमारे भी टूटने जाने की अब शीघ्र ही कल बारी आ जायगी। यहाँ पर अपनी आँखों के सामने अन्य लोगों का मरना देख कर जीवित मनुष्यों का अपनी मृत्यु के विषय में चिंतित होना बड़ी उत्तमता के साथ दर्शाया गया है।

बाढ़ी आवत देखि करि, तरवर डोलन लाग।

हम कटे की कछु नहीं, पंखेरू घर भाग[1] ॥ १२ पाद टिप्पणी ॥

अर्थात बढ़ई को आता देख कर भारी सा वृक्ष भी डोलने लगा और अपने ऊपर बसेरा देने वाले पक्षी से बोला कि देख हमें अपने कट जाने की उतनी चिंता नहीं जितनी इस बात की है कि मैं अब तुझे अपना आश्रय न दे सकूँगा इसलिए तू शीघ्र अपने घर चला जा अथवा दूसरा आश्रय ग्रहण कर। यहाँ पर अपनी मृत्यु को निकट आती हुई देख कर किसी वृद्ध का अपने आश्रितों के प्रति काँपते हुए यह कहना दिखलाया गया है कि वे अब अपना प्रबंध स्वयं कर लें।

फागुण आवत देखि करि, बन रूना मन माँहि।

ऊँची डाली पात है, दिन दिन पीले थाँहि ॥ १३ पाद टिप्पणी ॥

अर्थात फागुन महीने का निकट आना समझ कर जंगल मन ही मन रोने लगा और दुःखित हो कर सोचने लगा कि देखो! अब ऊँची ऊँची डालियों के पत्ते शीघ्र ही पीले पड़ने लगेंगे। यहाँ पर कुसमय आता देख कर अपने आत्मीयों के भविष्य के प्रति चिंतित होने वाले किसी समझदार मनुष्य की मानसिक स्थिति का बड़ा ही सुंदर वर्णन किया गया है।

कबीर लहरि समंद की, मोती बिखरे आइ।

बगुला भेद न जाणई, हंस चुणे चुणि खाइ[2] ॥ ७२९ ॥

---

[1] 'कबीर ग्रंथावली' (का० ना० प्र० सभा), पृ० ७२।

[2] वही, पृ० ७२।

अर्थात् समुद्र की लहरों द्वारा प्रक्षिप्त मोतियाँ उस के तट पर ही बिखरी पड़ी रहती हैं परंतु मूर्ख बगुला उन्हें पहचान नहीं पाता और न उन का मूल्य ही जानता है। उन्हें हंस ही जानते हैं और चुन चुन कर खाते हैं। यहाँ पर गुणों के पारखी सज्जनों एवं उन्हें पहचान न सकने वाले मूर्खों की तुलना की गई है।

मछी हुआ न छूटिए, झीवर तेरा काल।

जिहि जिहि डावरि हूँ फिरै, तिहि तिहि मांडै जाल[1] ॥३१ पाद टिप्पणी॥

अर्थात् मछली हो कर कालरूपी धीवर से बचना बहुत कठिन है क्योंकि जिस जिस जगह गहरे पानी की शरण लेती है वहाँ वहाँ वह अपना जाल डाल देता है। यहाँ पर उक्त साखी द्वारा मानव शरीर धारण कर, किसी भी अवस्था में क्यों न हो, कर्म के नियमों से अपने को अछूता रखना मनुष्य के लिए असंभव काम बतलाया है।

पाणी मांहिला माछली, सकै तो पकड़ि तीर।

कर्ता करू को काल को, आइ पहूँता कीर[2] ॥३२ पाद टिप्पणी॥

अर्थात् अब पानी में रहने वाली मछली, अब भी सोच समझ कर तीर पकड़ ले नहीं तो काल ने अपनी जंजीर उठा ली है और अब शीघ्र ही किरात अथवा धीवर आया ही चाहता है। यहाँ पर सांसारिक जीवन में मग्न रहने वाले मनुष्य के प्रति कहा जाता है कि देख अब भी इस के किनारे लग जा और विषयादि से विरक्त होने की चेष्टा कर नहीं तो एक दिन शीघ्र ही शरीर त्याग का अवसर आ पहुँचेगा और कुछ करते न बनेगा। इन उपरोक्त कुल उदाहरणों में वास्तविक अभिप्राय दूसरों के वर्णन द्वारा प्रकट किया गया है। अर्थात् वास्तव में मानव जीवन के अंतर्गत बहुधा पाई जाने वाली बातों को पशुपक्षी तथा अन्य जीवों से ले कर प्राकृतिक दृश्यादि तक में आरोप कर के कहा है।

---

[1] 'कबीर ग्रंथावली' (का० ना० प्र० स०), पृष्ठ ७८। [2] वही, पृ० ७४।

अशोक की नीति और कृति पर एक आलोचनात्मक दृष्टि

[लेखक—श्रीयुत जयचन्द्र विद्यालंकार]

कलिंग-देश (आधुनिक उड़ीसा) के विजय से सम्राट् अशोक के मन में जो अनुशोचन हुआ था, वह भारतवर्ष के ही नहीं, संसार के इतिहास में एक महत्त्व की घटना थी। अशोक ने अनुभव किया कि 'जहाँ लोगों का इस प्रकार वध, मरण और देशनिकाला हो, ऐसा जीतना न जीतने के बराबर है।' उसके जीवन में इस से बड़ा परिवर्तन हुआ। उस ने निश्चय किया कि अब वह इस प्रकार के नए विजय न करेगा; उस ने अपने बेटों-पोतों के लिए यही शिक्षा दर्ज की कि वे 'नए विजय न करें, और जो विजय बाण खींचने द्वारा ही हो सके उसमें भी शान्ति और लघु-दण्डता से काम लें और धर्म के द्वारा जो विजय हो उसी को असल विजय मानें।'[1]

उस के राज्य के पड़ोस में तब उत्तर-पच्छिम का योन (यूनानी) राज्य और सुदूर दक्खिन के तामिल राज्य थे। उन 'अन्तों' (पड़ोसी राज्यों) के विषय में उस ने अपने महामात्रों को नई आज्ञा दी। "शायद आप लोग जानना चाहें कि जो 'अन्त' अभी तक जीते नहीं गए हैं, उन के विषय में राजा क्या चाहता है। मेरी अन्तों के विषय में यही इच्छा है कि वे मुझ से डरें नहीं और मुझ पर भरोसा रक्खें, वे मुझ से सुख ही पावेंगे, दुःख नहीं। वे यह विश्वास मानें कि जहाँ तक क्षमा का व्यवहार हो सकेगा राजा हम से क्षमा का बर्ताव करेगा।"[2]

---

[1] तेरहवाँ प्रधान शिलाभिलेख।

[2] दूसरा कलिंग शिलाभिलेख।

'जितने मनुष्य कलिंग विजय के समय मारे गए मरे या कैद किए गए, उन का सौवाँ हजारवाँ भाग भी अब यदि मारा जाय तो देवताओं के प्रिय को भारी दुःख होगा। देवताओं के प्रिय का मत है कि जो अपकार करता है वह भी क्षमा के योग्य है, यदि वह क्षमा किया जा सके। जो अटवियाँ (जंगली बस्तियाँ) देवताओं के प्रिय के विजित (साम्राज्य) में हैं, उन से भी वह अनुनय करता है, उन्हें समझाता है कि देवताओं के प्रिय को पछतावा देने के कारण न बनें, बुरे कामों से लज्जित हों, व्यर्थ में नष्ट न हों। देवताओं का प्रिय सब जीवों की अक्षति, संयम तथा समचर्या और प्रसन्नता चाहता है।'[1] एक राजा की महत्त्वाकांक्षा की तृप्ति के लिए गरीब गृहस्थों का वध और देश निकाला हो, यह उसे पसन्द नहीं है।

उपर्युक्त से प्रतीत होता है कि मौर्य राजा को अपने दण्ड का प्रयोग विशेष कर 'अन्तों' और 'अटवियों' के लिए करना पड़ता था, किन्तु उन के प्रति अब अशोक ने जहाँ तक बन सके क्षमा करने की नीति शुरू की। वह नीति कहाँ तक उचित या अनुचित थी, इस का विचार अब हमें करना है।

अपने पड़ोसियों से बर्तने की एक बिलकुल नई और अनोखी नीति अशोक ने जारी की थी। हम ने उसी के शब्दों में उस का तत्त्व समझने का जतन किया है। वह नीति अच्छी थी या बुरी? अब तक अनेक दृष्टियों से उस की अनेक प्रकार की आलोचनाएं की जा चुकी हैं। हमारे सामने मुख्य प्रश्न यह है कि भारतवर्ष के राष्ट्रीय जीवन और इतिहास पर उस नीति का क्या प्रभाव हुआ।

"बिंदुसार का साम्राज्य" शीर्षक एक लेख के अंत में श्रीयुत काशी प्रसाद जायसवाल ने प्रसंगवश इस प्रश्न पर यों लिखा है—

यदि अशोक राजनीति में धर्मभीरु न बन जाता तो (बिंदुसार के समय तक मौर्य साम्राज्य में शामिल होने से) बचे हुए (भारतीय) जनपदों का क्या होता सो अनुमान करना कठिन नहीं है। यदि वह अपने पूर्वज की

[1] तेरहवां प्रधान शिलाभिलेख।

नीति को जारी रखता तो वह फारिस के सीमान्त से कन्याकुमारी तक समूचे जम्बूदीप (भारतवर्ष) को वस्तुतः 'एकच्छत्र राज्य' के अधीन कर सकता था—वह आदर्श तब से आज तक चरितार्थ न हो पाया। इतिहास का एक विशेष गुणांश होने पर एक ऐसे मनुष्य के, जो स्वभाव से एक महन्त की गद्दी के लिए उपयुक्त था, अकस्मात राजसिंहासन पर उपस्थित होने से (उस आदर्श की पूर्त्ति की) घटना शताब्दियों के लिए नहीं सहस्राब्दियों के लिए पिछड़ गई।"[1]

डा० देवदत्त रा० भण्डारकर भी श्रीयुत जायसवाल के समान भारतीय इतिहास और पुरातत्त्व के इने गिने आचार्यों में से हैं। वे अशोक के बड़े प्रशंसक हैं। संसार के इतिहास के अनेक बड़े बड़े राजाओं और सम्राटों—सिकन्दर, सीज़र, कान्स्टैन्टाइन, नैपोलियन आदि—को वे उस के मुक़ाबले में तुच्छ मानते हैं। तो भी भारतवर्ष के राजनैतिक और राष्ट्रीय जीवन पर अशोक की नीति का प्रभाव उन्हों ने जिन शब्दों में चित्रित किया है, उन मे जायसवाल के उक्त विचारों की ही प्रतिध्वनि सुनाई देती है। वे कहते हैं—

"हम सब जानते हैं कि बिम्बिसार के समय का बिहार का छोटा सा मगध-राज्य किस प्रकार चन्द्रगुप्त के समय हिन्दूकुश से तामिल देश की सीमा तक विस्तृत मगध साम्राज्य बन गया था। स्वयं अशोक ने भी एक समय कलिङ्ग प्रान्त को जीत कर उस केन्द्राभिगामी (centripetal) प्रवृत्ति को, जो बिम्बिसार ने शुरू की थी, बढ़ाया था। यदि 'धम्म' का भूत उस के मन पर सवार न हो गया होता, और उस ने उस का बिलकुल रूपान्तर न कर दिया होता, तो मगध की अदम्य सामरिक वृत्ति और अद्भुत राजनीति ने भारत के दक्खिनी छोर के तामिल राज्यों और ताम्रपर्णी (लंका) पर हमला कर के उन्हें अधीन कर के ही दम लिया होता, और शायद वे तब तक शान्त न होतीं जब

---

[1] 'जर्नल अव् दि बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी' १९१६, पृ० ८२।

तक भारतवर्ष की सीमाओं के भीतर सब का एक साम्राज्य स्थापित न कर लेते। भारतवर्ष में आर्यसभ्यता की स्थापना अशोक से बहुत पहले पूरी हो चुकी थी। भारतवर्ष की विभिन्न जातियों का आर्य रंग में रंगा जाना वैसा ही था जैसा मुसलमानों के लिए आजकल का इस्लामी रंग में रंगा जाना। आर्य भाषा और जीवनपद्धति लगभग समूचे भारत में स्थान ले चुकी थी, और आर्यों की राष्ट्रभाषा—पालि—भी अपनाई जा चुकी थी। विभिन्न भारतीय जनपदों को एक राष्ट्र—अर्थात् एक साम्राज्य-पद्धति—में ढालने की सामग्री वहाँ उपस्थित थी। उस चरम सीमा तक पहुँचने को यदि किसी बात की जरूरत थी तो राजनैतिक स्थिरता की, राजनैतिक एकता की। अशोक यदि केवल अपने पूर्वजों की नीति जारी रखता होता, और बिम्बिसार के समय शुरू हुई केन्द्राभिगामी शक्तियों को सहारा दिया होता, तो वह अपनी शक्ति और शासन-योग्यता से मगध-साम्राज्य का संगठन दृढ़ कर देता और राजनैतिक स्थिरता को निश्चित कर देता। किन्तु उस ने कलिंग-युद्ध के बाद ही, अर्थात् ठीक उस घटना के बाद जो कि उस स्थिति के दूसरे राजाओं को उस अवसर पर विश्वराज्य स्थापित करने को उत्तेजित करती, एक दूसरी ही परराष्ट्र नीति जारी कर दी। युद्ध के विचार से भी अशोक उस के बाद घृणा करने लगा। ....इस नीति-परिवर्तन का, दिग्विजय का स्थान धर्मविजय को देने का परिणाम, आध्यात्मिक दृष्टि से भले ही उज्ज्वल रहा हो, राजनैतिक दृष्टि से विनाशकारी हुआ। भारतवासियों के स्वभाव से ही शान्तिप्रिय और आध्यात्मिक उन्नति के पीछे मरने की आदत पैदा हो गई और जम गई।........ अशोक की नई दृष्टि ने भारतवासियों की केन्द्र-स्थित (centralised) राष्ट्रीय राज्य और विश्व-साम्राज्य की भावनाओं को मार दिया।"[1]

फिर "...........ऐसा प्रतीत होता है कि अशोक की धर्म-चेष्टाओं से भारतवर्ष की राष्ट्रीयता और राजनैतिक गौरव नष्ट हो गए।"[2]

---

[1] 'अशोक,' पृ० २४२-२४४।

[2] वही, पृ० २४७।

यह आलोचना केवल जायसवाल और भण्डारकर के ही नहीं, प्रत्युत आज कल के साधारण प्रचलित विचार को सूचित करती है। सम्भव है इस में सचाई का कुछ अंश हो। किन्तु यह एक भ्रान्त दृष्टि तथा तुलनात्मक इतिहास के गलत अध्ययन को सूचित करती है।

किसी एक महापुरुष की सनक या क़ानून से एक समूची जाति का स्वभाव और उस के इतिहास का मार्ग हमेशा के लिए नहीं बदल सकता। यदि तीसरी शताब्दी ई० पू० के भारतवासियों में अपने समूचे देश को एक साम्राज्य में लाने की और उस समय के अपने पड़ोसी देशों को भी उस में सम्मिलित करने की आकांक्षा, योग्यता और क्षमता—'सामरिक वृत्ति' और राजनैतिक प्रतिभा—थी, तो अशोक के दबाए वह दब न सकती थी। वह क्षमता और प्रतिभा अशोक को गद्दी से उतार कर फेंक सकती थी जैसे उसने नन्द को उतार कर फेंका था, या अशोक के आँख मूँदते ही फिर प्रकट हो सकती थी। एक आदमी के दबाए जो राष्ट्रीय स्वभाव दब या बदल जा सकता है उस में साम्राज्य खड़े करने की प्रतिभा और क्षमता रही हो, सो मानना कठिन है।

दूसरे, प्रो० भण्डारकर का यह विचार प्रतीत होता है कि भारतवासी रोमन साम्राज्य की तरह एक साम्राज्य—जिस में उन का अपना समूचा देश और बाहर के कुछ पड़ोसी देश भी सम्मिलित होते—खड़ा न कर सके, वे भारतवर्ष में वह राजनैतिक एकता और स्थिरता पैदा न कर सके जिस से वह देश एक राष्ट्र, बल्कि विश्व-साम्राज्य का केन्द्र बन जाता, और ठीक उस समय जब कि वे ऐसा करने वाले थे अशोक के सिर पर धर्म का भूत सवार न हो गया होता तो वे जरूर किसी अंश में रोमनों से कम न रहते। किंतु क्या यह सच है? रोम या इटली की भारतवर्ष से तुलना करना गलत है। रोम पाटलिपुत्र की तरह केवल एक नगरी थी, और इटली मगध की तरह एक जनपद; मगध का भारतीय साम्राज्य रोम के साम्राज्य की तरह प्रत्युत उस से अधिक विस्तृत, अधिक आबाद, और कहीं अधिक सुसंगठित, संपन्न तथा समृद्ध था। दूसरी शताब्दी ई० के आरंभ में अपने चरम उत्कर्ष के समय

भी रोम-साम्राज्य विस्तार और क्षेत्रफल में चार शताब्दी पहले के मौर्य साम्राज्य का मुश्किल से मुकाबला कर सकता था। जन-संख्या में वह उस से कहीं छोटा रहा, और आर्थिक और व्यावसायिक समृद्धि में वह तब भी भारतवर्ष के सामने निरा कंगाल रहा, तब भी उस के राजनीतिज्ञ इस बात को रोते रह गये कि भारतवर्ष अपनी कारीगरी की चीज़ें भेज कर हर साल रोम से रुपया खींचता जाता है![1]

इटली की राष्ट्रीय एकता की तुलना यदि करनी हो तो मगध या वृजिसंघ या कलिंग या आन्ध्र की राष्ट्रीय एकता से करनी होगी। उन के विषय में हम बहुत नहीं जानते, पर कलिंग ने मगध का जैसा मुकाबला किया था, और एक बार नंदों की और फिर मौर्यों की अधीनता से जिस प्रकार गर्दन छुड़ा ली थी, उस से जान पड़ता है कि राष्ट्रीय जीवन की भारतवर्ष के जनपदों में भी कुछ कमी न थी। और समूचे भारतवर्ष में मौर्य साम्राज्य ने और उस के उत्तराधिकारी साम्राज्यों ने जो राजनैतिक एकता और स्थिरता बनाये रक्खी, तथा जो राष्ट्रीय जीवन की एकता किसी अंश तक पैदा कर दी, वह उस से निश्चय कहीं अधिक थी जो कि समूचे रोम-साम्राज्य या उस के उत्तराधिकारियों ने अपने क्षेत्र में बनाये रक्खी या पैदा की।

इतनी बात निश्चित प्रतीत होती है कि भारतवर्ष के इतिहास में मौर्यों

[1] प्लिनी (Pliny) नामक रोमन लेखक ने ७७ ई० के लगभग लिखा कि भारतीय माल रोम में आकर सौगुनी कीमत पर बिकता है, इस के द्वारा भारतवर्ष रोम साम्राज्य से हर साल ५½ करोड़ की रकम खींच ले जाता है, और "यह कीमत हमें अपनी ऐयाशी और अपनी स्त्रियों के लिए देनी पड़ती है।" पैट्रोनस (Petronus) नामक लेखक ने रोमन स्त्रियों की बेपर्दगी की शिकायत करते हुए लिखा है कि वे "बुने हुए हवा के जाले" (भारतीय मलमल) पहन कर अपना सौन्दर्य दिखाती हैं, और अपनी लाज नहीं रखतीं।

के समय में जो बड़े बड़े एकराज्य स्थापित होते रहे, उन में से प्रत्येक के क्षेत्रफल, जन-संख्या और जीवनकाल की तुलना यूरोप के इतिहास के आधुनिक युग से पहले तक के राज्यों से की जाय, तो राजनैतिक एकता और राजनैतिक स्थिरता के उस हिसाब में भारतवर्ष ही बाजी ले जायगा।

रोम या इटली की सीमा के बाहर रोम साम्राज्य का फैलना और भारतवर्ष की सीमाओं के बाहर भारतीय साम्राज्य का फैलना एक पाये की बातें नहीं हैं। तो भी अशोक से चार-पाँच शताब्दी पीछे तक भारतवासियों ने चीन और भारत के बीच के उस विशाल प्रायद्वीप को, जिसे वे स्वर्णभूमि कहते थे और जिसे आज की दुनिया परला हिंद (Further India) कहती है ऐसा भारतीय बना डाला कि चीन वाले उसे 'शिन्तू' (हिंद) का हिस्सा मानते और रोमन लोग उसे 'गंगा पार का हिंद' (Trans-Gangetic India) कहने लगे। उस के पड़ोस के 'सुवर्ण द्वीप'—जावा, सुमात्रा, बाली आदि भी पूरी तरह भारतीय उपनिवेश बन गए, और उधर पामीर के पार आधुनिक चीनी तुर्किस्तान के देश में भारतीय बस्तियाँ इस प्रकार जम गईं कि आजकल के विद्वान उसे 'उपनला हिंद' (Serindia) कहते हैं। विचार करने पर यह पाया जायगा कि अशोक की 'धम्मविजय' की नीति उन उपनिवेशों की बुनियाद रखने में बड़ी सहायक रही। यह ठीक है कि भारतवर्ष और बृहत्तर भारत के वे सब राज्य और उपनिवेश मिलकर शायद कभी एक अकेले साम्राज्य में सम्मिलित नहीं रहे; किंतु प्राचीन युग के साधनों और हथियारों से क्या उतना बड़ा साम्राज्य खड़ा करना कभी संभव भी था? तो भी, क्या यह अच्छा न होता कि अशोक ने कम से कम तामिल राष्ट्रों और ताम्रपर्णी (सिंहल) को मौर्य साम्राज्य में मिला लिया होता? बेशक यदि वह चाहता तो उन्हें जीत लेना असंभव न होता, किंतु शायद उन के लिए वही क़ीमत देनी पड़ती जो कलिंग के लिए देनी पड़ी थी।

डाक्टर भण्डारकर ने स्वयं सिद्ध किया है[1] कि पाण्ड्य राज्य एक आर्य उपनिवेश था, जो अशोक के समय से करीब दो शताब्दी पहले स्थापित हुआ था। ताम्रपर्णी भी निश्चय से उसी तरह का उपनिवेश था, और चोल, केर (केरल) और संभवतः सातियपुत्र भी। नए और दूर के उपनिवेश पुराने राष्ट्रों की अपेक्षा सदा अधिक जानदार और अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए अधिक तत्पर होते हैं। ये कम से कम कलिंग की तरह मौर्यों का मुकाबला करते, इस में सन्देह नहीं। और उन के साथ 'विजित' में शामिल हो जाने का फल क्या निकलता? यही न कि समूचा भारतवर्ष एक राज्य बन जाता, जिस से उस में एक समान कानून, समान व्यवहार और एकराष्ट्रीयता का विकास होना सुगम हो जाता? किन्तु क्या ये सब लाभ अशोक ने अपने 'धम्मविजय' से ही न पा लिए थे? क्या उस का धम्मविजय एक 'शान्तिमय दखल' (Peaceful penetration) न था? यदि वह अपने प्रभाव और रौबदाब से ही पड़ोसी राज्यों में अपने राज्य की तरह सब काम करवा सकता था तो उसे व्यर्थ में हत्या करने की और स्वाधीनता-प्रेमी छोटे छोटे राष्ट्रों को साम्राज्य का जानी दुश्मन बना लेने की ज़रूरत क्या थी?

व्यक्ति और छोटे समूहों की स्वाधीनता और बड़े राष्ट्रों की राष्ट्रीयता दोनों अच्छे आदर्श हैं, किन्तु दोनों में सदा से खींचातानी रही है। दोनों की अति बुरी है। व्यक्ति और छोटे समूह बड़े राष्ट्रों के अधीन होना न सीखें तो वे कूपमण्डूक बन जाते हैं, दूसरी तरफ बड़े राष्ट्रों की एकराष्ट्रीयता की साधना में व्यक्तियों और समूहों की स्वतन्त्रता बिलकुल कुचल दी जाय तो मनुष्य की मनुष्यता नष्ट हो जाती है। राष्ट्रीयता और एकराज्य का भाव केन्द्राभिमुखी प्रवृत्ति पैदा करता है, और स्वाधीनता का भाव केन्द्रापसारी (centrifugal)। ज़िन्दा जातियों के इतिहास में उन दोनों प्रवृत्तियों का प्रतितुलन बराबर होता

[1] 'कार्माइकेल लेक्चर्स' १९१८, पृ० ९-११।

रहता है। चन्द्रगुप्त और बिन्दुसार को युद्धों में ही फ़ुरसत मुश्किल से मिली होगी। अर्थशास्त्र में हमें इस बात की कुछ झलक मिलती है कि छोटे छोटे जनपदों के संघों को तोड़ने के लिए उन्हें कैसे विकट साधनों का प्रयोग करना पड़ा था।[1] यह निश्चय मानना चाहिए कि उन पराजित जनपदों का असन्तोष मगध [illegible] साम्राज्य के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया और विद्रोह पैदा कर देता यदि अशोक ठीक मौके पर क्षमा और शान्ति की घोषणा न कर देता। उस की उस गौरव के समय संयम की नई नीति ने देश की 'राजनैतिक स्थिरता और राजनैतिक एकता' को ढीला करना तो दूर, उसे उलटा पुष्ट किया।

साम्राज्यों का संगठन सदा शस्त्रों और 'दण्ड' से ही नहीं होता, समय समय पर उन्हें 'साम' की अधिक अपेक्षा होती है। दण्ड के ज़ोर पर बहुत से जनपदों के एक राज्य के अधीन जुटे रहने से ही उन में एकराष्ट्रीयता पैदा नहीं हो जाती; शान्ति की नीति से अनेक साधनों से उन में जो आन्तरिक एकता उत्पन्न की जाती है, वही एक राष्ट्रीयता की पक्की बुनियाद होती है। उस प्रकार की आन्तरिक एकता पैदा करना अशोक की विशेष नीति प्रतीत होती है। उसे "व्यवहारसमता और दण्डसमता अभीष्ट" थी। अपने 'विजित' के अंदर उस ने जो सुधार किए सो किए, किन्तु अपने अधीन जनपदों—योन, कम्बोज, रठिक, आन्ध्र आदि में—भी उस ने धर्म-महामात्र नियुक्त कर दिए, जिन का काम सब जगह क़ानून और व्यवहार (न्याय) की प्रक्रिया को एक समान मृदु बनाना था। यदि दण्ड के ज़ोर पर अशोक अपने इन अधीन जनपदों के क़ानून और प्रथा में दख़ल देता तो शायद वे उलटा विद्रोह करने को प्रवृत्त होते।

इस के अतिरिक्त एक और प्रकार से अशोक के "प्रक्रम" के कारण भारतवर्ष की आन्तरिक एकता और एक राष्ट्रीयता जैसे बढ़ी उसे स्वयं डा० भंडारकर ने सब से पहले पहचाना है। वे कहते हैं—"उस (अशोक) के समय तक समूचा भारत आर्य हो चुका था। किन्तु विभिन्न प्रान्तों की अपनी

[1] अधिकरण १२, अध्याय ५, तथा अधिकरण ११।

अपनी विभिन्न बोलियाँ थीं किन्तु उस ने अपने धर्म के प्रचार के लिए जो भारी प्रयत्न किए, उन से एक प्रान्त और दूसरे प्रान्त का अन्तर अनायास घट गया और दूसरों से मेल लगा, और एक समान भाषा की—एक ऐसी भाषा की जो सब प्रांतों में पढ़ी और समझी जाय, और न केवल सांसारिक प्रत्युत धार्मिक विषयों में भी विचार-विनिमय का माध्यम बन जाय—सब जगह जरूरत अनुभव की जाने लगी। इस प्रकार पालि अथवा अभिलेखों वाली प्राकृत भारतवर्ष की राष्ट्रभाषा स्वीकार की गई।"[1]

और जहाँ अपने साम्राज्य के अंदर अशोक ने यह सब किया, वहाँ बाहर क्या किया? उस का 'धम्मविजय' क्या चीज थी? उस ने अपने पड़ोस और दूर के विदेशों के अंदर अपने चिकित्सालय खुलवा दिए, सड़कों पर पेड़ लगवा दिए तथा पथिक-शालाएँ बनवा दीं। हम नहीं जानते कि यह सब ठीक ठीक कैसे हुआ, किन्तु वे चिकित्सालय और वे पथिक-शालायें क्या विदेशों में उस का प्रभाव फैलाने वाले केंद्र न थे? जैसा कि मैंने अभी कहा है, क्या उस की 'धम्मविजय' की नीति वही चीज नहीं है जिसे हम आज कल की राजनैतिक परिभाषा में 'शांतिपूर्वक दखल' (Peaceful penetration) कहते हैं? अपने प्रभाव और दबदबे से जहाँ हाथ डाला जा सके, वहाँ व्यर्थ में युद्ध क्यों किया जाय? अशोक के वचनों और कार्यों पर जरा भी ध्यान दें तो वह एक सधा हुआ साम्राज्यवादी दिखाई देता है। उस की नीति का परिवर्तन 'मगध की अद्भुत राजनीति' की एक नई और अत्यंत समयोचित अभिव्यक्ति थी। किंतु वह परिवर्तन सहज सयानेपन से प्रेरित एक सच्चा आंतरिक परिवर्तन था। उस की और आजकल के शांतिपूर्वक दखल करने वाले साम्राज्यवादी राजनीतिज्ञों की बातों और बर्ताव में केवल यही अंतर है कि आजकल के उन राजनीतिज्ञों की कृति और उक्ति में जहां कुछ मक्कारी झलक जाती है, वहाँ अशोक का बुरे से बुरा दुश्मन भी नहीं कह सकता कि उस की बातों पर सरल सचाई की छाप नहीं है।

---

[1] 'अशोक', पृ० २२५।

फिर जब मौर्य-साम्राज्य की रोम-साम्राज्य से तुलना की गई है तब इस बात की याद दिलाना भी मनोरंजक होगा कि अशोक ने तेरहवें शिलाभिलेख में अपने उत्तराधिकारियों को नए विजय न करने का जैसा आदेश दिया है, कुछ उस से मिलता जुलता आदेश रोम के पहले सम्राट् ऑगस्तस (Augustus) के प्रसिद्ध अंकुरा (आधुनिक अंगोरा) अभिलेख में भी है। ९ ई० में त्यूतोबर्जवाल्ड में जर्मनों से हारने पर ऑगस्तस ने यह समझ लिया कि रोम-साम्राज्य की सीमाएं एल्ब नदी तक नहीं पहुंचाई जा सकतीं, और इसलिए अपने उक्त अभिलेख में—जिस की एकमात्र प्रति अब अंकुरा में बची है—उस ने अपने वंशजों को यह वसीयत की कि साम्राज्य को और अधिक बढ़ाने के जतन न किए जायें। क्या यह आदेश अशोक के आदेश के समान नहीं है? दोनों में भेद केवल यह है कि अशोक का आदेश जहाँ एक आंतरिक पश्चात्ताप और धर्मवेदना के कारण है, वहाँ ऑगस्तस का अपनी हार के अनुभव के कारण। उस धर्मवेदना के कारण अशोक ने जो अनेक सुधार किए उन में से एक था 'समाजों' अर्थात् पशुओं की लड़ाई को रोकना। प्राचीन रोम भी अपने उस प्रकार के 'समाजों' के लिए बदनाम है। और जिन आधुनिक भारतीय आलोचकों के मन में यह विश्वास प्रवेश करता प्रतीत होता है कि अशोक की उस अहिंसा-नीति से अथवा उस प्रकार की भोंडी क्रूरता को रोकने की नीति से भारतीयों की क्षात्रशक्ति क्षीण होने लगी, उन्हें इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि रोम-साम्राज्य के पतन के मुख्य कारणों में रोमन जनता का 'समाजों' का व्यसन भी गिना जाता है। भोंडी क्रूरता और वीरता कभी एक वस्तु नहीं है, और गौरव के समय जो मनुष्य या राष्ट्र संयम करना नहीं सीखते उन का पतन उलटा जल्दी होता है। रोमन लोग अपने गौरव-काल में भी जहाँ अपने उजड्डपन को न रोक सके, वहाँ भारतवासियों ने अपने गौरव के समय अपनी सहज मानवोच्चता के कारण अपनी पुरानी उजड्ड आदतों का दमन कर लिया। और भारतवर्ष की उस मानवोच्चता का मूर्तिरूप अशोक था।

मालवी के भेद तथा उन की विशेषताएँ

[लेखक—श्री रामाज्ञा द्विवेदी, एम० ए०]

मध्यभारत का मालवा प्रांत चिरकाल से प्रसिद्ध रहा है। मालवी मुख्यतः इसी भाग की बोली है, यद्यपि विकृत रूप में यह पूरब में मध्यप्रांत के होशंगाबाद, बेतूल आदि जिलों में, उत्तर में ग्वालियर, टोंक तथा कोटा के कुछ भागों में और पश्चिम में भालावाड़ राज्य के अंतर्गत भी बोली जाती है। दक्षिण में तो कुछ भीली बोलियों, खानदेशी तथा मराठी भाषाओं में जाकर यह लुप्त हो जाती है। जिस प्रकार मेवाती राजस्थानी का वह रूप है जिस में होकर वह पंजाबी एवं ब्रजभाषा बन कर प्रगट हो जाती है, ठीक उसी तरह मालवी भी बुंदेली तथा गुजराती की मध्यवर्ती राजस्थानी का एक स्वरूपमात्र है। मालवी बोलने वालों की संख्या सब मिला कर लगभग एक करोड़ के है जिस में उपरोक्त भौगोलिक प्रांतों के अतिरिक्त कुछ बाहर के रहनेवाले भी सम्मिलित हैं जो मालवी बोलते हैं।

वैसे तो मालवा-प्रांत में मालवी की दो मुख्य शाखाएँ हैं एक राँगड़ी दूसरी मालवी। राँगड़ी का दूसरा नाम राजवाड़ी भी है और यह प्रायः यहाँ के राजपूतों की ही बोली है जैसा इस के दूसरे नाम से प्रकट होगा। ऐसा जान पड़ता है कि पहले-पहल जब राजपूत लोग इस प्रांत में आए तो वे इस बोली में राजपूताने की मारवाड़ी अथवा मेवाड़ी का मिश्रण करने लगे जिस का फल यह हुआ है कि जहाँ कहीं मालवी एवं राँगड़ी में भेद है उस में प्रायः मेवाड़ी अथवा मारवाड़ी की ओर झुकाव पाया जाता है। अनुमान किया जाता है कि राजपूतों और दूसरी जातियों का भाषा-संबंधी यह भेद-भाव बहुत दिनों तक चलता रहा होगा और इस में दोनों पक्षों की गर्व-भावना सहायक हुई होगी। क्योंकि साधारण मालवी का दूसरा नाम

आता था है जिस से ज्ञात होता है कि यह [illegible] का भाग है इस संबंध में पाठकों को स्मरण रखना चाहिए कि राजस्थानी भाषा का एक उपभेद मालवई के नाम से प्रसिद्ध है और गुजराती का एक भेद जिसे खान-देशी कहते हैं कभी कभी अहीराणी के नाम से भी पुकारा जाता है। भाषा तत्त्वज्ञों का यह मत है कि खानदेशी बोली भाषा होने के कारण ऐसा जान पड़ता है कि भील अथवा भिल्ल तथा आभीर अथवा अहीर में घनिष्ठ संबंध है एक दूसरे का अपभ्रंश हो सकता है। इस की पुष्टि के लिए एक प्रबल प्रमाण यह मिल जाता है कि खानदेश तथा अहीरवटी प्रांत के बीच में वह भौगोलिक भाग है जिस में भील लोग रहते हैं। यह ऐतिहासिक अनुसंधान की बात है और भाषा-संबंधी इस विवेचन में यद्यपि इस का घनिष्ठ संपर्क है, पर हम इसे यहीं छोड़ देते हैं।

मालवी में एक ओर तो राजस्थानी के लक्षण पाए जाते हैं और दूसरी ओर गुजराती के। उच्चारण की विशेषता मालवी का एक मुख्य लक्षण है। 'ह' का उच्चारण प्रायः कम होता है, चाहे ह-कार किसी व्यंजन में मिला हो अथवा पृथक् हो—जैसे दूध को दूद कहेंगे, मिट्ठी (चुंबन) को मट्ठी (मिट्टी नहीं क्योंकि मट्ठी तथा मिट्टी में भेद रखना है), काढ़ो (निकालो) को काड़ो, भी को बी, अढ़ाई को अड़ाई, पहलवान को पैलवान, साहब को साब, कह्यो को क्यो, रहनो को रैनो आदि। ह-कार के लोप के कारण पूर्ववर्ती अक्षर में 'ए' अथवा 'इ' का संयोग हो जाता है, जैसे कहनो से कैनो, रह्यो से रियो अथवा रयो। पर कह्यो से क्यो ही होता है, किया नहीं, क्योंकि कियो (किया) से इस की समानता बचाना है।

इसी प्रकार राजस्थानी की भाँति इस में भी 'ऐ' को 'ए,' 'औ' को 'ओ' तथा कभी कभी इ-कार एवं उ-कार का लोप करके केवल अ-कार का उच्चारण करते हैं। जैसे चैनसिंह को चेनसी, है को हे, और को ओर इत्यादि। इसी भाँति कुँवर को कँवर, ठाकुर को ठाकर, दिन को दन आदि कहते हैं। कभी कभी 'ब' को 'व' की तरह बोलते हैं जो सर्वथा गुजराती प्रवृत्ति है, जैसे बात को वात। राँगड़ी में तो 'न' को प्रायः 'ण' की तरह बोलते हैं, जैसे जानो को जाणो,

अपनो को अपणो, आदि। स्थान-वाचक अव्यय शब्दों में तो मराठी की छाप जान पड़ती है। मराठी में 'कुठे' (कहाँ ?) बोलते हैं तो मालवी में कठे, कठा से (कहाँ से) कठो (कहाँ को) उठो (वहाँ) उठा से (वहाँ से) जठो (जहाँ) जठा से, जठे और उसी तरह अठो (यहाँ) अठा से, अठे, वठो, वठे (वहाँ) वठा से (वहाँ से) आदि बोलते हैं।

'ने' का प्रयोग तो खड़ी बोली की ही भाँति है, पर एकाध स्थलों पर इस का विचित्र उपयोग करते हैं। जैसे कोई ने (किसी ने) और रॉगड़ी से करणी नें कहेंगे। इसी तरह अपन-ने (हम ने) आपा ने (हम को) अपन (हम) आदि प्रचलित है। 'अपन' शब्द मालवी का विशेष है, क्योंकि इस का अर्थ बहुवचनात्मक होने के अतिरिक्त उत्तम पुरुष तथा मध्यम पुरुष दोनों के ही लिए व्यापक होता है—जैसे अपन आज बाजार चलेंगे=हम तुम आज बाजार चलेंगे। कभी कभी ने 'को' के अर्थ में प्रयुक्त होता है, जैसे—अपन ने ऐसा नहीं करना=हम लोगों को ऐसा नहीं करना (चाहिए); अपने रुपया देना है=अपने को रुपया देना है। स्वयं के अर्थ में संबंध कारक का 'अपना' शब्द अन्य पुरुष के लिए प्रायः नहीं प्रयुक्त होता, बल्कि अंग्रेजी की तरह 'उस का' (ओका) प्रयोग में आता है—जैसे छोरा ने ओका बाप से कयो=लड़के ने अपने बाप से कहा। कहते हैं कि 'आप' शब्द का प्रयोग भी मालवी में थोड़े दिनों का है, नहीं तो आदरप्रदर्शन के लिए 'तुम' का 'तम' कर देते हैं, यद्यपि दोनों के लिए प्रायः क्रिया का रूप एक ही रहता है, जैसे तुम जावगा, तम जावगा आदि। पर 'आप' में संबंधकारक का चिह्न 'रो' तथा 'को' लगता है, जैसे आप रो, आप को। बँगला के 'र' की तरह सप्तमी विभक्ति वाली संज्ञा के साथ का संबंध-कारक का चिह्न 'रे' होता है—जैसे पितारे घरे=पिता के घर में। आदर प्रदर्शक 'सा' एवं 'जी' दो शब्द और हैं जो संबंध-वाची शब्दों के साथ जोड़ दिए जाते हैं, जैसे काका सा, काका जी। 'सा' तो 'साहब' का संक्षिप्त रूप जान पड़ता है या शायद 'शाह' का विकृत रूप हो, क्योंकि नामों के साथ बहुधा 'शाह' लगाते हैं।

भविष्य काल के क्रियारूप में सभी वचनों तथा पुरुषों के लिए 'गा'

समान रूप से लगता है। हाँ कभी कभी प्रथम पुरुष एक वचन के लिए 'गा' के स्थान में 'गो' हो जाता है और क्रिया के लिए 'गो' हो जाता है जैसे

मैं करूँगा अथवा करूंगो	हम करांगा
तू करोगा	तुम करोगा
वह करेगा	वे करेगा

क्रियाओं के भूतकाल में 'थो' तथा 'थी' लग जाता है और केवल 'था' के लिए रांगड़ी में 'थको' होता है, जैसे मैं थको (मैं था)। पूर्वकालिक का चिह्न 'ने' है जैसे लई ने लेकर आई ने आकर आदि। यह 'ने' प्रायः बोलने में 'न' हो जाता है। कुछ क्रियाओं के भूतकालिक रूप गुजराती की भाँति चलते हैं जैसे, देगो (देना) से दीधो, दीदो तथा दियो, लेगो (लेना) से लीधो, लीदो एवं लियो और इसी प्रकार 'किया' की जगह कीधो, कीदो तथा करयो होता है। कर्मकारक का चिह्न 'को' लिखने में 'क' परंतु बोलने में 'ख' के रूप में प्रकट होता है, उसी प्रकार 'में' को 'म' बोलते हैं। 'ही' के अर्थ में 'ज' प्रत्यय लगता है जैसे 'थोड़ा ज' (थोड़ा ही) और घृणासूचक प्रत्यय ड़ा, ड़ी एवं ड़ा कभी-कभी शब्दों में लगा दिए जाते हैं, जैसे टेकड़ी (छोटी सी पहाड़ी), मिनकड़ी (छोटी सी बिल्ली) टेगड़ा (छोटा कुत्ता) बालूड़ा (छोटे बच्चे) आदि। एकाध शब्दों में 'ड़ा' की जगह 'ला' बोला जाता है, जैसे कूकड़ला (मुर्गा)।

इसी प्रकार मालवी में कितने ही शब्द ऐसे हैं जो इस के अपने शब्द हैं और उच्चारण में बड़े बेढब से जान पड़ते हैं। यहाँ एक छोटी सी सूची पाठकों के मनोरंजनार्थ दी जाती है :—

मिनकी (बिल्ली), बासदी-ती (आग), लाड़ा (दुलहा), लाड़ी (दुलहिन), दाय जी (पिता), किरसाण (किसान), सुन्नो (सोना), मोड़ (महुआ), कुतरो (कुत्ता), ढाँसणो (खाँसना), घुका (बहुत), झाड़ (पेड़), लोई (खून), सूर (सूअर), बीटी (अँगूठी)।

इन शब्दों में 'लोई' तो 'लोहू' से बहुत दूर नहीं है और 'सूर' भी 'सूअर' का दूसरे तरह का उच्चरित रूपमात्र है। अब हम नीचे एक छोटी

सी कहानी मालवी में लिखी हुई देते हैं जिस से पाठकों को इस के व्याकरण तथा उच्चारण आदि के संबंध में कुछ ज्ञात हो जायगा—

"एक गाँव म एक बुढ्ढो पेलवान रेतो थो। ऊन[1] मुक्ता[2] चेलाना ख[3] पेलवानी सिखई थी। पण[4] ऊन एक चेला ख ओका सब दाँव पेंचना बतई दिया था। ऊन्न[5] ओकास[6] कई वी[7] छिपई न[8] नी[9] रक्ख्यो थो। ऊना बुढ्ढा पेलवान ख ओका राजा का य्हाँ स[10] थोड़ी भोत तनखा वी मिलन लगी थी।

एक दिन ओका चेला न सोच्यो कि गुरु जी मुफत की तनखा खाय इ, वे बुढ्ढा हुइ गया इ, हात पाँग म अब कई ताकत वी नी ह। ए पर वी पेलवानी को घमंड बताव इ। हूँ जवान हुँ अजु[11] इनी जगा क लायक हुँ। या जगा म ख[12] मिलनी चइय[13] असो सोची न वो राजा का पास पोंच्यो अजु अरज करी कि "म्हाराज म्हारा गुरु जी अब बुढ्ढा हुइ गया इ। ऊन म अब कई ताकत वी नी इ जो वे छोराना ख[14] सिकई सक न नोकरी करी सक। जो आप उनकी जगा मख दइ सको तो हूँ इना काम ख भोत अच्छी तर करी सकूँगा।" एख सूणी न[15] राजा न कयो, "एको कई कारन ह कि वे कमजोर हुइ गया ह?"

वो बोल्यो कि सरकार एको इम्त्यान तम ऊनख म्हारा स[16] लड़ई न[17] करी सको हो। राजाख यो सुणी न बड़ो घुस्सो[18] आयो अजु वे ओकास बोल्या—"देख तू उनस कवी नी जीती सकेगा अजु जो तू जीती जायगो तो उन की जगा थुक[19] दइ दी जाय गी अजु जो हरी जाय गो तो गुरु जी को हक हुइ जायगो कि वे थारो[20] जीव तक लइ सक।" यो जवाब सुणी न वो जवान

---

[1]उस ने। [2]बहुत। [3]चेलों को। [4]पर। [5]उन्हों ने।
[6]उस से। [7]कुछ भी। [8]छिपा कर। [9]नहीं। [10]यहाँ से
[11]और। [12]मुझे। [13]चाहिए। [14]लड़कों को।
[15]यह सुनकर। [16]मुझ से। [17]लड़ाकर। [18]गुस्सा।
[19]तुझे। [20]तेरा।

सुन इइ न गुरु ना म लडन स्य तय्यार हुइ गया। आन्य[1] या पक्को मन सो था कि गुरु जी आसा कभी था ना जाती सकगा।'

मालवी के अन्तर्गत रांगड़ी के अतिरिक्त और कई छोटे मोटे भेद हैं। रांगड़ी को छोड़ कर इन में मुख्य दूसरा भेद निमाड़ी है जो निमाड़ प्रांत की भाषा है और जो मालवी से बहुत भिन्न है, इतना भिन्न कि कभी कभी इसे पृथक् भाषा मानते हैं, पर भाषा-विज्ञान की दृष्टि से वास्तव में यह मालवी का एक अंशमात्र है। छोटे भेदों में सोंडवाड़ी, पाटवी, भोयरी, ढोलेवाड़ी, डांगभांगवाड़ी मालवी, कोटे की मालवी, भोपाल की मालवी, ग्वालियर प्रांत की मालवी आदि हैं। इन में से पाटवी मध्यप्रांत के केवल चांदा ज़िले में एक छोटी सी जाति के लोगों द्वारा बोली जाती है जो पटवा कहलाते हैं और जिन की संख्या एकाध हज़ार के भीतर ही है। इन लोगों की भाषा मराठी तथा गुजराती के विकृत शब्दों से भरी है और मालवी शब्द भी प्रायः इस में तोड़-मरोड़ दिए गए हैं जैसे 'कोन' (कौन) को 'कोनी' 'खरच' को खरच्या आदि। दक्षिण में यही भाषा गुजराती का एक अपभ्रंश होकर पटनूली अथवा पटवेगारी नाम से विख्यात है। पटवा लोग रेशम बुनने का व्यापार करते हैं और 'पाट' (रेशमी वस्त्र) शब्द से ही इन का यह नाम पड़ा है।

इसी प्रकार भोयरी भोयर लोगों की बोली है जो बैतूल प्रांत में रहते हैं और कुछ छिंदवाड़े में भी पाए जाते हैं। इन दोनों प्रांतों की भोयरी में भी कुछ अंतर है और दोनों के बोलनेवालों की संख्या कुल मिलाकर २०,००० से कम ही है। इस बोली में 'ला' प्रत्यय कर्मकारक का चिन्ह है और इस के कुछ शब्द भी अपने हैं जैसे जवर (पास) अवघा (सारा) आदि। बैतूल के ज़िले में ही ढोलेवाड़ी नाम की दूसरी बोली प्रचलित है जिस के बोलने वालों की संख्या लगभग १५०,००० है। बैतूल का ज़िला भाषाओं की दृष्टि से बड़ा पेचीदा ज़िला है और इस में सब मिलाकर आधी दर्जन बोलियाँ पाई जाती हैं। मराठी और गोंडी के बोलनेवाले एक एक लाख हैं, कूरकू भाषा

---

[1] उस को।

बोलने वाले लगभग ५०,००० हैं और डोलेवाड़ी स्वयं मालवी, नीमाड़ी तथा बुंदेली की खिचड़ी है। भोपाल लोगों का कहना है कि ये पहले पहल मालवा की धारा नगरी से आए और डोलेवाड़ी कुरमी जो डोलेवाड़ी बोलते हैं अपने को युक्त प्रांत के उन्नाव जिले से आए हुए बतलाते हैं। उन्नाव की बैस-वाड़ी का ही प्रभाव है कि डोलेवाड़ी में मालवी 'थो' 'हत्यो' करके बोला जाता है और 'भयो', 'हतो' इत्यादि भी प्रायः मिलते हैं।

होशंगाबाद में यद्यपि बुंदेली मुख्य भाषा है, पर इस के पश्चिमी भाग में टूटी-फूटी मालवी बोली जाती है जिस के बोलनेवालों की संख्या १,५०,००० के लगभग है। डोलेवाड़ी की तरह यह भी तीन बोलियों की खिचड़ी है और इस में कुछ भीली की प्रवृत्ति भी पाई जाती है, जैसे 'लीस के' (लेकर)। इसी तरह 'गयो' के स्थान में यहाँ 'गो' 'ह' (है) के लिए 'छे' आदि बोलते हैं। 'हथा', को 'हते' कितनो (कितना) को 'कितरो', 'आगे'-'आगे' को 'आगा-आगे', 'ऊँचो' (ऊँचा) को 'उंचो' बोलते हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर मध्यप्रांत के इन सब जिलों में मालवी बोलनेवालों की संख्या तीन और चार लाख के बीच में है।

ग्वालियर तथा कोटे की मालवी टोंक रियासत के कुछ भागों तक बोली जाती है। सब मिलाकर इस के बोलनेवाले छ लाख के लगभग हैं। कोटे में इस मालवी का नाम कुंडली है और ग्वालियर से मिले हुए कोटे के भागों में इसे डंगेरी, डंगसरा अथवा डंगाहिई कहते हैं, क्योंकि कोटे का एक भाग डांग कहलाता है। मालवी के इस भेद में बहुत सी विशेषताएँ हैं, जैसे, 'थो' के स्थान में 'हो' (और उसी प्रकार 'ही' तथा 'हा') 'तुम' के लिए 'थाँ' 'हम' के लिए 'म्हाँ' (जो 'हूँ' अर्थात एक वचन 'मैं' के लिए भी प्रयुक्त होता है) 'में' के स्थान में 'ह' 'को' के स्थान में 'ने' (जैसे गाँव ने=गाँव को) आदि बोलते हैं। मालवी में 'मुझको' को लिए 'मख' कहते हैं तो यहाँ 'म्हई' बोलते हैं और न-कार के स्थान में ण-कार की प्रवृत्ति भी अधिक पाई जाती है। स्वरों का विनिमय भी बहुत होता है, जैसे 'गिरणो' के लिए 'गरणो' (गिरना) 'रह्यो हो' के लिए 'रो हो हो', 'दिन' की जगह 'दन' 'गयो' की जगह

गिया आदि। इसी प्रकार व्यंजनों में भी परिवर्तन हो जाता है जैसे 'साथ' (साथी) को 'सात' तथा 'भूखो' (भूखा) के स्थान में 'भूक्यो' कहते हैं।

जो भाग पहले भोपावर एजेंसी में था और अब इंदौर एजेंसी में है, उस में थोड़ी सी भिन्न मालवी बोली जाती है। इसके बोलनेवाले भी १,५०००० के लगभग हैं और यह झाबुआ तथा इस का आस पास की छोटी रियासतों में ही प्रायः बोली जाती है। इस में भी स्वरों तथा व्यंजनों का विनिमय एक विशेषता है जैसे 'निकलना' का लक्खनो, 'फिरनो' को 'फरनो' (घूमना) तथा 'औंधो' को 'ऊँधो' (औंधा) बोलते हैं। इसी प्रकार स-कार का प्रायः लोप हो कर उस के स्थान में ह-कार बोलते हैं, जैसे 'सराप' (श्राप-शाप) को 'हराप' तथा 'सुनपणो' (सुनना) को 'हुनपणो' आदि। कर्मकारक के चिह्न के लिए 'ने' तथा 'ए' लगता है, जैसे रामे (रामको) 'बापने' (बापको) थाने (तुमको) और 'में' के लिए 'ऊँ' लगता है, जैसे दूराऊँ (दूरमें)। सहायक क्रियाओं के साथ की दूसरी क्रिया में 'वा' प्रत्यय लगता है जैसे 'मरवा लागो' (मरने लगा) 'करवा लागो' (करने लगा)। आज्ञार्थक क्रिया-रूप में 'जे' तथा 'जो' लगता है जैसे 'मरजे'-मरो, 'पावजो' पिलाओ। मालवी में 'किया' के अर्थ में 'कीदो' या 'कीधो' होता है, इसमें 'कहा हुआ' के लिए 'कोदो' बोलते हैं। 'पीनो' (पीना) का प्रेरणार्थक 'पावनो' होता है जो 'पाना' के मालवी रूप से सर्वथा भिन्न है। 'प्यास' को नामाड़ी में 'तीस' (तृषा) कहते हैं, पर इस भाषा में वह 'तरस' हो जाता है। 'हाँ' के लिए इस में भी 'ज' प्रत्यय लगता है।

मालवी के छोटे-छोटे भेद तो हो गए, अब संख्या की दृष्टि से उस के दो बड़े भेद ये हैं जो भोपाल एजेंसी तथा पश्चिमीय मालवा में प्रचलित हैं। इन में से भोपाल एजेंसी की मालवी बोलनेवालों की संख्या लगभग २० लाख है और इसका केंद्रस्थल नरसिंहगढ़ समझा जाता है। कारक चिह्नों में 'हूँ' कर्मकारक का भी चिह्न है और 'में' के स्थान में भी प्रयुक्त होता है, जैसे घोड़ा हूँ, भैंसा हूँ (को); खाल हूँ (नदी में)। मालवी के अलींग (इधर) वलींग (उधर) की जगह इस में 'अनींग' 'उनींग' बोलते हैं। वर्ण-विनिमय

की प्रवृत्ति भी मिलती है, जैसे 'पै' की जगह 'फे' (पर), 'नजर' (उपहार) की जगह 'निजर' और 'ऊभो' (खड़ा होना) के स्थान में 'ऊवो' बोलते हैं। अवधी की भाँति इस में भी 'साथे' (साथ में) की जगह 'साने' बोलते हैं। भोजन करने के लिए "कांसो आरोगा" कहते हैं; और "धीरे-धीरे" के स्थान में "धीरों-धीरों" कहा जाता है। 'थ' और 'ध' की जगह प्रायः 'त' एवं 'द' का ही उच्चारण होता है, जैसे 'हात' (हाथ) बंदा (बंधा) आदि। इस के कुछ शब्द भी अपने हैं जैसे 'मेहरो' (डाला), 'चरवादार' (साईस), 'हेला' (हल्ला - शोरगुल), 'बूगदो' (पछाड़ी), 'ढेर' के' (निकाल कर) आदि।

पश्चिमीय मालवा एजेंसी की भाषा मध्य-मालवा की भाँति शुद्ध है और यद्यपि मालवा के पश्चिम में भीली भाषा बोलनेवालों की संख्या एक लाख के लगभग है और इधर-उधर कुछ और मिश्रण मिलता है, पर टोंक राज्य के किनारे तक जो मालवी बोली जाती है वह भाग एवं इंदौर की मालवी से कम शुद्ध नहीं है। इस के बोलनेवालों की संख्या लगभग १२ लाख है और इस में कोई मुख्य विशेषता नहीं। 'स' के स्थान में यहाँ भी 'ह' का प्राबल्य मिलता है, यहाँ तक कि 'साँझ' (संध्या को) के स्थान में भी 'हाँज' कहते है। क्रियाओं की दृष्टि से दो एक विशेषताएँ हैं जैसे आज्ञासूचक 'जे' के कारण कभी-कभी 'ह' का लोप हो जाता है। ('कहो जे') काहिये (के स्थान में 'कोजे') और मेवाड़ी तथा अवधी की भाँति एकाध क्रियाओं का भविष्य-रूप 'हूँ' लगाकर बनता है (बतैहूँ बतलाऊँगा अर्थात दिखलाऊँगा)। मालवी में 'बतलाना' का अर्थ दिखलाना होता है, चाहे मकान दिखलाना हो, गहने दिखाना हो या और कुछ। दूकानों में कपड़े गाहक को बतलाये जाते हैं, जौहरी लोग सोने चाँदी की चीजें भी दिखाते नहीं, बतलाते हैं। प्रेरणार्थक क्रिया भी मारवाड़ी की तरह 'ड' लगाकर बनती है और सकर्मक क्रिया पुरुष-हीन भूतकाल के रूप में कर्म के साथ साथ चलती है जैसे छोरा-ने रोवाड्या (बच्चे रुलाए गए), जो अन्यथा छोरा ने रोवाड्यो होता है। कुछ शब्दों के उच्चारण भी थोड़े भिन्न हैं, जैसे 'भागा-भागा' की जगह 'भाग्या-भाग्या' 'कलेजा'

भीलों से मिलता-जुलता है वैसे ही इन की भाषा में भीली बोलियों की प्रवृत्ति मिलती है। कितने ही शब्द सोंड़वाड़ी के ऐसे हैं जो मालवी के अन्यान्य भेदों में नहीं मिलते, जैसे वालडी (नौकर) माँड़ी (मां) रोठा (दावत) आदि। मालवी में 'वार' गज को कहते हैं तो इसमें 'वार' का अर्थ वर्ष होता है। आश्चर्य की बात यह है कि अवधी का 'बीरन' (भाई) शब्द यहाँ 'बीरो' के रूप में बोला जाता है और पश्चिमी हिंदी का 'बन्ना' (दूल्हा) शब्द यहाँ 'बना, बनड़ा, बनो' आदि रूप धारण कर लेता है। मालवी में कहीं-कहीं जैसे 'घात' को 'वात' कहते हैं, वैसे ही यहाँ 'वाट' को 'घाट' 'आपने' (हम) को 'आपो' तथा 'आपन' कहते हैं।

स-कार के स्थान में ह-कार का प्रयोग सोंड़वाड़ी की एक मुख्य प्रवृत्ति है। प्रायः प्रत्येक शब्द का 'स' 'ह' में परिवर्तित हो जाता है। स्वयं अपने को ये लोग 'सोंड़िया' की जगह 'होंड़िया' तो कहते ही हैं, इस के अतिरिक्त 'तीस' को 'तीह', 'सगलो-रो' (सारा) को 'हगलो-रो' 'साधू' (अच्छा) को 'हाऊ' (जैसे हाऊ आदमी -अच्छा आदमी) 'समझानो' को 'हमझानो' आदि कहते हैं। कभी-कभी तो ह-कार का भी लोप हो जाता है, जैसे 'ह्यो' (हुआ) की जगह 'वयो', 'ल्होरो'[1] (छोटा) को 'लोरो' तथा सम्हालणो' (सुनना) को 'हमालणो', 'समझाणो' के लिए 'हमजाड़नो' आदि। पश्चिमी मालवी का 'भेरो' (साथ-साथ) शब्द सोंड़वाड़ी में 'भेलो' हो जाता है। एक बात और स्मरणीय है कि इस बोली में प्रायः 'ल' का उच्चारण मराठी की तरह 'ल' तथा 'ळ' के बीच का होता है।

अब हम नीमाड़ी पर कुछ विचार करेंगे जो नीमाड़ प्रांत की भाषा है और जिस के बोलनेवालों की संख्या शुद्ध मालवी से कहीं अधिक है। नीमाड़ के अतिरिक्त नीमाड़ी इंदौर एजेंसी की कुछ रियासतों में बोली जाती है जिन

[1] यह शब्द अवधी में भी 'लहुर' के रूप में बोला जाता है और केवल 'भाई' 'या' बहिन' के ही लिए प्रयुक्त होता है। जैसे अवधी में 'लहुरका' कहते हैं वैसे ही यहाँ भी 'ल्होरका' या 'लोरका' बोलते हैं।

में मुख्य बड़वानी है। कुल मिला कर इस के बोलनेवालों की संख्या लगभग ५० लाख है। नीमाड़ी वाले इस भाग को कभी-कभी नीमाड़ भी कहते हैं। मालवा तथा नीमाड़ में जलवायु का भी बहुत अंतर है और रहन-सहन का भी, इसी से भाषा में भी भेद हो गया है। मालवा ठंडा है, नीमाड़ गर्म, एक रूखा है तो दूसरा गीला; मालवे में पर्दा है तो नीमाड़ी लोगों में बिलकुल नहीं, विशेष कर बड़वानी के पास के भाग में। इस का कारण शायद गुजरात की निकटता है, जिस से इस प्रांत की नीमाड़ी पर गुजराती का बहुत कुछ प्रभाव भी पड़ा दीखता है। नीमाड़ की भाषा में बुंदेली का थोड़ा सा प्रभाव दिखाई देता है, जैसे कर्मकारक के चिह्न बुंदेली 'खे' के स्थान में यहाँ 'खा' बोलते हैं।

इस के अतिरिक्त क्रिया के रूपों तथा अन्यान्य शब्दों के उच्चारण में मालवी तथा नीमाड़ी में बहुत अंतर है। भाषासंबंधी ये अंतर, शायद दोनों प्रांतों की प्रतिस्पर्धा से और भी स्पष्ट हो गए हैं, क्यों कि नीमाड़ी लोग अपने को मालवियों से बहुत चतुर समझते हैं। नीमाड़ की एक कहावत है—

"मालवा का पौंडा, निमाड़ का ढोडा"

अर्थात मालवा का पंडित नीमाड़ के मूर्ख के बराबर है। नीमाड़ी लोगों में टोने-टुटके तथा मंत्र-तंत्र का भी बड़ा साम्राज्य है जो शायद भीलों के पड़ोस के कारण है। भीली भाषा का भी थोड़ा बहुत प्रभाव नीमाड़ी पर पड़ा है विशेष कर क्रियाओं के वर्तमान काल के रूपों पर। भीलों की एक बोली पारवी कहलाती है जिस में क्रिया के वर्तमान काल के रूप में 'च' लगता है जो 'छे' या 'छ' का विकृत रूप जान पड़ता है। नीमाड़ी में भी इस 'च' का प्राबल्य है, यद्यपि विकल्प में यह 'ज' भी हो जाता है। उदाहरण के लिए—

हाऊं मारूँच या मारूँज	हम मारांच या मारांज
(मैं मार रहा हूँ)	(हम मार रहे हैं)
तू मारेच, मारच, मारेज, मारज	तुम मारोच या मारोज
(तू मार रहा है)	(तुम मार रहे हो)

अन्यपुरुष में एकवचन तथा बहुवचन के लिए एक ही रूप होता है यद्यपि 'च' तथा 'ज' का यह विनिमय उस में भी वैकल्पिक रहता है, जैसे वो मारेच

ज अथवा मारच-ज। मालवी में 'वह' के लिए 'व' कहते है, पर नीमाड़ी मे दोनों वचनों के लिए 'वो' बोलते हैं। गुजराती की भाँति भविष्य के रूप में 'स' लगता है जैसे—

हऊँ मारीस (मारूँगा) हम मारसा (मारेंगे)
तू मारसे (मारेगा) तुम मारसो (मारोगे)
वो मारसे (मारेगा) वो मारसे (मारेंगे)

'जाऊँग' (जाऊँगा) की भाँति कुछ क्रियाओं में मालवी की भाँति 'गा' लगा कर भी भविष्य का रूप बनाते हैं और एक क्रिया में तो अवधी की भाँति 'स' लगाकर भूतकाल का रूप भी बनता है, पर यह और क्रियाओ मे नहीं दिखाई पड़ता। यह शब्द 'हुसे' (हुआ) है और इस में खानदेशी भाषा के वर्तमान काल के 'स' की छाप जान पड़ती है। भूतकाल के रूप 'यो' तथा 'था' एवं 'थो' लगा कर बनते है जैसे, मन कर्‌यो (मैंने किया), तून कर्‌यो (तू ने किया) ऊन कर्‌यो (उस ने कियो); हऊँ करतो थो (मैं करता था) तू करतो थो तथा वो करता था। इसी प्रकार संदिग्ध भूत तथा हेतुहेतुमद्‌भूत भी बनते है, जैसे मन कर्‌यो होयग (मैंने किया होगा) जिस का 'होयग' सभी पुरुषों के लिए एक सा ही रहता है; कहि हऊँ जातो तो ओख लई आवतो (यदि मैं जाता तो उसे ले आता)।

जैसे 'ने' की जगह 'न' कहते है वैसे ही 'में' के लिए म कहते है। अनुस्वार और कई शब्दों में नहीं उच्चारण किया जाता, जैसे दात (दाँत)। ह-कार भी कम बोला जाता है जैसे 'भूखो' को 'भूको', 'हाथ' का 'हात'। क्रियाओं में जैसे 'ज' और 'च' का विनिमय हो जाता है वैसे ही कुछ शब्दों में 'न' का 'ल' और 'क' का 'ग' हो जाता है जैसे 'नीम' को 'लीम', 'मुकट' को 'मुगट' बोलते हैं। दीर्घ स्वरों का व्यंजनों के साथ उच्चारण कम होता है, जैसे 'आगे' को 'आग'। ह्रस्व के लिए यह प्रवृत्ति यहाँ तक प्रबल है कि 'नीमाड़' और 'नीमाड़ी' को 'निमाड़' तथा 'निमाड़ी' ही कहते हैं और शुद्ध हिंदी के शब्दों को भी लिखते समय नीमाड़ी लोग ह्रस्व-दीर्घ की खिचड़ी कर देते हैं। यह गड़बड़ मालवी लिखने तथा बोलने वालों में भी पाई जाती है जिस के कारण

इस प्रांत के हिंदी अध्यापकों का कार्य बहुत कठिन हो जाता है। उदाहरण के लिए, यहाँ के लोग 'कैसा' को 'कैसी हुआ' को हुया' और इसी प्रकार लीया, गीया, कीया, निचे, बिच मे, खिच लो आदि लिखते हैं।

क्रिया का साधारण रूप 'णू' (न) में होता है जैसे मारणू (मारना) करणू (करना) आदि। 'न' के स्थान में 'ण' तो बोलते ही हैं, 'ल' का भी उच्चारण प्रायः मराठी की भाँति 'ळ' की तरह होता है। 'न' 'ने' का काम देने के अतिरिक्त पूर्वकालिक का भी चिह्न है और "और" के अर्थ में भी आता है। 'ना' लगाकर बहुवचन बनाए जाते हैं, जैसे 'घोड़ो' से 'घोड़ाना', 'बेटो' से 'बेटाना', 'बाप' से 'बापना' आदि। उदाहरण के लिए घोड़ा-को (घोड़े का) और घोड़ानाको (घोड़ों का)। अपादान-कारक का चिह्न 'सी' तथा 'सू' है, 'नी' लगाकर कुछ भाववाचक संज्ञाएँ बनती हैं जैसे कटनी, बेटनी, छँटनी आदि; स्त्रीलिंग बनाने के लिए पुल्लिंग शब्दों में 'एण' प्रत्यय लगाते हैं, जैसे कलाल से कलालेण, धोबी से धोबेण, कुम्हार से कुम्हारेण, नीमा (वैश्य की एक जाति) से नीमेण दसोरा (एक जाति) से दसोरेण, सुतार (बढ़ई) से सुतारेण, बणियो (बनिया) से बाण्येण आदि।

जानवरों के गाभिन होने को 'धनवाना' या 'छटाना' कहते हैं। पाठकों को स्मरण होगा कि 'धनाय गइ' (गाभिन हो गई) युक्त प्रांत में भी बोला जाता है। निमंत्रण को 'बुलावो' कहते हैं और किसी की मौत के दिन जो व्यय होता है उसे 'चलावा' बोलते हैं। नीचे हम कुछ नीमाड़ी शब्द अर्थ सहित देते हैं जिस से पाठकों का कुछ मनोरंजन अवश्य होगा—

पोरय्या (पुत्र) पोरी (पुत्री) गावाड़ी (गाय) भैंसी (भैंस) बड़बेलो (डाला हुआ) ओदा (अदरक) फोतरा (छिलका) पछी (वापस) मान्ची (चारपाई) गोलो (मटका) टोंटल्यो (दुबला) कागलो (कौआ) बैरो (स्त्री) खोदरा (नाला) बेड़्या (पागल) डँगरागो (खरबूजे की खीर) मूड़ो (मुँह) पोयक्या (हरी ज्वार) डोला (आँख) दग्गड़, भाटो (पत्थर) दोपड़ो (रस्सा) डोबड़, हेलगा (भैंसा) वान्नू (दरवाजा) मेढ़ो (छज्जा या दूसरी मंजिल)

खटला (पत्नी) माकण्या (खटमल) कोतमीर (धनिया) उलफो (टुकड़ा) मोटा (बड़ा भाई) ।

मालवी, नीमाड़ी अथवा उपरोक्त किसी भी बोली में कुछ लिखित साहित्य नहीं है । सुनते हैं नीमाड़ी में किसी ने महाभारत का स्वतंत्र अनुवाद किया है, पर पता नहीं वह प्रकाशित है या नहीं । हाँ, ग्राम-साहित्य अथवा दंत-कथाएँ, पहेलियाँ आदि बहुत है । सर जार्ज ग्रियर्सन को छोड़ कर और किसी ने आज तक इन पर कुछ लिखा भी नहीं और सर जार्ज के अनेक उदाहरण अपूर्ण तथा भ्रमात्मक हैं । यदि पाठकों को यह लेख पसंद आया तो मालवी अथवा नीमाड़ी के किसी दूसरे अंग पर फिर कभी कुछ लिखूँगा ।*

---

* इस लेख के लिए नीमाड़ी भाषा के सम्बंध में मुझे अपने प्रिय शिष्य खुशालीलाल श्रीवास्तव तथा कालूराम विरूलकर से बहुत कुछ सहायता मिली है ।

मारवाड़-नरेश महाराजा अभयसिंह जी का बड़ोदा विजय करना

[लेखक—श्रीयुत विश्वेश्वर नाथ रेउ]

ऊपर की पंक्ति को पढ़ कर लोगों का आश्चर्य करना स्वाभाविक ही है। परंतु वास्तव में यह एक सच्ची घटना है। मारवाड़-नरेश अभयसिंह जी ने जिन पीलाजी गायकवाड़ को मार कर बड़ोदे पर अधिकार किया था वे पीलाजी ही बड़ोदे के वर्तमान गायकवाड़ राजवंश के संस्थापक थे। आगे इस घटना का सप्रमाण विवरण दिया जाता है। 'सहरुल मुताख़रीन'[1] नामक फारसी इतिहास में लिखा है—

जब रिशवत की शिकायतों के कारण बादशाह मुहम्मदशाह रौशुनदौला से अप्रसन्न हो गया तब देहली के शाही दरबार में सम्सामुद्दौला का प्रभाव बढ़ने लगा। कुछ ही दिनों में उस (सम्सामुद्दौला) ने सरबुलंद खाँ के स्थान पर मारवाड़-नरेश महाराजा अभयसिंह जी को गुजरात का सूबेदार बनवा दिया और इन्हें शीघ्र ही वहाँ पहुँच सरबुलंद को देहली भेज देने को लिखा। महाराज ने इस कार्य को साधारण समझ थोड़ी सी सेना के साथ अपना एक प्रतिनिधि वहाँ के प्रबंध के लिए भेज दिया। परंतु सरबुलंद के बादशाही आज्ञा मानने से इन्कार कर देने के कारण उसे सफलता नहीं मिली। इस की सूचना मिलने पर महाराज की तरफ़ से दूसरा प्रतिनिधि भेजा गया। इस के साथ पहले से अधिक सेना थी। परंतु सरबुलंद ने उस की भी कुछ परवाह नहीं की। (इधर बादशाह की तरफ़ से महाराज पर शीघ्र ही, अहमदाबाद पहुँच,

---

[1] भाग २, पृ० ४६२-४६३

वहाँ पर अधिकार कर लेने के लिये दबाव डाला जा रहा था।[1]) इसी से अंत में स्वयं महाराजा अभयसिंह जी को अपनी (वीर राठोड़) वाहिनी के साथ अहमदाबाद जाना पड़ा। यद्यपि इन के वहाँ पहुँचने पर एक बार तो सरबुलंद ने बड़े जोरों से इन का सामना किया तथापि बाद मे वह, थोड़े से अनुचरों के साथ, महाराज के डेरे पर चला आया और मेल मिलाप की बातें कर बोला कि मैं तो आप को अपने भतीजे के समान समझता हूँ। मैंने जो आप का सामना किया वह केवल अपनी इज्जत बचाने के लिए ही था। इस के अलावा आप के और मेरे बीच किसी प्रकार की व्यक्तिगत शत्रुता नहीं है।

इस के बाद राह-खर्च और भारबरदारी की गाड़ियों का प्रबंध हो जाने पर सरबुलंद तो देहली की तरफ़ रवाना हुआ और अहमदाबाद के सूबे का प्रबंध महाराज के हाथ मे आया। यह घटना वि० सं० १७८७ (ई० सं० १७३०) की है।

मस्टर विलियम इरविन और सर यदुनाथ सरकार ने अपने 'लेटर मुग़ल्स'[2] नामक इतिहास में ता० २० अक्टोबर १७३० को सरबुलंद का महाराजा अभयसिंह जी से युद्ध करना, इस के बाद तीसरे दिन उस का महाराज के डेरे पर आकर मिलना, और फिर कुछ दिन बाद अहमदाबाद से रवाना होना लिखा है। परंतु स्वयं महाराजा अभयसिंह जी के शाही दरबार में स्थित अपने वकील के नाम लिखे, वि० सं० १७८७ की कार्तिक बदी ४ (ई० सं० १७३० की १९ अक्टोबर) के, पत्र मे इन घटनाओं का उल्लेख मिलने से उपर्युक्त घटनाओं का इस के पूर्व होना ही प्रकट होता है।

उन दिनों सरबुलंद की कमजोरी के कारण बड़ोदा आदि पर, खांडेराव दाभाड़े के प्रतिनिधि, पीलाजी गायकवाड़ ने अधिकार कर लिया था।

---

[1] इसकी पुष्टि जयपुरनरेश सवाई राजा जयसिंह जी के महाराजा अभयसिंह जी के नाम लिखे विक्रम संवत् १७८२ की कार्तिक सुदि ४ और मंगसिर वदि २ के पत्रों से होती है।

[2] भाग २, पृ० २०७ २१२

यह खांडेराव सतारे के राजा का सेनापति था। इसीलिए अहमदाबाद पर अधिकार कर लेने के बाद महाराजा अभयसिंह जी ने पीलाजी पर चढ़ाई की। महाराज के, शाही दरबार मे स्थित अपने वकील के नाम लिखे, वि० स० १७८७[1] (चैत्रादि संवत् १७८८) की चैत्र सुदी १४ (ई० सं० १७३१ की १० अप्रैल) के, पत्र में लिखा है—

त्र्यंबकराव दाभाड़े से हमारी और बाजीराव की सेनाओं का युद्ध हुआ। त्र्यंबकराव और निजाम की सेना के सरदार मूलाजी पवाँर और मुगल मौमीनयार खाँ मारे गए। पवाँर ऊदा, चिमना और पंडित के साथ पीलू का बेटा पकड़ा गया। इस प्रकार हमारी विजय हुई। पीलू, कंठा और आनंदराव की फ़ौजें भागीं। पीलू भागकर डभोई में जा छिपा। बड़ोदे का प्रबंध उस के भाई के हाथ मे है। दोनों स्थानों पर हमारी फ़ौजें पहुँच गई हैं; इस से वे शीघ्र ही शत्रु से खाली करवा लिए जायँगे। कंठा भाग कर निजाम के पास गया है।

इस से आगे का हाल महाराज के, अपने उसी वकील के नाम लिखे, वि० सं० १७८८ (चैत्रादि सं० १७८९) की चैत्र सुदी ११ (ई० सं० १७३२ की २६ मार्च) के पत्र मे इस प्रकार मिलता है:—

"पीलू के माही पार करने पर हमारी सेना भी चंडूला से आगे बढ़ी। यह देख पीलू के आदमी हम से मिलने को आए। हम ने उन से बड़ोदा और डभोई के बादशाही थाने खाली कर शाही सेवा स्वीकार कर लेने को कहा। इस पर पीलू ने कहलाया कि वह तीन सूबेदारों के समय से बड़ोदे पर अधिकार किए है। सरबुलंद खाँ ने उस पर चढ़ाई की थी परंतु उसे उलटा चौथ देकर लौटना पड़ा।

"ये लोग सम्मुख रण में लोहा लेने के बजाय छिपकर इधर उधर से हमला करते हैं। इस से जैसे ही हमारी सेना का अग्रभाग पाँच कोस आगे बढ़ा वैसे ही वह (पीलू) भाग कर डाकोर की तरफ चला। यह देख हम ने

---

[1] यह श्रावणादि संवत् है

सोचा कि इस तरह चढ़ाई करने से तो वह और भी दूर भाग जायगा। इसलिए पहले तो बात चीत करने के बहाने कुछ आदमी उस के पास भेजे और पीछे से चैत्र सुदी ९ (२३ मार्च) को २००० चुने हुए सवार रवाना किए। बात चीत के लिए गए हुए आदमियों ने पीलू को मार डाला। उसी समय हमारे वे सवार भी वहाँ जा पहुँचे। पीलू का भाई, मामा और उस के बहुत से सैनिक मारे गए। सात सौ घोड़े, कई जंजालें (मोरचे की लंबी बंदूकें) और अन्य बहुत सा समान हमारे सैनिकों के हाथ लगा। हम शीघ्र ही बड़ोदे पहुँच उसे भी शत्रु से खाली करवानेवाले हैं।"

इस की पुष्टि महाराज के, अपने वकील को लिखे, वि० सं० १७८८ (चैत्रादि सं० १७८९) की वैशाख सुदी १३ (ई० सं० १७३२ की २६ अप्रेल) के, पत्र से भी होती है। इस पत्र में पीलू के साथ १५०० सवारों और ५००० पैदल सिपाहियों का होना और महाराज के हाथ ८०० घोड़े लगना लिखा है।

इसी पत्र में आगे लिखा —

"इस के बाद हम सेना लेकर वैशाख सुदी ८ (२१ अप्रेल) को बड़ोदे पहुँचे। कंडाली की गढ़ी और दूसरी दो-चार जगहों से शत्रुमार भगाया गया। अब वे लोग नर्मदा पर के कोरल गाँव और डभोई के क़िले में इकट्ठे हुए हैं। वे बहुत बड़ी संख्या में हैं। साथ ही त्र्यंबक राव की मा ऊमा और ऊदा पवाँर के भी उन की सहायता में आने की खबर है। परंतु आने पर उन को भी सजा दी जायगी। कल हम बड़ोदे से रवाना हो कर नर्मदा की तरफ जाने वाले है। अब तक २४ क़िले शत्रुओं से छीने जा चुके हैं और जो बाक़ी रहे हैं वे भी शीघ्र ही छीन लिए जायँगे।"

इस के बाद के महाराज के अपने उसी वकील के नाम लिखे वि० सं० १७८८ (चैत्रादि सं० १७८९) की आषाढ़ वदी ११ (ई० सं० १७३२ की ७ जून) के, पत्र में लिखा है—

"बड़ोदा और जंबूसर के क़िले तो विजय हो चुके हैं। इस समय डभोई के क़िले का मुहासिरा हो रहा है "

परन्तु अंत में वर्षा ऋतु के आ जाने से महाराज को डभोई का घेरा हटा लेना पड़ा इस के बाद ही स्वर्गवासी खांडेराव की विधवा स्त्री उमा बाई ने, पीलाजी गायकवाड़ की मृत्यु का बदला लेने के लिए उन के पुत्र दामाजी गायकवाड़ के साथ, अहमदाबाद पर चढ़ाई की। उस समय लगातार युद्धों के कारण गुजरात में भीषण अकाल था,[1] इसलिये अंत में शीघ्र ही दोनों पक्षों के बीच संधि हो गई। वि० सं० १७९० (ई० सं० १७३३) में अपने प्रतिनिधि को अहमदाबाद के सूबे का प्रबंध सौंप महाराजा अभयसिंह जी जोधपुर चले आए।

मारवाड़-नरेश महाराजा अभयसिंह जी की बड़ोदा पर की विजय का यह इतिहास उन्हीं के लिखे पत्रों के आधार पर उद्धृत किया गया है। सिवाय एक के ये सारे ही पत्र राजकीय अजायब-घर में रक्षित हैं।

---

[1]महाराजा अभयसिंह जी के, अपने वकील के नाम लिखे, वि० सं० १७८९ को भादों वदी १ (ई० सं० १७३२ की २७ जुलाई) के, पत्र से प्रकट होता है कि उस समय गुजरात में अकाल के कारण नाज का एक रुपये सेर मिलना भी कठिन हो गया था।

मोहेंजो दाड़ो

पाँच हज़ार वर्ष पुरानी सभ्यता

[लेखक—मौलाना अख़्तर हुसैन]

पिछले कई वर्षों के बीच में, पुरातत्व विभाग की विभिन्न खोजों मे सब से महत्वपूर्ण हड़प्पा और मोहेंजो दाड़ो के भग्नावशेषों की है। इस संबंध की अनेक बातों पर अभी बहुत कुछ प्रकाश पड़ने की आवश्यकता शेष है। तो भी जो जो बाते स्पष्ट रूप से सिद्ध हो चुकी है, उन्हों ने बहुत हद तक हमारे पुराने ऐतिहासिक मंतव्यों को अव्यवस्थित कर दिया है। उदाहरणार्थ अब तक हिंदुस्तान का इतिहास ऋग्वेद के समय से आरंभ होता था और यह स्वीकार किया जाता था कि आर्यों के आने से पूर्व हिंदुस्तान एक प्रकार से वहशी और जंगली मनुष्यों का निवास-स्थान था। न इन की कोई सभ्यता थी न संस्कृति। वह पत्तों से अपने शरीर को छिपाते थे और जंगली की भाँति ग़ारों और जंगलों में जीवन व्यतीत करते थे। आर्यों ने जब यहाँ विजय प्राप्त की तो उन्हीं बर्बर और असभ्य लोगों को 'दास' का नाम दिया गया था। यह तो हमारी वर्तमान ऐतिहासिक जानकारी थी। परंतु हड़प्पा और मोहेंजो दाड़ो की खोजों ने यह प्रमाणित कर दिया कि आर्यो के आने से बहुत पूर्व संपूर्ण हिंदुस्तान में न सही, लेकिन कम से कम पंजाब और सिंध देश मे एक ऐसी सभ्यता अवश्य उपस्थित थी जो कुछ विषयों में मिश्र और इराक़ की सभ्यता से भी उच्चतर थी। पुरातत्व विभाग के भूतपूर्व डाइरेक्टर जनरल, सर जान मारशल की किताब 'मोहेंजो दाड़ो' जो तीन बृहत् जिल्दों में प्रकाशित हुई है इन्हीं खोजों का वर्णन करती है। वास्तविक शोधों के महत्व और मनोरंजकता के अतिरिक्त इस पुस्तक के देखने से संपादक की बुद्धिमत्ता, दूरदर्शिता

और विस्तृत अध्ययन का परिचय मिलता है छोटी छोटी स्फुट बातो को एकत्र कर के उन से कितने दूर तक के परिणाम निकाले जा सकते है और इन से किसी विशेष काल की सभ्यता का किस प्रकार अनुमान किया जा सकता है इस का इस ग्रंथ से पता चलता है। इस संबंध मे जो जो तर्क और युक्तियाँ संपादक ने व्यवहृत की हैं वह न केवल स्पष्ट वरन् विश्वास उत्पन्न करने वाली हैं। उन में किसी प्रकार की अनुचित खींचतान या असंबद्ध बातों का समावेश नही है। इस में कोई प्रकरण आप को ऐसा न मिलेगा जिसे केवल मनोरंजन के लिए या भरती के लिए लिखा गया कह सकें। वरन् प्रत्येक तर्क युक्तिपूर्ण है और वैज्ञानिक ढंग से लिखा गया है। सब से पहिले मोहेंजो दाड़ो की स्थिति और उस की प्राकृतिक अवस्था का वर्णन है। इस ग्रंथ के आधार पर इस सभ्यता का एक संक्षिप्त वर्णन यहाँ पर प्रस्तुत किया जाता है।

मोहेंजो दाडो की स्थिति

सिंध की हरित भूमि, आज कल की आबपाशी से पूर्व लरकाना का विस्तृत क्षेत्र थी। यह मैदान सिंध नदी और किरतार की पहाड़ियों के बीच स्थित था। अब तो नदी के बाँध और नहरों के कारण उस की उर्वरता बहुत बढ़ गई है, परंतु इस के बिना भी किसी समय मे यह भूभाग निस्संदेह बहुत उर्वर और उपजाऊ रहा होगा। इस कारण कि इसे न केवल सिंध नदी, परंतु पश्चिमी पहाड़ियों से निकलने वाले अनेक स्रोत (जो अब सब मिल कर 'पश्चिमी नहर नारा' कहलाते हैं) सिंचित करते थे। लरकाना के आस पास का भूभाग सिंध का सुरम्य उद्यान कहलाता है। और निस्संदेह इस प्रांत के अन्य भागों की अपेक्षा इसे यह नाम देना किसी प्रकार अनुपयुक्त नहीं। परंतु यह सब होते हुए भी यहाँ अब भी खारी जमीन के, तथा जंगल से घिरे हुए अगणित टुकड़े हैं जो बहुत कुछ खेती मे बाधा डालते हैं। इसी जिले और इन्हीं टुकड़ों में एक बंजर भूभाग पर मोहेंजो दाड़ो या स्मशान (स्तूप) नगर अवस्थित है। यह नार्थ वेस्टर्न रेलवे के एक स्टेशन 'डोकरी' से सात मील और लरकाना शहर से २५ मील की दूरी पर है।

मोहेंजो दाड़ो की खुदाई के दृश्य
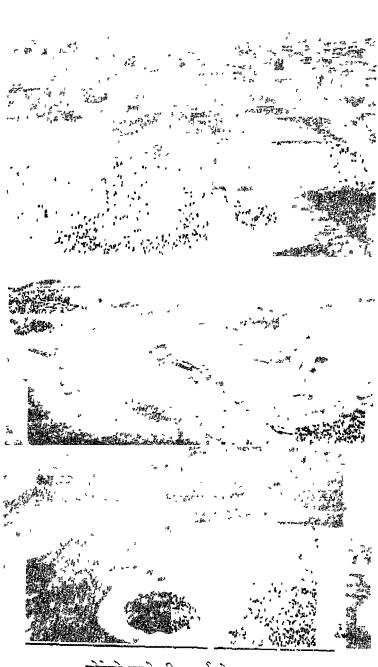
(गवर्नमेंट अव् इंडिया के आर्कियालाजिकल विभाग की कृपा से प्राप्त)

मुख्य स्तूप २४० एकड के घेरे मे है सिंध देश मे नमक या लोनी की अधिकता है इस ने उस स्थान के विनाश और वीरानी मे और भी वृद्धि की है। वायु में जहाँ थोड़ी सी भी नमी हुई यह लोनी फ़ौरन खुली हुई ईंटों पर दौड़ जाती है। और उसे धीरे धीरे खा जाती है। यह अनुमान इस कारण होता है कि खुदाई के समय जो इमारतें मिलती थीं उन पर बरसात का एक छींटा पड़ते ही बर्फ़ की तरह एक सफ़ेद तह बड़े वेग से जम जाती थी। इन स्तूपों के चारों तरफ़ उजाड़ और सन्नाटे की हद नहीं। हर ओर लोनी की सफ़ेद चादर बिछी हुई दिखाई देती है। जिस से बबूल, ऊँट-कटारा और मोटी मोटी काँटेदार घास के अतिरिक्त किसी और प्रकार की हरियाली का दृश्य असंभव हो गया है। सर्दी की ऋतु मे बहुत तेज़ ठंडी हवाएं चलती हैं और थर्मामीटर का पारा फ्रीज़िंग प्वाइंट से १२० डिगरी नीचे दिखाई देता है। गर्मियों में धूल से लदी हुई हवाओं के तूफ़ान उठते हैं। बरसात में पानी का औसत ६ इंच से अधिक नहीं होता। और मक्खियों और मच्छड़ों से जी दुखी हो जाता है। सारांश यह कि जल-वायु की दृष्टि से मोहेंजो दाड़ो आज कल हिंदुस्तान का एक बहुत ख़राब भाग है। इस से अधिक उजाड़ और वीरान और कष्टकर स्थान की कल्पना भी नहीं की जा सकती। लेकिन अब से पाँच हज़ार वर्ष पूर्व जब मोहेजो दाड़ो एक समृद्ध और बसा हुआ नगर था, उस समय की जल-वायु की कल्पना इस काल की जल-वायु को देख कर करना उचित न होगा। प्रत्युत इस के, ऐसा विश्वास करने के कारण उपस्थित हैं कि उस समय और अब के बीच घोर परिवर्तन हुए हैं।

मोहेंजो दाड़ो की वर्तमान स्थिति तथा वहाँ का जल-वायु

उदाहरणार्थ इस काल की अपेक्षा उस समय बरसात अधिक होती थी। इस का अनुमान इस बात से होता है कि रहने के तथा अन्य मकानों की दीवारों में जो ईंटे लगी हुई हैं वह आग में पकाई हुई हैं। यहाँ के स्थापकों को आरंभ से ही धूप में सुखाई हुई ईंटों का ज्ञान था। लेकिन मकानों की नींव और उन की भराई में उन्हों ने बराबर आग की पकाई हुई ईंटें इस्तेमाल की हैं। अगर

पाँच हज़ार वर्ष पूर्व मोहेजो दाड़ो की ऋतु-संबंधी और प्राकृतिक अवस्था

यहा की आबहवा आज कल की भाँति उस समय भी सूखी होती और उसी प्रकार वर्षा की भी कमी होती तो अवश्य वह धूप में सुखाई ईंट (जो आग से पकाई ईंटों से बहुत सस्ती पड़ती हैं) व्यवहार में लाते—जैसा अब तक यह प्रचार न केवल सिंध वरन् पूर्वदेशीय शुष्क देशों में सर्वत्र है। इस का एक दूसरा प्रमाण यह भी है कि जो मुहरें यहाँ प्राप्त हुई हैं उन पर ऐसे जानवरों की मूर्तियाँ अंकित हैं जो बहुधा तराई और जंगली भागों में रहते हैं। उदाहरणार्थ अन्य पशुओं के अतिरिक्त चीते, गैंडे और हाथी भी हैं। यह सब प्रमाण यद्यपि अचूक नहीं, परंतु इन को इकट्ठा करने पर, और यह ध्यान रखते हुए कि बलूचिस्तान के ज़िलों में जलवायु परिवर्तन के प्रमाण निश्चय के दर्जे तक पहुँच गए हैं, यह अवश्य अनुमान होता है कि किसी समय यहाँ अच्छी वर्षा होती थी, और यहाँ की आबहवा भी इस समय से भिन्न थी।

पुराने ज़माने में यह स्थान आजकल की अपेक्षा कहीं विस्तृत भी रहा होगा। परंतु पानी, हवा, मौसम की ख़ुश्की और लोनी की अधिकता ने बहुत अंशों में उसे नष्ट कर दिया है। इस स्थल की प्राचीनता और स्तूपों की स्थिति के कारण आरंभ में यह साधारणतया विचार था कि यहाँ प्राचीन चिह्न अवश्य मिट्टी में दबे हुए हैं। लेकिन यह स्वप्न में भी कोई नहीं कह सकता या जानता था कि पाँच हज़ार वर्ष पुरानी सभ्यता इन तूदों के भीतर छिपी पड़ी होगी। अतएव आरंभ में खुदाई का काम जारी हुआ तो बौद्ध-कालीन स्तूपों और संघों के चिह्न पाए गए और यह कोई विशेष आश्चर्य-जनक खोज न थी। परंतु इसी सिलसिले में कुछ ऐसी मुहरें भी प्राप्त हुईं जो हड़प्पा (पंजाब) से निकली हुई मुहरों से बहुत ही मिलती जुलती थी। मोहेंजो दाड़ो में हड़प्पा के ढंग की मुद्राओं का प्राप्त होना इस बात का प्रमाण था कि यहाँ पाँच हज़ार वर्ष की उस ऊँची सभ्यता के चिह्न मौजूद है जो मिश्र और इराक़ की सभ्यता से भी कुछ अंशों मे उन्नतर हैं और यह कि आर्यों के आने से बहुत पूर्व हिंदुस्तान एक श्रेष्ठ और उन्नत सभ्यता का क्षेत्र था।

इमारतों के संबंध में सर जान मार्शल के वर्णन का सार यह है—

इन भग्नावशेषों में सब से पहिला दृश्य जो सामने आता है वह सुर्ख और सुडौल ईंटों का है जो बड़ी संख्या में दूर तक फैली हुई हैं इन ईंटों की सब से बड़ी विशेषता यह है कि उन पर किसी प्रकार के नक़्श या चिह्न नहीं हैं। यह बिल्कुल साफ़ और सादी हैं और अंग्रेज़ी ईंटों के बराबर हैं। बनावट में यह हिंदुस्तान के ऐतिहासिक काल की तमाम ईंटों से विभिन्न हैं। मकानों की मजबूती, उन की सफाई व सादगी और उन में इस प्रकार की ईंटों का व्यवहार अत्यंत आश्चर्यजनक है। इसलिए कि हिंदुस्तानी निर्माण-कला अपने नक्श व निगार और सजावट और आडंबर के लिए बहुत दिनों से बदनाम है। विशेषतया ईंटों की चित्रकारी की कला तो गुप्त-काल में ही अपनी पराकाष्ठा को पहुँच चुकी थी। कुछ भी हो मोहेंजो दाड़ो में इस प्रकार की नक़्क़ाशी और चित्रकारी का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं। परंतु इस के प्रत्युत इमारतों की सादगी और उन की बनावट की श्रेष्ठता स्पष्ट रूप से लक्षित होती है।

ईंटों और मकानों की बनावट

दीवारें बाहर और भीतर दोनों ही ओर पक्की ईंटों की हैं। ईंटें मिट्टी और गारे से जुड़ी हुई हैं। यह गारा दीवारों के ऊपर नहीं दिखाई देता और न शायद प्रत्येक स्थान पर साधारणतया लगाया गया है। वरन् केवल दीवारों के भीतर या इमारतों के कोनों में दृढ़ता की दृष्टि से लगाया गया है। गारे के साथ, बहुत कम स्थलों पर चूना भी इस्तेमाल किया गया है। वह भी केवल मकानों की नालियों में।

दीवारें

बड़ी बड़ी इमारतों की नींव बहुत गहरी हैं। और उन की तैयारी में बड़े यत्न से काम लिया गया है। छोटी इमारतों की नींव यद्यपि अपेक्षाकृत ज्याद: गहरी नहीं हैं तथापि दोनों प्रकार की इमारतों में एक ही प्रकार से खड़ंजे और ईंटों की भराई की गई है। इसी प्रकार मकानों के फ़र्श भी पक्की ईंटों के हैं।

बुनियादें

तहख़ानों में जो कि केवल मोहेंजो दाड़ो में ही बाक़ी रह गए हैं,

दर्वाजा की ओर से हवा आ सकती है लेकिन कहीं कहीं ऐसा है कि तह-खाना के अंदर भी झरोखे बना दिए गए हैं जिस मे उन मे से भी हवा आ सके।

मोहेंजो दाड़ो की इमारतों का निरीक्षण करने से इस बात का पता चलता है कि वह तीन प्रकार की हैं—(१) रहने के मकान, (२) ऐसे मकान जिन का उपयोग और उद्देश्य अभी तक नहीं जाना गया है, (३) जन-साधारण के लिए स्नानागार या गुसल-खाने, जिन का उद्देश्य चाहे धार्मिक रहा हो चाहे केवल लौकिक। तूदे के उत्तरी भाग में जो छोटी बड़ी इमारते प्राप्त हुई हैं वह संभवतः सभी रहने के मकान है। परंतु उन्हीं इमारतों के निकट दूसरे प्रकार के और मकान भी मिले हैं जो संभवतः मंदिर या पूजा के घर रहे हों। गुसलखाने स्तूप के तूदे पर स्थित हैं। और इसी स्थल पर और भी बहुत से अच्छे अच्छे मकान मिले हैं जो सब के सब धार्मिक उद्देश्य से बनाए गए थे। रहने के मकान साधारणतया सब बड़े हैं और जो बहुत ही छोटे मकान हैं वह नौकरों चाकरों के लिए बनाए गए हैं जिन में केवल दोही कमरे हैं। मकान साधा-रणतया दो खंड के हैं। ऊपर जाने के लिए सीढ़ियाँ बनी हैं लेकिन अधिकतर यह रास्ते कुछ तंग हैं।

इमारतें

सभी छोटे बड़े मकानों में कुएँ मिलते हैं जो पक्की ईंटों के बने हैं, जिन की बनावट आज भी आश्चर्य-जनक रूप में अच्छी है। साधारणतया इन के आकार गोल हैं परंतु दो स्थलों पर अंडाकार बनावट भी मिली है। मकानों के भीतर ही कुछ कुएँ ऐसे हैं जो जन-साधारण के उपयोग के जान पड़ते हैं क्यों कि सड़क से उन कुओं तक रास्ते बने हुए मिलते हैं।

कुएँ

तीन संदिग्ध उदाहरणों के अतिरिक्त मोहेंज दाड़ो में आतशदान बिल्कुल नहीं हैं। इमारतों के संबंध में ही दो चीजें विशेष रूप से वर्णनीय हैं—और वह नालियाँ तथा जन-साधारण के स्नानागार या गुसलखाने हैं। गुसलखानों के फ़र्श

आतशदान और गुसलखाने

पक्के है और उन में जो नालियाँ बनी हुई है उन का लगाव सड़क की नालियों से है। वह स्नानागार जो रहने के मकानों में है साधारण तया मकानों के दूसरे या ऊपर के खंड में है। नीचे के खंड में भी स्नानागार है लेकिन उन सब के फ़र्श तथा उन की नालियाँ पक्की हैं और बहुत सुंदर ढंग से बनाई गई हैं। कहीं कहीं पाइप का भी प्रयोग हुआ है जिस से कि स्नानागार का पानी सफ़ाई से बह कर सड़क की नालियों मे पहुँच जाय। ऊपर के खंड से कूड़ा करकट और गंदगी के फेंकने के लिए दीवारों में जगहें बना दी गई हैं और बाहर की तरफ़ एक कूड़ाख़ाना बना हुआ है जिस में ऊपर का फेंका हुआ कूड़ा जमा होता और बाहर से सड़क साफ़ करनेवाला उसे आकर ले जाता। इन निजी या व्यक्तिगत कूड़ाख़ानों के अतिरिक्त सड़क के किनारे उचित स्थलों पर जन-साधारण के या पब्लिक कूड़ाख़ाने भी बने हुए हैं। सड़क की साधारण नालियाँ भी वैसे ही अच्छी बनाई गई हैं जैसी कि व्यक्तिगत मकानों की नालियाँ। इन नालियों को देख कर, यह साफ़ साफ़ पता चलता है कि उस समय के नगरपति और कार्यकर्ताओं को स्वास्थ्य-रक्षा का बहुत ध्यान था। सड़क की यह नालियाँ गड्ढों में गिरती हैं। यह गड्ढे खुले हुए स्थानों पर बने हुए थे और इस की कोई आवश्यकता नहीं समझी जाती थी कि यह नगर की सीमा से बाहर बनाए जायँ। इन गड्ढों का पानी जब ज़मीन में समा जाता या सूख जाता तो बाक़ी कूड़ा करकट मेहतर जब ठीक समझता उठा ले जाया करता। यह गड्ढे कीचड़ ग़लीज़ को दूर करने में वैसे अच्छे न थे जैसे तक्षशिला तथा अन्य ऐतिहासिक स्थलों के कुएँ। लेकिन इन गड्ढों में यह सुभीता था कि वह साफ़ कर दिए जाते थे। प्रत्युत इस के उपर्युक्त ऐतिहासिक स्थलों के कुएँ जब गंदगी और कूड़े से भर जाते थे तो वह पाट दिए जाते थे और उन के स्थान पर बिल्कुल नए कुएँ खोद लिए जाते थे।

हम्माम

कुछ ऐसी इमारतें भी मोहेंजो दाड़ो में पाई गई हैं जो हम्माम जान पड़ती हैं। इन इमारतों की दीवारों में जगह जगह ऐसे नल लगे हुए हैं जिन से यह अनुमान होता है कि इन के द्वारा गर्म पानी पहुँचाया जाता था। इन इमारतों में राख और कोयला

भी प्राप्त हुआ है जिस से यह विचार और भी पुष्ट होता है। अतएव यह मकान या तो हम्माम थे या जाड़ों में मकानों को गर्म रखने के लिए ऐसा प्रबंध किया गया था।

खेती

हड़प्पा और मोहेंजो दाड़ो ऐसे विशाल नगर ऐसे ही देश में हो सकते हैं जिस में भोजन पर्याप्त मात्रा मे प्राप्त हो सके, जिस मे इतनी बड़ी नदी भी हो जिस से सिंचाई, व्यापार और हर प्रकार से आवागमन के सुपास हों। सिंध नदी के किनारे बसने वाले लोगों मे उस समय खेती के क्या नियम थे इस के संबंध मे अभी हमारी जानकारी बहुत कम है। परंतु मोहेंजो दाड़ो के अवशेषों से जौ और गेहूँ के जो नमूने प्राप्त हुए हैं उन से मालूम होता है कि इन दोनों अनाजों की उस ज़माने में खेती होती थी। गेहूँ उस प्रकार का है जो आज भी पंजाब में बोया जाता है। जौ वह है जो पुराने मिश्र के सम्राटों की समाधियों में उपलब्ध हुआ है। यह नहीं मालूम कि ज़मीन खोदने के लिए उस समय भी कुदाल व्यवहार की जाती थी या हल बन चुका था। परंतु मिस्टर मैके का कथन है कि कोई वस्तु हल की तरह की अवश्य ईजाद हो गई थी। तो भी यह विषय अभी संदिग्ध है। अनाज पीसने के लिए पत्थल और बट्टे व्यवहार किए जाते थे। उस समय तक गोल चक्की ईजाद नहीं हुई थी।

भोजन

उपर्युक्त अनाजों के अतिरिक्त, जिन्हें पीसने के लिए हड़प्पा और मोहेंजो दाड़ो दोनों स्थलों पर पत्थर प्राप्त हुए है, सिंध नदी के किनारे बसने वालों का साधारण भोजन निम्न वस्तुएँ थीं—गो-मांस, भेड़ का मांस, सुअर का मांस, मुर्ग़, घड़ियाल और कछुए का मांस, नदी की ताज़ी मछलियाँ, समुद्र के घोंघे और सूखी हुई मछलियाँ। इन जानवरों के ठोकरे, हड्डियाँ, सिफ़ने आधी जली दशा में मकानों मे या उन के आस पास पाए गए हैं जिस से निस्संदेह यह अनुमान होता है कि यह तमाम चीज़ें भोजन में सम्मिलित थीं। इन भोजनों में दूध भी अवश्य रहा होगा। तरकारियों और खजूर के अतिरिक्त अन्य प्रकार

के फल भी रहे होंगे परंतु इन के लिए अब तक कोई निश्चित प्रमाण नहीं दिए जा सकते

पालने वाले पशुओं के बहुत से भेद हैं परंतु जिन जानवरों के ढाँचे प्राप्त हुए हैं वह यह हैं—हिंदुस्तानी कोहान वाला बैल या साँड़, भैंसा, भेड़, हाथी, ऊँट, सुअर और मुर्ग़ा। लेकिन, अंतिम दो प्रकार के पशुओं के संबंध में यह नहीं कहा जा सकता कि यह पालतू थे या जंगली। कुत्तों और घोड़ों की भी हड्डियाँ प्राप्त हुई हैं परंतु वह या तो जमीन की सतह या इस के निकट पाई गई हैं इस लिए यह नहीं कहा जा सकता कि वह प्राक्-ऐतिहासिक हैं या बाद के ज़माने की। परंतु घोड़ों के विषय में यदि प्रोफ़ेसर लैंगडन के मत पर विश्वास किया जाय कि इराक़ में चार हज़ार वर्ष के पूर्व के माध्यमिक काल में घोड़ों का रिवाज हो चुका था तो यह कहने से कोई आपत्ति न होनी चाहिए कि सिंध की घाटी मे भी वह चल गए थे।

पालतू पशु

जिस बहुतायत से सिंध की घाटी मे हिंदुस्तानी साँड़ों के ढाँचे प्राप्त हुए हैं उन से अनुमान होता है कि इस प्रकार के बैलों की नस्ल लेने का उस समय मे बड़ा अच्छा प्रबंध था। यह बैल सिंध, उत्तरी गुजरात और राजपूताना के आज-कल के उत्तमोत्तम बैलों से यद्यपि नहीं मिलते-जुलते तथापि उन कोहान वाले बैलों से भी बिल्कुल भिन्न हैं जो, आम तौर से पश्चिमी भारत तथा दक्षिण मे पाए जाते हैं। इन शानदार बैलों की नस्लों की रक्षा तथा पालन की कैसी सुव्यवस्था थी इस का अनुमान आज भी उन के ढाँचों से किया जा सकता है। इन के अतिरिक्त बैलो के एक और प्रकार की चलन सिंध की घाटी तथा बलूचिस्तान में थी। इस प्रकार के बैलों के कोहान न थे। और इन के सींग भी छोटे थे। परंतु अब तक उन के सींग और हड्डियों की परीक्षा नहीं हो सकी है।

उन जंगली पशुओं को छोड़ कर जिन के मांस खाए जाते हैं और जिन का वर्णन ऊपर हो चुका है मोहेंजो दाड़ो में ऐसे जंगली या अर्ध-जंगली

जानवर भी थे जो घरों में आया जाया करते थे जैसे नेवला और काला चूहा। यहाँ हिरन चार प्रकार के थे—काश्मीरी बारहसिंगा, साँभर, चीतल और पारा हिरन। इन के

जंगली पशु

अतिरिक्त अन्य वहशी और जंगली पशु जिन की तसवीरें मुहरों पर अंकित की हुई मिलती हैं और जिन से सिंध की घाटी के लोग भली भाँति परिचित हो गए थे वह हिंदुस्तानी अरना भैंसा, गैंडा, चीता, बंदर, रीछ और खरगोश थे।

उपरोक्त चार हिरनों के केवल सींग पाए गए हैं। हिरन और बारहसिंगों के सींग बहुत प्राचीन समय से दवाओं में उपयोग किए जाते रहे हैं। कर्नल सीवेल का कथन है कि मोहेंजो दाड़ो में यह सींग विशेष प्रकार से दूर दूर से मँगा कर दवा में उपयोग के लिए रक्खे जाते थे। इसी संबंध में उन का कथन है कि काश्मीरी बारहसिंगा आज कल केवल

बारहसिंगों के सींग और अन्य दवाएँ

काश्मीर और हिमालय के निकट प्राप्त होता है। चीतल आज कल न सिंध में पाया जाता है न पंजाब में। सांभर भी न सिंध में पाया जाता है न पंजाब और राजपूताना में। सारांश यह कि हिरनों के इन चारों प्रकारों में से केवल एक, अर्थात् पारा हिरन आज कल सिंध में पाया जाता है। दवाओं में एक और वस्तु जो बहुत थोड़े परिमाण में मोहेंजो दाड़ो में पाई गई है वह है शिलाजीत। यह एक प्रकार का काला रसायन है जो हिमालय के पहाड़ों से प्राप्त होता है और जिस के संबंध में यह कहा जाता है कि यह जिगर और तिल्ली के रोगों में बहुत उपयोगी है।

सिंध की घाटी के लोग सोने और चाँदी के अतिरिक्त ताँबे, टीन, सीसे से भी परिचित थे परंतु यह धातुएँ किन किन विभिन्न स्थानों से प्राप्त की जाती थीं अभी तक निश्चित रूप से नहीं जाना जा सका है। संभव है कि हिंदुस्तान के भीतर ही से, जहाँ यह तमाम धातुएँ, यहाँ तक कि टीन भी प्राप्त होता है खोद

धातु

कर निकाली गई हों। या पश्चिम और उत्तर के पड़ोसी देशों से मँगाई जाती
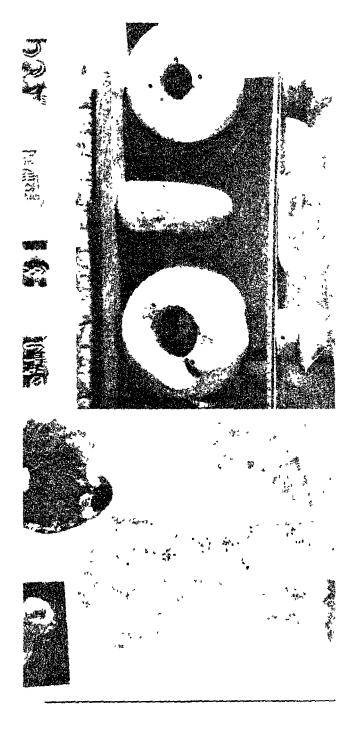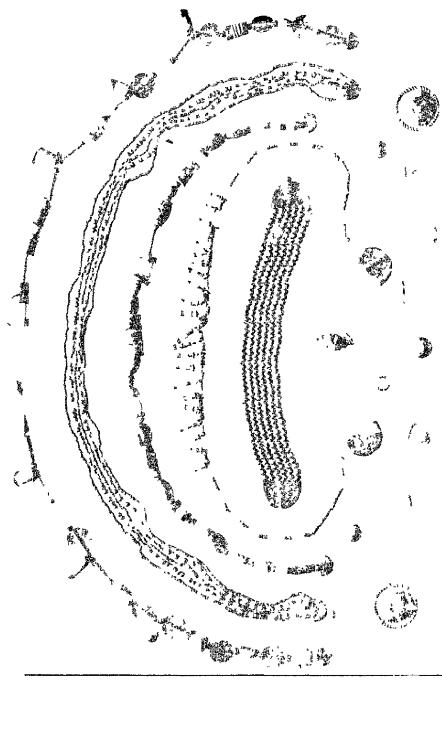
हैं। उदाहरणार्थ ईरान से जहां यह तमाम धातुएँ सहज में प्राप्त होती हैं, या अफ़गानिस्तान से जहां से सोना, चाँदी, ताँबा और सीसा निकलता है, या अरब से जहाँ सोना और ताँबा प्राप्त होता है या पश्चिमी तिब्बत से जहाँ से सोना प्राप्त होता है। सोना तो सर एडविन पैस्को के कथन के अनुसार दूसरे देशों से न आ कर दक्षिणी हिंदुस्तान से ही निकलना रहा होगा। इस लिए कि यह दक्षिणी प्रायद्वीप (हैदराबाद, मैसूर और मद्रास प्रांत) ही है जो ऐतिहासिक युग के आरंभ से हिंदुस्तानी सोने का अधिकांश भाग प्रस्तुत करता रहा है। यहाँ तक कि कुछ कानों में वहाँ प्राचीन चिह्न अब तक प्राप्त होते हैं।

सोना

इस अनुमान की पुष्टि में यह बात भी है कि मोहेंजो दाड़ो और हड़प्पा में जो सोना मिला है उस का अधिकांश भाग ऐसा है कि इस में चाँदी की मिलावट भी है। इस प्रकार का मिला हुआ सोना केवल कोलर, (मैसूर) और अनंतपूर की कानों में प्राप्त होता है। और दूसरे स्थलो पर जहाँ सिंध के लोग उसे प्राप्त कर सकते नहीं मिलता। इस के अतिरिक्त इस अनुमान की पुष्टि मे एक और बात है। वह यह कि हरा एमेजन पत्थर लाजवर्द नीलगिरी की पहाड़ियों से आया करता था। इस मे स्पष्ट ज्ञात होता है कि दक्षिणी प्रायद्वीप और सिंध में आपस में व्यापारिक संबंध अवश्य था। सोना सब प्रकार के गहनों और आभूषणों मे व्यवहृत होता था और इस के अतिरिक्त भी कुछ छोटी छोटी वस्तुएँ इस से बनाई जाती थीं। और इन वस्तुओं मे बड़ी सुंदर कला लक्षित होती है। हाँ, हड़प्पा मे सोने की जड़ाऊ चीजें जो प्राप्त हुई हैं वह अधिक सुंदर हैं।

चाँदी और सीसा

सोने की तरह चाँदी का व्यवहार भी आभूषणों में होता था। परंतु सोने की चीज़ों की अपेक्षा इस की चीज़ें बड़ी होती थीं। और उस के वज़नी बर्तन भी बनाए जाते थे। इस से यह मालूम होता है कि सिंध में दूसरी धातों के मुक़ाबले में चाँदी कम कीमती समझी जाती थी। सीसा, जो शायद

अजमेर से या अफ़ग़ानिस्तान की चाँदी की कानों से आता था बहुत अधिक व्यवहार में नहीं आता था।

ताँबा, जो अधिक परिमाण में मँगाया जाता था या तो राजपूताना से आता था या बलूचिस्तान से या यह भी संभव हो कि काश्मीर, अफ़ग़ानिस्तान, ईरान या मद्रास से आता हो। लेकिन पुरातत्व के पंडितों की राय यह है कि सीसे की बहुतायत और अधिक अंश में मिले होने से यह अनुमान होता है कि यह ताँबा या तो राजपूताना से आता होगा या बलूचिस्तान या ईरान से। यहाँ की ज़मीनों से सीसा कच्चे ताँबे की धातु के साथ निकलता है। ताँबा उस समय अधिकांश औज़ार, ज़ेवर और बर्तनों के लिए पत्थर का स्थान लेने लग गया था। उदाहरणार्थ बरछी, कटार, छीनी, बर्तन और इस के अतिरिक्त सस्ते क़िस्म के ज़ेवरों में भी व्यवहृत होता था। उदाहरणार्थ कड़े, बालियाँ, अँगूठियाँ, करधनी और तार तांबे के पाए गए हैं।

ताँबा

मोहेंजो दाड़ो में टीन एक पृथक् धातु के रूप में नहीं प्राप्त हुआ वरन् यह ताँबे में मिश्रित काँसे के रूप में मिला है। इस से भी प्रायः वही सब वस्तुएँ बनती थीं जिन का वर्णन ताँबे के संबंध में किया जा चुका है। वरन् ज़ेवरों और औज़ारों के लिए जिन में तेज़ धार की आवश्यकता होती ताँबे की अपेक्षा यह विशेष उपयुक्त समझा जाता। उन ज़ेवरों के लिए जिन में अधिक बारीकी और सफ़ाई की ज़रूरत हो यही अधिक अच्छा समझा जाता था। इन के अतिरिक्त जिन व्यवहारों में ताँबा आता था उन्हीं में काँसा भी आता था। ताँबे में और धातुओं के अंश भी मिले हुए पाए गए हैं जैसे संखिया और हड़ताल। परंतु यह नहीं कहा जा सकता कि यह मिलावट आदमी की की हुई थी या प्राकृतिक।

टीन और काँसा

सिंध नदी के पास के मैदानों में नदी से निकले हुए पत्थर के कण भी दिखाई नहीं देते। इस से जान पड़ता है कि पत्थर वहाँ बिल्कुल अप्राप्त था। जो पत्थर निर्माण या अन्य कार्यों के लिए आते थे वे दूर या निकट के अन्य

स्थलों से आते थे जो पत्थर सुगमता से प्राप्त होते थे वह तीन प्रकार के होते थे। एक तो सफ़ेद या पीले रंग का पत्थर जो सिंध नदी के किनारे शक्कर में मिलता था और बड़ी सुगमता से नावों द्वारा लाया जा सकता था। दूसरा खरिया पत्थर और तीसरे संगमर्मर। यह दोनों प्रकार के पत्थर सौ मील की दूरी से, या तो किरतार की पहाड़ियों से खोद के लाए जाते थे या सभव है इस से कम व्यय मे काठियावाड़ से नावों द्वारा लाए जाते हों। उन के अतिरिक्त जो पत्थर हड़प्पा और मोहेंजो दाड़ो में व्यवहृत हुए हैं उन में एक तो पीला सुंदर जैसल्मेरी पत्थर है दूसरा स्याही लिए हुए भूरा पत्थर जो स्लेट के प्रकार का होता है। तीसरा एक रेह की तरह का पत्थर है। यह सब के सब संभवतः राजपूताने से लाए गए हैं। संगमर्मर जो अपेक्षाकृत मुलायम होता है वह ऐसी वस्तुओं में व्यवहृत हुआ है जिन के टूटने फूटने का डर कम हो। अधिक कड़ा पत्थर दरवाजे, तौलने के बाट और किन्ही बर्तनों के लिए उपयोग में लाया गया है। पीले जैसल्मेरी पत्थर की मूर्तियाँ और पूजापाठ की वस्तुएँ बनाई गई है। स्लेट के प्रकार के पत्थरों से कुछ बर्तन और तौलने के बाट बनाए गए हैं।

निर्माण के तथा अन्य पत्थर

कुछ साधारण मूल्यवान् पत्थर माले और आभूषणों में व्यवहृत हुए हैं। यह पत्थर विभिन्न प्रकार के हैं जो राजपूताना, पंजाब, काठियावाड़ और मध्य प्रदेश से लाए जाते थे। कुछ उन में से ऐसे हैं जो ईरान की खाड़ी से आते थे और राजपूताना और मध्य प्रदेश व बिहार से भी। जिन पत्थरों के माले बनते थे वह कृष्णा और गोदावरी नदियों से भी आते थे और राजपूताना से भी। सुंदर हरा अमेजन पत्थर नीलगिरी की पहाड़ियों के निकट एक स्थान दादा-बेटा से, और नीलम और याक़ूत दक्खिन से आते थे। लाजवर्द, फ़िरोज़ा और ज़मुर्रद हिंदुस्तान मे बिल्कुल नहीं प्राप्त होता। इन में से प्रथम अल्सको बदख़्शां से जो अफ़ग़ानिस्तान का एक सूबा है और दूसरा अल्सको ईरान के एक प्रांत ख़ुरासान से आता था। यद्यपि यह ईरान के दूसरे भागों और

साधारण कीमती पत्थर

सीस्तान में भी प्राप्त होता है जमुर्रद या तो पामीर से या पूर्वी तुर्किस्तान या तिब्बत से आता था।

दूसरे ध्यान देने योग्य खनिज पदार्थ जो मोहेंजो दाड़ो में प्राप्त होते हैं उन में से एक है राल जो मोमजामा और अन्य वस्तुओं के बनाने में व्यवहार में लाया जाता था। यह या तो ईसाखैल से जो सिंध नदी के दाहिने किनारे पर है लाया जाता था या बलूचिस्तान की पहाड़ियों से। यह भी संभव है कि फ़राल नदी के द्वारा आता रहा हो। गेरू, गच साधारणतया मध्य प्रदेश में प्राप्त होता है, परंतु नावों द्वारा इस का बड़ा अंश हरमुज़ व फ़ारस की खाड़ी के अन्य टापुओं से भी आता था। इन स्थानों का गेरू अपेक्षाकृत कुछ अधिक साफ़ भी होता है। इसी प्रकार एक हरी-सी मिट्टी भी मिलती है जो संभवतः बलूचिस्तान से आती थी और यह भी संभव है कि अन्य प्रकार से प्राप्त होती रही हो।

अन्य खनिज

उपरोक्त धातुओं और खनिजों को छोड़ कर बहुत सी प्राकृतिक तथा मानवी वस्तुएँ भी मिली हैं जो आभूषणों और छोटी छोटी नुमायशी चीजों में व्यवहृत होती थीं। उदाहरणार्थ हड्डियाँ, हाथी दाँत, घोंघे वग़ैरह। यह वस्तुएँ स्थानीय ही होंगी। लेकिन भिन्न प्रकार के घोंघे हिंद तट और ईरान की खाड़ी और अहमर समुद्र से भी लाए जाते थे।

मोहेंजो दाड़ो में कातने की एक साधारण प्रथा प्रचलित थी जिस का प्रमाण इस बात से मिलता है कि मकानों से तकलियों की गड्डियाँ प्राप्त हुई हैं। यह तकलियाँ क़ीमती वस्तुओं से लेकर घोंघे और मिट्टी तक की हैं। इस से यह जाना जाता है कि प्रत्येक अमीर और ग़रीब घराने में कातने का रिवाज था। गर्म कपड़ों के लिए ऊन और हल्के कपड़ों के लिए सूत काम में लाया जाता था। सूत के बहुत बारीक बारीक टुकड़े एक चाँदी के बर्तन में चिपके हुए पाए गए हैं। सूत के इन रेशों की परीक्षा मिस्टर ए० एन० ग्लाटी और मिस्टर ए० जे० टर्नर ने इंडियन काटन कमिटी के परीक्षणालय में की तो मालूम हुआ कि

कातना और कपड़ा बुनना

आजकल के हिन्दुस्तानी सूत से मिलता जुलता है। यह अमरीका के आधुनिक सूत या दूसरे बारीक और मुलायम सूत की तरह का नहीं है इस का एक बटा हुआ नमूना जो प्राप्त हुआ है उस से मालूम होता है कि उस जमाने का यह सूत सिंध के आजकल के सूत से नहीं मिलता। मोहेंजो दाड़ो में जो कुछ भी खोज हुई है उस ने यह निश्चित कर दिया है कि वह बारीक हिंदुस्तानी सूत जिसे बैबिलोनिया के निवासी सिंधु और यूनानी सिनडून कहते थे यह असली कपास का न था बल्कि किसी वृक्ष के रेशे का था। यहीं पर यह बता देना भी आवश्यक है कि इस सूत पर जो रंग दिखाई देता है वह मिस्टर ग्लाटी और मिस्टर टर्नर की राय में मजीठ का है।

पोशाक

पोशाकों के संबंध में हमारी जानकारी बहुत थोड़ी और अपूर्ण है। दो मूर्तियाँ जो प्राप्त हुई हैं उन में एक मर्द की है। मूर्ति में आदमी शाल लपेटे दिखाया गया है। शाल का एक छोर दाहिनी ओर से होता हुआ बाएँ कंधे तक इस प्रकार से गया है कि दाहिना हाथ स्वतंत्र है। शाल के नीचे और भी कोई वस्त्र पहना जाता था इस का पता नहीं।

इस के अतिरिक्त मिट्टी की कुछ और मूर्तियाँ भी प्राप्त हुई हैं जो मर्दों की हैं। यह, जेवरों और सिर की पोशाक को छोड़ कर प्रायः नंगी है। परंतु इन से यह परिणाम निकालना उचित न होगा कि ग़रीब या किसी विशेष वर्ग के लोग उस समय नंगे रहते थे। आश्चर्य नहीं कि यह मूर्तियाँ देवताओं की हों और और भी पुराने जमाने के रीति-रिवाज की परिचायक हों। सब की सब अर्ध नग्न हैं।

जेवर

गहनों का व्यवहार प्रत्येक वर्ग में प्रचलित जान पड़ता है। गले का हार, सिरबंद, बाजूबंद और अंगूठियाँ मर्द औरत दोनों व्यवहार करते थे। करधनी, बुंदे और पायजेब केवल औरतें पहनती थीं। मिस्टर मैके ने इन गहनों का विस्तृत वर्णन किया है। उदाहरण के लिए करधनी, हार, चूड़ियाँ, बाजूबंद, अंगूठियाँ, बालियाँ, और शायद बुलाक और नथ या बुंदे, पिन, बटन इत्यादि।

अमीरों के यहाँ यह चीज सोने, चाँदी, चीनी, हाथीदाँत या अन्य मूल्यवान पत्थरों की होती थी गरीबों के यहाँ पीतल, ताँबे, मिट्टी और हड्डियों की

उपरोक्त वस्तुएँ जो मोहेंजो दाड़ो में प्राप्त हुई हैं उन से केवल यही नहीं प्रमाणित होता कि उस समय का रहन-सहन कैसा था। परंतु इसी सिलसिले में यह बात भी निर्धारित की गई है कि यह वस्तुएँ कहाँ-कहाँ से प्राप्त की जाती थीं जिन से इस बात पर भी प्रकाश पड़ता है कि उस समय के लोगों के व्यापारिक संबंध का सूत्र कहाँ-कहाँ तक फैला हुआ था और इस प्रकार उन की सभ्यता ने कहाँ तक प्रस्तार प्राप्त किया था।

(अनुदित)

प्राचीन भारत में माप

[लेखक—डाक्टर प्राणनाथ, विद्यालंकार, पी-एच्० डी० (वियना), डी० एस्-सी० (लंदन)]

गत अंक में प्राचीन भारत में तोल के संबंध में कुछ विचार प्रकट किए गए थे इस अंक में उसी प्रकार माप के संबंध में विचार अंकित हैं।

दूरी तथा लंबाई के माप

तोल के बट्टों तथा मापों के सदृश दूरी तथा लंबाई के मापों का प्रश्न भी बहुत ही महत्त्व-पूर्ण है। जिस प्रकार भू-माप, बट्टे आदि मे मुसलमानी राजाओं ने कोई बड़ा परिवर्तन या महत्त्वपूर्ण काम न किया उसी प्रकार दूरी तथा लंबाई के माप के संबंध मे भी उन को कुछ भी श्रेय नहीं मिल सकता। आश्चर्य की बात तो यह है कि उन का इलाही गज़ तक अपना नहीं है। प्राचीन काल के प्राजापत्य किष्कु को उन्हों ने यह नाम दे दिया।

जहाँ तक प्राचीन भारत के मापों के विकास का प्रश्न है कुछ भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। इस का विकास भी आर्य जाति के मूल-स्थान से संबद्ध है। आर्य लोग जब इधर उधर फैले अपने मापों को अपने साथ ले गए। महाशय ब्यूख (Böckh) का विश्वास है कि "ग्रीस तथा रोम के माप प्रायः वही हैं जो कि कैल्डिया तथा बैबिलोनिया में बहुत प्राचीन काल से प्रचलित थे। मिश्र के लोगों ने भी उसी मूलस्थान से मापों को लिया। फीनीसियन लोग व्यापार के द्वारा ग्रीस में पहुँचे तथा उन्हों ने इन मापों को ग्रीस मे प्रचलित किया। ग्रीस से यह माप इटली में गए।"[1] महाशय ब्यूख

---

[1] स्मिथ, 'डिक्शनरी अव् ग्रीक एंड रोमन ऐंटिक्विटीज़', लंदन, १८७२, पृ० ७५४।

के इन विचारों से हम सहमत नहीं हैं। हम इस प्रश्न पर उसी समय विचार करेंगे जब कि मोहेंजो दाड़ो तथा हड़प्पा के लेखों के प्रश्न को सरल करेंगे तथा उन मे लिखे लेखों में क्या है, उन को कैसे हम ने पढ़ा इस का सविस्तर वर्णन 'हिंदुस्तानी' के किसी अंक में प्रकाशित करेंगे। इस में संदेह भी नहीं है कि भारत, ग्रीस, रोम के मापों में कोई विशेष भेद नहीं है। निम्नलिखित तालिका इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है—

तालिका—१

(क)

ग्रीस में प्रचलित माप

४ अंगुल (digits)	=	१ धनुर्ग्रह (palm)
३ धनुर्ग्रह (palms)	=	१ वितस्ति (span)
२ वितस्ति (spans) (वित्ता)	=	१ हस्त (हाथ, cubit)
४ हस्त (cubits)	=	१ नालिका (fathom)
४ धनुर्ग्रह (palms)	=	१ पद (foot) =१२·१३५ इंच

(ख)

रोम में प्रचलित माप

४ अंगुल (digits)	=	१ धनुर्ग्रह (palm)
३ धनुर्ग्रह (palms)	=	१ वितस्ति (span)
१½ पद (२ spans)	=	१ हस्त (cubit)
४ धनुर्ग्रह (palms)	=	१ पद (foot) =११·६२ इंच

(ग)

प्राचीन भारत में प्रचलित माप

४ अंगुल	=	१ धनुर्ग्रह
३ धनुर्ग्रह	=	१ वितस्ति

२ वितस्ति		१ हस्त
४ हस्त	=	१ नालिका, दण्ड
३$\frac{1}{2}$, ३$\frac{3}{4}$ धनुर्ग्रह	=	१ पद =१०·५ तथा ११·२५ इंच

ऊपर लिखी तालिका से स्पष्ट है कि प्राचीन भारत, ग्रीस, रोम तथा बैबिलोनिया में दूरी संबंधी माप वस्तुतः एक ही हैं। परन्तु इस का यह तात्पर्य नहीं है कि भारत ने इस संबंध मे अपना कुछ भी नहीं किया। जैसे जैसे भारत मे जनसंख्या बढ़ी, जंगल कटे, मकान, नहर, मन्दिर आदि बने, भिन्न भिन्न माप प्रचलित हो गए। नीचे की तालिका इस स्थिति का दिग्दर्शन कराती है। उस में हम ने ४ अंगुल ३ इञ्च के बराबर माने हैं। साथ ही एक कालम मे यह भी दिखाया है कि सर अलकजेंडर कनिंघम के अनुसार भिन्न भिन्न मापों का आंग्ल माप में परिवर्तन कैसे किया जा सकता है। क्योंकि उन से हमारा मत-भेद है अतः मुख्य कालम में हम ने अपने अनुसार परिवर्तन किया है—

तालिका—२

कौटल्य तथा अन्य लेखकों के अनुसार (१)	इञ्च (२)	कनिंघम के अनुसार (३)	प्रामाणिक ग्रन्थ तथा लेखक (४)
४ अंगुल = १ धनुर्ग्रह	= ३	—	कौटल्य के अनुसार
८ ” = १ धनुर्मुष्टि	= ६	—	”
१० ” = १ क्षुद्रपद	= ७$\frac{1}{2}$	—	महादेव के अनुसार
१२ ” = १ वितस्ति या प्रदेश	= ९	—	कौटल्य के अनुसार
१४ ” = १ शम या शल या पद	= १०$\frac{1}{2}$	—	”
१५ ” = १ पद	= ११·२५	—	महादेव के अनुसार
३० ” = २ पद या युकम	= २२·५	—	कौटल्य के अनुसार
२८ ” = १ हस्त या युकम	= २१	—	[चरागाहों, तराजुओं, वर्गों के माप में]

२४ अगुल	१ प्राजापत्य हस्त या १ अरत्नि	१८	—	कौटल्य के अनुसार
२४ ”	= ”	१८	—	[1]महादेव के अनुसार
२४ ”	= ”	”	—	दानमयूख के अनुसार
३२ ”	= १ किष्कु या १ कंस	२४	—	कौटल्य के अनुसार
४२ ”	= १ किष्कु	३१½	—	”

---

[1]महादेव का लेख माप के संबंध में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वह लिखता है—

तत्र पिशीलमानं पञ्चधा वदन्ति बाह्वोरन्तरालमेकम्।
बद्धमुष्टीरत्निरिति द्वितीयम्। अरत्निरिति तृतीयम्।
द्वात्रिंशदङ्गुलमिति चतुर्थम्। षट्त्रिंशदङ्गुलमिति पञ्चमम्।
सत्याषाढ विरचित श्रौतसूत्र—भाग १, पृ० २८७।
अङ्गुलादि प्रमाणं तु शुल्व आचार्य उक्तवान्।
वेदिमानोपयोगित्वात् तत्प्रमाणमहं ब्रुवे।
चतुर्दशाणवो यावत् तावद् एवाङ्गुलं भवेत्।
त्रयस्त्रिंशत् तिला वा स्यात् कोशस्था अंगुलं त्विह।
दशाङ्गुलं क्षुद्रपदं प्रदेशो द्वादशाङ्गुलः॥
पृथम् (?) त्रयो दशाङ्गुल्यास्तावदेवोत्तरं युगम्।
पदं पञ्चदशाङ्गुल्यो द्वादशाङ्गुल्योऽथवा।
पदद्वयं प्रक्रमः स्यात् प्रादेशौ द्वावरत्निकः।
जानु द्वात्रिंशदङ्गुल्यः षट्त्रिंशद्बाहुशम्यके।
चतुःशताङ्गुलं त्वक्षः षडाशीत्यङ्गुलं युगम्।
ईषा प्रमाणमङ्गुल्यस्त्वष्टा शीत्यधिकं शतम्॥
अरत्न्यस्तु चत्वारो व्यायामस्य प्रमाणकः।
अरत्न्यस्तु पञ्चैव पुरुषो व्याम एव च॥ पूर्वोद्धृत ग्रन्थ।

(१)		(२)	(३)	(४)
३२ अगुल	१ जानु	२४ इञ्च		महादेव के अनुसार
५४ "	= १ हस्त	= ४०½ "	—	कौटल्य के अनुसार [जंगलों तथा लकड़ियों के मापने में]
८४ "	= १ व्याम	= ६३ "	—	कौटल्य के अनुसार [रस्सी तथा गहराई के मापने में]
८६ "	= १ युग	= ६४·५ "	—	महादेव के अनुसार
९६ "	= १ दंड या ४ अरत्नि	= ७२ "	५·८१ फीट	कौटल्य के अनुसार
९६ "	= १ व्यायाम	= ७२ "	"	महादेव के अनुसार
९६ "	= १ धनु या नालिका या पुरुष	= ७२ "	"	कौटल्य के अनुसार
१०८ "	= १ गार्हपत्य धनु	= ८१ "	"	कौटल्य के अनुसार [सड़कों तथा क़िले की दीवारों के मापने में]
१२० "	= १ पुरुष या व्याम	= ९०	—	महादेव के अनुसार
१८० "	= १ पुरुष [१ ईषा]	= १३५	—	कौटल्य के अनुसार
१९२ "	= १ दंड या ६ कंस या १ नाली	= १४४	—	[ब्राह्मण को दानों में दी गई भूमि के माप में]
१० दंड	= १ रज्जु	= १४४० (=४० गज)	११६·२ फीट	कौटल्य के अनुसार
२ रज्जु	= १ परिदेश	= २८८०	२३२ ४	" "
१×३ रज्जु	= १ निवर्त्तन	= ४०×१२० वर्गीय गज	—	" "
३०० धनु	= १ नल्वा	= २२५० गज	२०१७ गज	" "
१००० "	= १ गोरुत			

२००० "	१ गव्यूति =	४५०० गज ४०३४ गज	"	"
४००० " =	१ क्रोश =	९००० गज ८०६९ गज	"	"
८००० " =	१ योजन =	१० मील, ९½ मील (लगभग) लगभग	"	"

प्राचीन भारत के लंबाई मापने के माप जो कि मुसलमानी ज़माने तक चलते रहे।

२४ अंगुल = १ प्राजापत्य हस्त = १ कोवादू (=१८ इञ्च) पूर्वीय समुद्र तट पर चलता था।

४२ " = १ किष्कु = १ इलाहीगज (=३२इञ्च) सिंध में चलता था

५४ " = १ हस्त = १ इलाहीगज (=४०इञ्च) उत्तरी भारत में प्रचलित।

यह पूर्व ही लिखा जा चुका है कि मुसलमान सम्राटों ने भारत के प्राचीन बट्टों को अपने साम्राज्य में ज्यों का त्यों चलने दिया। दूरी के माप में भी उन्हों ने बहुत हस्तक्षेप न किया। दानमयूख के अनुसार भारत में तीन प्रकार के माप चलते थे। उन सब के नाम एक ही थे। एक का आधार ६ जौ, दूसरे का ७ जौ और तीसरे का ८ जौ था।[1] आश्चर्य की बात है कि अबुल फ़ज़ल ने भी यही बात लिखी है। मोरलैंड का कहना है कि—

"संपूर्ण भारत में तीन माप चलते थे—लंबा, मध्यम तथा छोटा। प्रत्येक २४ भागों में विभक्त था। प्रत्येक भाग को तस्सुज नाम से पुकारते थे। पहिला तस्सुज ८ जौ के बराबर था—आठ जौ को उन को चौड़ाई की ओर इकट्ठा रखने से जो लंबाई निकलती थी उसी को ८ जौ

---

[1] अष्टौ यूका यवं प्राहुरंगुलं तु यवाष्टकम्।
अष्टभिरंगुलं तिर्यग् यवानामुत्तमं मतम्॥
सप्तभिर्मध्यमं प्रोक्तं षड्भिः स्यादधमांगुलम्॥

दानमयूख—पृ० २२-२३

के बराबर समझा जाता था। मध्यम तथा छोटे माप क्रमशः ७ तथा ६ जौ के बराबर थे। लंबा माप खेती की जमीनों, सड़कों, दूरियों, क़िलों, तालाब तथा मिट्टी की दीवारों के मापने के काम में आता था। मध्यम माप पत्थर के मकानों. लकड़ियों तथा बांस के झोंपड़ों, मन्दिरों, कुओं तथा बगीचों के मापने के काम में लाया जाता था। छोटा गज कपड़ों, हथियारों, बिस्तरों, कुर्सियों, पालकियों, गाड़ियों आदि के मापने में चलता था।"[१]

महाशय मोरलैंड के अनुसार[२] उत्तरी भारत में दूरी के जो भी माप चलते थे वह आमतौर पर गज के नाम से पुकारे जाते थे। वह भिन्न भिन्न प्रकार के थे। अकबर ने उन के भेदों को दूर करने की कोशिश की तथा इलाही गज को सरकारी माना। अबुल फजल के अनुसार यह ३१ इञ्च का होना है परन्तु वस्तुतः यह ३२ इञ्च का था। बाजार में जो गज चलता था वह ३१ इञ्च से एक इञ्च के लगभग बड़ा था। इलाही गज उत्तरी भारत मे चलता था। संपूर्ण भारत में यह चलता था ऐसा नहीं कहा जा सकता। जहाँ तक हमारा ख्याल है इलाही गज प्राजापत्य किष्कु का ही दूसरा नाम था। प्राजापत्य किष्कु ४२ अंगुल के बराबर था और आंग्ल माप मे ३१½ इञ्च के बराबर होता है। कौटल्य के अनुसार यह सेनाओं, क़िले, महलों तथा जमीनों के माप मे चलता था। अकबर के ज़माने में भिन्न भिन्न प्रान्तों में भिन्न भिन्न गज़ चलते थे। गुजरात मे जो गज चलता था वह २७ इञ्च के बराबर था; सिंध में वह ३२ इञ्च का था; उत्तरी भारत में वह ४० इञ्च का। आश्चर्य की बात तो यह है कि सब के सब माप कौटल्य में ज्यों के त्यों मिल जाते हैं। दृष्टान्त-स्वरूप यदि ऊपर लिखी तालिका पर दृष्टि डाली जाय तो स्पष्ट हो सकता है कि कौटल्य का प्राजापत्य हस्त पूर्वीय तट पर प्रचलित था, जो कि २४ अंगुल या १८ इञ्च के बराबर था। उत्तरी भारत का ५४ अंगुल या ४०½ इञ्च का गज जो कि उत्तरी भारत में चलता

---

[१]आईन-ए-अकबरी, जिल्द २, पृ० ५८-९।

[२]मोरलैंड, 'फ्रम, अकबर टु औरंगज़ेब', १९२३, पृ० २३७।

था कौटल्य के काल में वह जगलों की लकड़ियों के मापने के काम में आता था। सिंध का ३१½ इञ्च या ४२ अंगुल का गज़ (किष्कु) जिस का नाम मुसल्मानी ज़माने में इलाही गज़ हो गया कौटल्य के प्राजापत्य किष्कु के बराबर था—अकबर ने उस को सरकारी गज़ बना दिया।[1]

लंबाई चौड़ाई के वर्गीय माप

प्राचीन भारत के शिलालेख, ताम्रपत्र आदि भूमि-दान संबन्धी लेखों से भरपूर हैं। उन में भूमि के भिन्न भिन्न मापों के नाम आते हैं। क्योंकि उन मापों पर कोई विस्तृत ग्रन्थ न होने से शिलालेखों तथा ताम्रपत्रों के समझने में अधिक कठिनाई हो जाती है। उन को वर्तमानकालीन पैमानों मे कैसे परिवर्तन किया जाय ? यह एक ऐसा प्रश्न है जिस का सरल करना भी सुगम काम नहीं है। क्योंकि इस प्रश्न के सरल करने पर प्राचीन काल में भूमि की उत्पादकशक्ति क्या थी यह प्रश्न भी बिना बहुत कठिनाई के सरल किया जा सकता है। दानमयूख में लिखा है कि जो लोग दान देना चाहें वह हो सके तो ब्राह्मण को एक ग्राम दें। यदि वह इस स्थिति में न हो कि ग्राम दे सके तो गोचर्म ही दें। वह लिखता है कि गोचर्म ज़मीन का वह टुकड़ा है जिस पर सौ गायें तथा एक बैल अमन चैन के साथ बैठ सकें और जिस पर इतनी पैदावार हो सके कि उस से एक ब्राह्मण आनन्द के साथ अपना जीवन-निर्वाह कर सके। गोचर्म 'ब्रह्मदेयनिवर्त्तन' का दो-तिहाई होता है[2]। पूर्णरूप से यदि अन्वेषण

---

[1] मोरलैंड, 'फ़्रम अकबर टु औरंगजेब' पृ० २३७-३८।

[2] अपि गोचर्ममात्रेण सम्यग्दत्तेन मानवः।
धौतपापो विशुद्धात्मा स्वर्गलोके महीयते॥ दानमयूख—पृ० १६०॥
गवां शतं वृषश्चैको यत्र तिष्ठेदयन्त्रितः।
तद्धि गोचर्ममात्रंतु प्राहुर्वेदविदो जनाः॥ दानमयूख—पृ० १६०॥
यद्दुत्पन्नमथाश्नाति नरः संवत्सरं द्विजः।
एकगोचर्ममात्रं तु भुवः प्रोक्तं विचक्षणैः॥ दानमयूख—पृ० २३॥

किया जाय तो स्पष्ट हो सकता है कि 'ब्रह्मदेव निवर्त्तन' भारत में प्रचलित एक एकड़ के लगभग बराबर था।

ऊपर लिखे मापों के सदृश एक दूसरा हल नामक माप है जो कि शिलालेखों में बराबर पाया जाता है। महाशय बुखानन (Buchanan) के अनुसार "एक हल से अधिक से अधिक १० असली बीघे (कलकत्ते के १५ बीघे या ५ एकड़) ज़मीन जोती जा सकती है।"[1] इसी प्रकार सर डबल्यू हंटर का मत है कि "उड़ीसा में जानवर इतने कमज़ोर हैं कि एक जोड़ी बैल ६ एकड़ से ज़्यादा ज़मीन नहीं जोत सकता।"[2] इन सब उद्धरणों से स्पष्ट है कि एक हल ज़मीन ५ या ६ एकड़ के बराबर होती है। प्राचीन भारत में एक हल की ज़मीन एक कुल या परिवार के पालन पोषण में पर्य्याप्त समझी जाती थी। महाशय सी० जे० स्टीवेन्सनमोर (C. J. Stevenson-Moore) का गया के से संबन्ध में मत है कि "६ एकड़ ज़मीन एक परिवार का भली प्रकार पालन पोषण कर सकती है—ऊपर से चाहे उस परिवार की कुछ भी आमदनी न हो।"[3] आश्चर्य तो यह है कि ईसा से कई सदी पहले भी भारत का रहन-सहन तथा जीवन-निर्वाह का ढंग आज कल से कोई विशेष रूप से भिन्न न था। बौद्धायन धर्मसूत्र के अनुसार "छः निवर्त्तन के लगभग जमीन का टुकड़ा राज्यकर से मुक्त होना चाहिए। क्योंकि यह परिवार के पालन पोषण के लिए आवश्यक है।" निवर्त्तन शब्द के अर्थ पर

दशहस्तेन दण्डेन त्रिंशद्दण्डानिवर्त्तनम् ।
त्रिभागहीनं गोचर्म मानमाह प्रजापतिः ॥ दानमयूख—पृ० १६० ॥

दशहस्तेन दण्डेन त्रिंशद्दण्डातिवर्त्तनम् ।
दश तान्येव वर्त्तानि ब्राह्मणेभ्योददानियः ॥ दानमयूख—पृ० २३ ॥

[1] बुखानन, 'दीनापुर', १८३२, पृ० २३४।

[2] हंटर, 'उड़ीसा', जिल्द २, अनुक्रमणिका २, पृ० ४७।

[3] 'रिपोर्ट अव् दि मैटिरियल कंडिशन अव् स्माल एग्रिकल्चरिस्ट्स एंड लेबरर्स इन गया', १८९८, पृ० २०।

भी उस ग्रन्थ मे जो दिया है उस से बहुत ही अधिक प्रकाश पडता है। मालूम यह पड़ता है कि निवर्त्तन शब्द वृत्ति भोजन छादन, भत्ते आदि के अर्थ से घनिष्ट संबंध रखता है। वह भूमि का टुकड़ा जो कि एक मनुष्य के भोजन छादन, पालन-पोषण के लिए प्रर्याप्त हो एक निवर्त्तन माना जाता था।[१] यदि ५ या ६ एकड़ भूमि को एक परिवार के लिए पर्य्याप्त मान लिया जाय तो शिलालेखो में आए कुल्यवाप शब्द का अर्थ भी स्पष्ट हो जाता है। महाशय पारजिटर के अनुसार "कुल्यवाप ८×९ दण्ड (reeds) के बराबर था। एक दण्ड १६ क्यूबिट (cubits) लंबा होता था—एक क्यूबिट १९ इंच के बराबर समझना चाहिए। सारांश यह है कि कुल्यवाप लगभग एक एकड़ के बराबर था। इस के बोने के लिए एक कुल्य अर्थात् ८ द्रोण अनाज पर्य्याप्त था।"[२] हमारी समझ में पारजिटर का मत ठीक नहीं है। कुल्यवाप हम को तो एक हाथ जमीन के बराबर मालूम पड़ता है। अर्थात् ५ या ६ एकड़ जमीन जो कि एक कुल के लिए पर्याप्त समझी जाती थी। संस्कृत के व्याकरण के अनुसार कुल्य का अर्थ 'कुल के लिए हितकर' होता है। क्योंकि परिवार के लोग बीज का अनाज भण्डार में अलग से रख लेते थे। अतः

---

[१] तेषां तद्वर्त्तनाद् वृत्तिरित्युच्यते । शालाश्रयत्वाच्छालीनत्वम् । वृत्त्या वरया यातीत यायावरत्वम् । अनुक्रमचरणाच्चक्रचरत्वम् ता अनु व्याख्यास्यामः । षण्णिवर्त्तनी कुद्दाली ध्रुवा संप्रक्षालिनी समूहा पालिनी सिलोञ्छा कापोता सिद्धेच्छेति नवैताः ॥ तासामेव चात्यापि दशमी वृत्तिर्भवति । आनवृत्तेः । यथा एतत् षण्णिवर्त्तनीति । षड्एव निवर्त्तनानि निरुपहतानि करोति स्वामिने भागं उत्सृजत्यनु ज्ञातं वा गृह्णाति'''एतेन विधिनाषण्णि वर्त्तनानि करोति षण्णिवर्त्तनी ॥

बौद्धायन धर्मसूत्र । मैसूर संस्करण १९०७ । पृ० २९८७-३०९ ॥

[२] 'इपिग्राफिका इंडिका', जिल्द १५, नं० ७, पृ० १३०-४३ ; 'इंडियन ऐंटिक्वेटरी जिल्द ३९, पृ० २१६ (जुलाई १९१०)

कुल्य नाम ८ द्रोण अनाज का हो गया ८ द्रोण ऊपर की तालिका के अनुसार ८० अकबरी सेर या आजकल के दो मन से कुछ अधिक हुआ एक एकड़ में बोने के लिये १२ से १६ सेर तक चावल की जरूरत होती है।[1] इस प्रकार ८० अकबरी सेर चावल ५ या ६ एकड़ के लिए पर्याप्त होता है। हल या कुल्यवाप का दूसरा नाम वाटिका या वेलि मालूम पड़ता है।[2] मय के अनुसार एक वाटिका ५ वर्तनक के बराबर होता है। प्रत्येक वर्तनक १२८ धनुः या दण्ड का होता है।[3] प्रजापति तथा बृहस्पति का निवर्त्तन १३० दण्ड के बराबर था। दो दण्ड का भेद कोई बड़ा भेद नहीं है। कदाचित् यह प्रान्त भेद के साथ भिन्न हो गया हो। तामिल-फरांसीसी कोष (Dictionnaire Tamoul Francais) के अनुसार आधुनिक वेलि २६, ७५५ वर्गीय मीटर या ५ या ६ एकड़ के बराबर होता है। निम्न-लिखित तालिका मे जमीन के माप जो कि प्राचीन भारत मे प्रचलित थे इस प्रकार दिखाए जा सकते हैं:—

तालिका—२

८ धनुः =१ काकिणका
४×८ ,, =१ माष
४×४×८ ,, =१ वर्त्तन (मय के अनुसार)
१०×१३ (१३०) ,, = १ निवर्त्तन (कौटल्य के अनुसार)
१ कुरि = ५७६ वर्ग फीट (तामिल-फरांसीसी कोष के अनुसार)
१०० कुरि =१ कनि
५ कनि =१ वेलि

---

[1] एन० जी० मुकर्जी, 'हैंडबुक अव इंडियन एग्रिकल्चर', १९१५, कलकत्ता, पृ० १७१-२

[2] 'साउथ इंडियन इंस्क्रिप्शन्स', जिल्द २, नं० ६६, पृ० २५९।

[3] अष्टधनुश्चतुरस्रा काकणिका तच्चतुर्गुणं माषम्।
माषचतुर्वर्त्तनकम् तत्पञ्चगुणं हि वाटिका कथिता ॥ मयमत।
इपिग्राफ़िका इंडिका, जिल्द १५, नं० ५ पृ० ५५।

समालोचना

कविता

गुंजन—रचयिता, श्रीयुत सुमित्रानंदन पंत। प्रकाशक, भारती-भंडार, काशी। पृष्ठ १०० । मूल्य १॥)

यदि किसी कवि के महत्त्व का अनुमान इस बात से हो सकता है कि उस की रचनाओं का अनुकरण उस के बहुत से समसामयिक करें तो श्रीयुत सुमित्रानंदन पंत का स्थान हमारे आधुनिक साहित्य में बहुत माननीय है। उन के विषय में यह निस्संदेह कहा जा सकता है कि उन की शैली ने हमारे समय के अधिकांश नए बल्कि कुछ पुराने कवियों को भी प्रभावित किया है। इस दृष्टि से उन की कोई भी नई रचना साहित्य में स्वागत की वस्तु है। 'गुंजन' द्वारा कवि ने कई वर्षों का मौन भंग किया है और जिस रूप में वह अब प्रकट हुआ है उसे देखते हुए यह कहा जा सकता है कि उस के उद्‌गार अधिक स्पष्ट, अधिक कोमल और अधिक परिपक्व हो गए हैं और उस की भाषा भी तदनुसार अधिक मार्जित दिखाई देती है।

पंत जी के 'गुंजन' में, हमे एक बड़ा परिवर्तन दिखाई पड़ता है—वह है बाह्य से अंतः की ओर, शरीर से आत्मा की ओर, और स्थूल से सूक्ष्म की ओर। कवि की कला में कोमलता तो प्रारंभ से ही—जैसी कदाचित् उस के जीवन में—थी किंतु उस में करुणा ने मिल कर 'गुंजन' में एक विचित्र सृष्टि की है। कवि इस जीवन में निरंतर सुख-दुःख के द्वंद्व देखता है। अपनी इस प्रवृति की ओर उस ने स्वयं इस प्रकार लक्ष्य किया है—

देखूँ सब के उर की डाली—
किसने रे क्या क्या चुने फूल

जग के छवि-उपवन से अकूल !
इसमें कलि, किसलय, कुसुम, शूल !
देखूँ सब के उर की डाली—
सब में कुछ सुख के तरुण-फूल,
सब मे कुछ दुख के करुण-शूल;—
सुख दुःख न कोई सका भूल !

'गुंजन' मे हम देखते हैं कि कवि ने अपनी पुरानी आकाश-विहारिणी कल्पना को पेड़ों की डालियों पर ला बिठाया है। यह परिवर्तन भी कम उल्लेख-योग्य नहीं है—अपने उस कल्पना-जगत से वह जड़-जगत में अवतीर्ण हुआ है जिस में सुख दुःख दोनों का संमिश्रण है और उस ने इसी लिए जीवन के गहन-तत्वों पर स्वयं एक मौलिक ढंग से विचार करना प्रारंभ किया है। प्रारंभिक रचनाओं में कवि इस की उपेक्षा कर अपनी भावनाओं को एक निष्कलुष-सौंदर्य के संसार में स्वच्छंदता-पूर्वक विचरण करने देता है किंतु प्रत्येक प्रतिभाशाली कवि अपनी प्रौढ़ कृतियों मे जीवन के इन अटल सत्यों से भागता नहीं वरन् उन्हें सुलझाने का प्रयत्न करता है—यही बात हम 'गुजन' की उन कविताओं मे भी पाते हैं जो पीछे की हैं—इस संबंध में अपने विचारों को कवि ने इस प्रकार और भी स्पष्ट किया है—

मैं नहीं चाहता चिर-सुख,
चाहता नहीं अविरत-दुख;
सुख दुख की आँख मिचौनी,
खोले जीवन अपना मुख।

सुख-दुख के मधुर मिलन से,
यह जीवन हो परिपूरन;
फिर घन में ओझल हो शशि,
फिर शशि से ओझल हो घन।

जग पीड़ित है अति-दुख से,
जग पीड़ित रे अति-सुख से,

मैं बँट जाऊँ

दुख सुख से औ सुख दुख से।

अविरत दुख है उत्पीड़न

अविरत सुख भी उत्पीड़न,

सुख-दुख की निशा-दिवा में,

सोता-जगता जग-जीवन ।

'गुंजन' में 'नौका विहार' और 'एक तारा' ऐसी कविताएँ भी हैं जिन में कवि ने वर्णनात्मक शैली का अवलंबन किया है। इस नवीनता का रहस्य भी कवि की वास्तविकता से अधिकाधिक अनुराग की ओर प्रवृत्ति मे निहित है। वर्णन, में कवि को सफलता भी यथेष्ट मिली है निम्न पंक्तियाँ 'एक तारा' शीर्षक पद्य से उद्धृत हैं।

नीरव सन्ध्या मे प्रशान्त

डूबा है सारा ग्राम-प्रान्त।

पत्रों के आनत अधरों पर; सो गया निखिल बन का मर्मर,

ज्यों वीणा के तारों में स्वर।

खग-कूजन भी हो रहा लीन, निर्जन गोपथ अब धूलि हीन,

धूसर भुजंग-सा जिह्म, क्षीण।

झींगुर के स्वर का प्रखर तीर, केवल प्रशान्ति को रहा चीर,

संध्या प्रशांति को कर गभीर।

इस महाशान्ति का उर उदार, चिर आकांक्षा की तीक्ष्ण धार,

ज्यों बेध रही हो आर-पार।

पंत जी की कविताओं में गीत तो एक अनिवार्य अंग सदैव रहा है किंतु 'गुंजन' में संग्रहीत कुछ कविताओं में वह और भी निखरे रूप में आय है। वह गीत जिस की चार पंक्तियाँ निम्न हैं विशेष सुंदर हुआ है।

लाई हूँ फूलों का हास,

लोगी मोल लोगी मोल ?

तरल तुहिन-घन का उल्लास,

लोगी मोल लोगी मोल ?

आशा है कि पंत जी की प्रतिभा से और भी सुंदर रचनाएं प्रसूत हो कर हिंदी-साहित्य के आधुनिक युग में एक उच्च कोटि के कवि का आविर्भाव अन्य साहित्यों के प्रेमियों पर प्रकट करेंगी। अपनी रचनाओं के प्रति कवि के स्वयं क्या भाव हैं उस ने पुस्तक के अंतिम गीत में इस प्रकार व्यक्त किए हैं—

चींटियों की-सी काली-पाँति
गीत मेरे चल-फिर निशि-भोर,
फैलते जाते हैं बहु-भाँति
बंधु ! छूने अग-जग के छोर।
लोल लहरों से यति-गति-हीन
उमड़, बह, फैल, अकूल, अपार,
अतल से उठ-उठ हो-हो लीन
खो रहे बन्धन गीत उदार।
दूब से कर लघु-लघु पद चार—
बिछ गये छा छा गीत अछोर,
तुम्हारे पद-तल छू सुकुमार
मृदुल पुलकावलि बन चहुँ-ओर।...
बन्धु ! गीतों के पंख पसार
प्राण मेरे स्वर में लयमान,
हो गए तुम से एकाकार
प्राण में तुम औ' तुम में प्राण।

हिंदुस्तानी एकेडेमी की तिमाही पत्रिका

भाग ३ } अप्रैल, १९३३ { अंक २

सूरदास जी के इष्टदेव श्रीनाथ जी का इतिहास

[लेखक—श्रीयुत धीरेन्द्र वर्मा, एम० ए०]

चौरासी वार्ता के अनुसार महाप्रभु वल्लभाचार्य जी ने सूरदास जी को गोवर्द्धन में श्रीनाथ जी के मंदिर में कीर्तन का कार्य सौंपा था और सूरदास जी का प्रायः समस्त कृष्ण-कीर्तन, जो सूरसागर में संगृहीत है, यहाँ ही रचा गया था।[1]

सूरदास जी के इन इष्टदेव श्रीनाथ जी का पूर्ण वृत्तान्त 'श्रीगोवर्द्धन नाथ जी के प्रागट्य की वार्ता' शीर्षक पुस्तक में दिया हुआ है। एक बार व्रज-यात्रा मे मुझे इस पुस्तक की एक लीथो प्रति मिली थी। यह मुन्शी नवल-किशोर भार्गव की आज्ञानुसार मथुरा में १८८४ ईस्वी की छपी हुई है। लेखक का नाम नहीं दिया गया है। इस पुस्तक की सामग्री अत्यंत रोचक और उपयोगी है तथा हिंदी प्रेमियों को अभी साधारणतया उपलब्ध नहीं है, इसलिए मैं इस का सार नीचे देता हूँ।

---

[1] देखिए, 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में सूरदास जी की वार्ता।

संवत् १४६६ अर्थात् १४०९ ई०, श्रावण वदी तृतीया, आदित्यवार, सूर्य उदय के समय एक ब्रजवासी को श्री गोवर्द्धननाथ जी की अर्द्ध भुजा का और श्रावण सुदी नागपंचमी को पूरी भुजा का दर्शन हुआ। उसने अन्य लोगों को बुला कर दिखाया। तब से प्रति वर्ष नागपंचमी के दिन वहाँ मेला होने लगा और इस भुजा की पूजा होती थी। यह क्रम संवत् १५३५ तक जारी रहा। संवत् १५३५ अर्थात् १४७८ ई०, वैशाख वदी ११, बृहस्पतिवार के दिन मध्याह्नकाल में श्री गोवर्द्धननाथ जी का मुखारविंद प्रगट हुआ। इसी दिन इसी समय महाप्रभु वल्लभाचार्य जी का भी जन्म हुआ था।[1]

संवत् १५४९ अर्थात् १४९२ ई०, फाल्गुण सुदी ११, बृहस्पतिवार को श्री वल्लभाचार्य जी को ब्रज आने की प्रेरणा हुई। संवत् १५५२ अर्थात् १४९५ ई०, श्रावण सुदी ३, बुधवार को श्रीनाथ जी की स्थापना गोवर्द्धन के ऊपर कदाचित् एक छोटे मंदिर में हुई।

संवत् १५५६ अर्थात् १४९९ ई०, चैत्र सुदी २ के दिन पूर्णमल्ल खत्री ने बड़ा मंदिर बनाने का संकल्प किया। आगरे के एक प्रसिद्ध मिस्त्री हीरामनि ने श्री वल्लभाचार्य जी के परामर्श से नक़शा बनाया। संवत् १५५६, वैशाख सुदी ३, आदित्यवार को मंदिर की नींव रक्खी गई। एक लाख रूपया खर्च करने पर भी मंदिर अधूरा रह गया। बीस वर्ष बाद पूर्णमल्ल को तिजारत में

---

[1] 'श्रीवल्लभाचार्य जी का संक्षिप्त जीवन-चरित्र' शीर्षक एक छोटी हिन्दी पुस्तक के अनुसार संवत् १५३५ के लगभग वल्लभाचार्य के पिता लक्ष्मण भट्ट जी तीर्थ-यात्रा करते हुए काशी पहुँचे। यहाँ इनकी स्त्री 'इल्लमागारू जी' गर्भवती हुईं। किंतु इसी समय वहाँ दंडी और म्लेच्छों में उपद्रव शुरू हुआ जिससे वहाँ के रहने वाले जहाँ-तहाँ भाग निकले। लक्ष्मण भट्ट जी भी स्त्री-सहित चले और चम्पारण्य पहुँचे। मार्ग में उन की स्त्री के पुत्र हुआ जिसका नाम 'श्रीवल्लभ' रक्खा गया। जन्म का दिन वैशाख कृष्ण ११ रविवार सं० १५३५ था। म्लेच्छों के उपद्रव का संकेत सुलतान बहलोल (१४५०-१४८९ ई०) द्वारा जौनपुर जीतने की घटना की ओर हो सकता है।

तीन लाख का लाभ हुआ तब वह मंदिर पूरा हुआ संवत् १५७६ अर्थात् १५१९ ई० वैशाख बदी ३ अक्षय तृतीया को श्री वल्लभाचार्य ने इस मंदिर में श्रीनाथ जी की स्थापना की। माधवेंद्रपुरी बंगाली को मुखिया, कृष्णदास को अधिकारी तथा कुंभनदास को कीर्तन की सेवा सौंपी। १४ वर्ष पर्यंत बंगालियों ने मंदिर में सेवा का काम किया। श्री वल्लभाचार्य के स्वर्गवास[1] के पश्चात् श्री गोपीनाथ जी तीन वर्ष गद्दी पर रहे। उनकी अकाल मृत्यु के बाद श्री विट्ठलनाथ जी गद्दी पर बैठे। इनके समय में बंगालियों के स्थान पर गुजराती ब्राह्मण श्रीनाथ जी की सेवा में नियुक्त किए गए।[2] अष्टछाप कवि—सूरदास, परमानंद, कृष्णदास, छीतस्वामी, कुंभनदास, चत्रभुजदास, विष्णुदास और गोविंदस्वामी—ने श्रीनाथ का यश गाया है। संवत् १६२३ अर्थात् १५६६ ई०, फाल्गुण वदी ७, गुरुवार को श्रीनाथ जी कुछ दिनों को मथुरा श्री विट्ठलनाथ के घर पर श्री गिरधर जी द्वारा लाए गए।

श्री विट्ठलनाथ जी के स्वर्गवास के बहुत दिनों बाद उनके प्रपौत्र के पौत्र श्री दामोदर जी (बड़े दाऊ जी) के समय में जब औरंगजेब का राज्यकाल था तब आगरे से बादशाह का एक हलकारा यह हुक्म लाया कि 'श्री गोकुल

---

[1] श्री वल्लभाचार्य जी के संक्षिप्त जीवन चरित्र के अनुसार श्री वल्लभाचार्य का स्वर्गवास संवत् १५८७ अर्थात् १५३० ई०, आषाढ़ सुदी २ को ५२ वर्ष की अवस्था में हुआ। उनके बड़े पुत्र श्री गोपीनाथ जी का जन्म संवत् १५६७, आश्विन वदी १२ को तथा दूसरे पुत्र श्री विट्ठलनाथ जी का जन्म संवत् १५७२ अर्थात् १५१५, ई० पौष वदी ९ को हुआ था। श्री विट्ठलनाथ जी की मृत्यु ७२ वर्ष की आयु में अर्थात् १५८७ ई० के लगभग हुई। उनके बाद उनके ज्येष्ठपुत्र श्री गिरिधर जी गद्दी पर बैठे। इनका जन्म सं० १५९७ अर्थात् १५४० ई० में हुआ था। श्री गिरिधर जी के पौत्र श्री विट्ठलराय जी हुए और इनके पौत्र श्री दामोदर जी (बड़े दाऊ जी) हुए। इन्हीं के समय में श्री नाथ जी मेवाड़ ले जाए गए।

[2] बंगालियों के निकालने का अत्यंत रोचक वर्णन 'चौरासी वार्ता' में कृष्णदास अधिकारी की वार्ता में दिया हुआ है।

के फकीरा से कहो जा हम कौ कछूक करामात दिखावै नहीं तौ हमारे देश मे ते उठि जाउ ' आपस मे परामर्श के बाद संवत् १७२६ अर्थात् १६६९ ई०, आसोज सुदी १५, शुक्रवार को श्रीनाथ जी को गंगाबाई[1] के रथ में छिपा कर गोवर्द्धन से हटा कर आगरे लाया गया। पहले दो सौ सिपाही गोवर्द्धन का मंदिर तोड़ने को आए लेकिन वे मारे गए। उसके बाद '२०७ सिपाही भेजे गए लेकिन वे भी मारे गये। इस पर बादशाह ने वजीर को बहुत बड़ी सेना लेकर भेजा तब मंदिर की समस्त सामग्री लूटी गई और मंदिर के स्थान पर मस्जिद बनवा दी गई। आगरे में श्रीनाथ जी के आने की खबर फैल जाने पर वहाँ से भी श्रीनाथ जी को छिपा कर हटाना पड़ा। चंबल तक सिपाहियों ने पीछा किया।

कुछ दिनों मे सब लोग श्रीनाथ जी को लेकर कोटा बूँदी पहुँचे। चौमासा बिता कर पुष्कर जी होकर राजा जसवंतसिंह के समय में जोधपुर पधारे। राजा जसवंतसिंह उन दिनों कमायूँ के पहाड़ में अपनी ननसाल गए हुए थे। जोधपुर में कुछ दिन रह कर गोवर्द्धन से चलने के ढाई वर्ष बाद संवत् १७२८ अर्थात् १६७१ ई०, फाल्गुण वदी ७ को श्रीनाथजी मेवाड़ पहुँचे। राना रायसिंह ने अपनी माता के कहने से वहाँ ठहरने की स्वीकृति दी। बादशाह के आक्रमण के भय के संबंध में राना रायसिंह की माता ने अपने पुत्र से कहा कि "तुम रजपूत हौ, जमी के लीयें जीव देत हौ, तौ श्रीठाकुर जी के लीयें जीव देने का दावा विशेष है।"

बादशाह को जब यह पता चला तो मेवाड़ पर चढ़ाई हुई। राना रायसिंह ने चालीस हजार फौज लेकर मुक़ाबला किया। बादशाह की दो बेगमों की सवारी भूल से राना की फ़ौज में आकर फँस गई। राना रायसिंह ने आदर के साथ उन्हें बादशाह के पास भिजवा दिया। इस के बाद बादशाह और राना में सुलह हो गई और बादशाह की फ़ौज वापिस चली गई।

---

[1]श्री गंगाबाई की वार्ता के लिये देखिए 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता'। इस में गोवर्द्धन पर मुसल्मानों के आक्रमण का भी अत्यन्त रोचक वर्णन है।

श्रीनाथ जी को मंदिर से हटा कर दूसरे स्थान पर भेज दिया गया था उन्हें भी वापिस लाया गया।

संवत् १७४२ अर्थात् १६८५ ई०, फाल्गुण में एक करोड़पति माधवदास देसाई ने एक लाख के आभूषण श्रीनाथ जी को भेंट किए। यहाँ पर 'श्री गोवर्द्धन नाथ जी के प्रागटय की वार्ता' सहसा समाप्त हो जाती है। इस वार्ता में दी हुई तिथियाँ और उल्लेख कहाँ तक मान्य हैं इस संबंध में मुग़ल-काल के इतिहासज्ञों को ध्यान देना चाहिए। यह स्मरण दिलाने की आवश्यकता नहीं है कि इस समय श्रीनाथ जी नाथद्वारा मेवाड़ में ही विराजते हैं।

'ईश्वर' शब्द का महत्त्व-पूर्ण इतिहास

[लेखक—डाक्टर मंगलदेव शास्त्री, एम्० ए०, डी० फिल्०, (आक्सन)]

संस्कृत साहित्य में अभी तक हमें ऐसा दूसरा शब्द नहीं मिला जिस का इतिहास 'ईश्वर' शब्द के इतिहास के समान रोचक तथा महत्त्व-पूर्ण भी हो।

इस अनुसंधान की ओर हमारा ध्यान कैसे गया ? इस प्रश्न का उत्तर देना यहाँ आवश्यक है। 'ईश्वर' शब्द का प्रयोग संस्कृत साहित्य मे, मोटे तौर पर, दो विभिन्न अर्थों में पाया जाता है। साधारणतया तो 'ईश्वर' शब्द का अर्थ 'जगन्नियंता, सृष्टिकर्ता, सर्वव्यापक, देवाधिदेव प्रभु' ही देखा जाता है। आज कल के सर्व-साधारण के व्यवहार में 'शिव,' 'विष्णु,' 'राम,' 'कृष्ण' आदि शब्दों को छोड़ कर, जो परमेश्वर के अर्थ को प्रकट करने के साथ ही संप्रदाय-वाद को भी प्रकट करते हैं (इन शब्दों का संबंध विभिन्न शैव, वैष्णव आदि संप्रदायों से ही है), जो शब्द सांप्रदायिक भाव के बिना उस परमप्रभु के लिए प्रयुक्त होते है, उन में 'ईश्वर,' 'परमेश्वर' ही मुख्य है। हिंदू-जनता, जिस का संबंध किसी विशेष संप्रदाय से नहीं है, इन्हीं शब्दों के द्वारा परमप्रभु का स्मरण करती है।

इस सर्व-साधारण के प्रयोग को छोड़ कर संस्कृत साहित्य में भी 'ईश्वर' शब्द का प्रयोग अधिकतर ऊपर के ही अर्थ मे पाया जाता है। दार्शनिक साहित्य मे, विशेष कर न्याय और योग से संबंध रखने वाले साहित्य मे, जगन्नियंता, सृष्टिकर्ता परमेश्वर के अर्थ में 'ईश्वर' शब्द का ही प्रयोग बहुत कर के देखा जाता है।

दूसरी ओर पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' और 'पातंजल महाभाष्य' में कहीं भी, जैसा हम नीचे दिखलावेंगे, हमें यह 'ईश्वर' शब्द, अनेक बार आने पर भी, उक्त अर्थ में प्रयुक्त हुआ नहीं मिलता। इन ग्रंथों में सर्वत्र उस का अर्थ स्पष्टतया छोटा या बड़ा 'शासक' या 'राजा' देखा जाता है।

उक्त प्रयोग-भेद से स्वाभाविकतया यह इच्छा हमारे मन में पैदा हुई कि इस शब्द के अर्थ के इतिहास की खोज की जावे। उक्त जिज्ञासा की प्रबलता 'ऐश्वर्य' शब्द के अर्थ पर विचार करने से और भी अधिक हो गई। 'ऐश्वर्य' शब्द स्पष्टतया 'ईश्वर' शब्द से निकला है। ईश्वर-पने को ही ऐश्वर्य कहते है। पर 'ऐश्वर्य' शब्द का प्रयोग सदा सांसारिक वैभव—रुपया, पैसा, मकान, जानवर, नौकर-चाकर आदि उपभोग की सामग्री—के ही लिए होता है। ऋषि-मुनि महात्माओं में जो अलौकिक शक्तियाँ होती हैं उन को कोई 'ऐश्वर्य' शब्द से निर्देश नहीं करता; किंतु 'सिद्धि,' 'शक्ति' जैसे शब्दों का ही प्रयोग उन के लिए किया जाता है। इस से स्पष्ट है कि 'ऐश्वर्य' शब्द लौकिक वैभव-शाली 'राजा' या 'शासक' के अर्थ को रखने वाले 'ईश्वर' शब्द से निकला है, न कि 'परमेश्वर' के अर्थ को रखने वाले 'ईश्वर' शब्द से। यदि ऐसा होता तो योग-संबंधी या आत्मिक सिद्धियों या शक्तियों के लिए भी 'ऐश्वर्य' शब्द का प्रयोग देखा जाता। क्योंकि, परमेश्वर के विचार में तो लौकिक वैभव के स्थान मे आत्मिक-शक्ति का ही भाव मन में आता है। यह 'ऐश्वर्य' शब्द बड़ा प्राचीन है। इसलिये 'ईश्वर' शब्द के जिस अर्थ को लेकर यह निकला है वह अर्थ भी अति प्राचीन ही होना चाहिए।

इस कारण हमारे मन में उक्त जिज्ञासा और भी तीव्र हो गई। इसी से प्रेरित हो कर हमने प्राचीनतम वैदिक साहित्य से ले कर संस्कृत ग्रंथों को देखना शुरू किया। अब तक के अनुसंधान से—जिस का विचार इस लेख में किया है—हम इसी परिणाम पर पहुँचे हैं कि 'ईश्वर' शब्द का प्रयोग 'परमेश्वर' के अर्थ में बहुत पीछे से होने लगा है। इस के कारण का विचार भी हम अर्थ या भाव की दृष्टि से नीचे करेंगे। 'ईश्वर' शब्द के

इतिहास का यह अनुसंधान अतीव रोचक होने के साथ साथ कई दृष्टि से बड़े महत्त्व का भी है लेख के अंत मे ही हम इस का दिग्दर्शन करावेंगे

इस अनुसंधान में सब से पहले हम वैदिक संहिताओं को लेते है।

ऋग्वेदसंहिता

ऋग्वेद संहिता में 'ईश्वर' शब्द एक बार भी प्रयुक्त नही हुआ है। हाँ, यह शब्द जिस धातु—ईश्—से बना है उस का प्रयोग, क्रिया रूप से, अनेक स्थलो मे आता है। कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

मा नो दुःशंस ईशत। (ऋ० १। २३। ९)

अर्थात्, दुष्ट लोग हमारे ऊपर क़ाबू न पा सकें, या हमारे ऊपर प्रबल न हों।

अयमग्निः सुवीर्यस्येशे महः सौभगस्य (ऋ० ३। १६। १)

अर्थात्, यह अग्नि-देव सुन्दर वीर्य और बड़े सौभाग्य का स्वामी है।

दूसरा शब्द, जो 'ईश्वर' शब्द की तरह ही 'ईश्' धातु से निकला है और इस प्रकार 'ईश्वर' का स्थानीय तथा संबंधी है, 'ईशान' है। इस का अर्थ भी ऋग्वेद मे सामान्य रूप से 'समर्थ' है, और यह इंद्र आदि देवताओं के लिए प्रयुक्त हुआ है। जैसे—

ईशानो यवया वधम् (ऋ० १। ५। १०)

अर्थात्, हे इंद्र-देव! तुम समर्थ हो। तुम हनन को हम से दूर रक्खो।

'ईश्' धातु का प्रयोग उक्त अर्थ मे ही दूसरी संहिताओं में भी आता है। इस लिए इस का उल्लेख हम आगे नहीं करेंगे। 'ईशान' शब्द के अर्थ मे दूसरी संहिताओं में धीरे धीरे कुछ भेद होता गया है। यजुर्वेद और अथर्ववेद में इस का प्रयोग अग्नि-देवता के लिये विशेषण रूप से हुआ है, पर अधिक प्रयोग शिव या रुद्र के लिए ही है। यह प्रवृत्ति बढ़ती गई और अंत में यह 'शिव' का वाचक एक रूढ़ शब्द बन गया। पिछले साहित्य में यह इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इस शब्द का भी उल्लेख हम आगे प्रायः नहीं करेंगे, क्योंकि हमारे लेख का मुख्य विषय 'ईश्वर' शब्द ही है।

शुक्लयजुर्वेदसंहिता

इस संहिता में भी 'ईश्वर' शब्द का प्रयोग बिल्कुल नहीं किया गया है। हाँ, इस संहिता के चालीसवें अध्याय में 'ईश्' शब्द का प्रयोग, नाम के रूप में, बहुत कुछ परमेश्वर के अर्थ में किया गया दीखता है। परन्तु इस प्रसंग में दो बातों का ध्यान रखना चाहिए। प्रथम तो यह चालीसवाँ अध्याय वास्तव में एक उपनिषद् है और 'ईशावास्योपनिषद्' के नाम से प्रसिद्ध भी है। दूसरे "तत्र को मोहः कः शोक *एकत्वमनुपश्यतः*" आदि इसी अध्याय के मंत्रों के संबंध से यहाँ 'ईश्' का भाव बिल्कुल वैसा नहीं प्रतीत होता, जैसा आगे चल कर 'परमेश्वर' शब्द का है। अधिक से अधिक इस को भी हम 'ईशान' की तरह का ही शब्द कह सकते है। हमारा मुख्य विषय तो 'ईश्वर' शब्द ही है। इसलिए हमारे लिए तो इतना ही कहना पर्याप्त है कि यजुर्वेद मे 'ईश्वर' शब्द बिल्कुल प्रयुक्त नहीं हुआ है।

सामवेद-संहिता

इस संहिता में भी 'ईश्वर' शब्द एक बार भी प्रयुक्त नहीं हुआ है।

अथर्व-संहिता

यह सब से पहली संहिता है जिस में 'ईश्वर' शब्द का प्रयोग ५ बार आया है। वे स्थल नीचे दिये जाते हैं—

(१) मा मा हिंसिषुरीश्वराः (अथ० ७ । १०७ । १)

अर्थात्, स्वामी या द्युलोक, पृथ्वीलोक और अंतरिक्ष के देवता अग्नि, वायु और सूर्य मुझ को न मारें। यहाँ 'ईश्वराः' बहुवचन मे है, इस पर ध्यान देना चाहिए।

(२) प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे।
यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ (अथ० ११ । ६ । १)

(३) प्राणो ह सर्वस्येश्वरो यच्च प्राणिति यच्च न। (अथ० ११ । ६ । १०)

इस सूक्त में प्राण का बड़ा महत्त्व-पूर्ण वर्णन है, और प्राणशक्ति का जगज्जीवनी शक्ति से ऐक्य करके वर्णन किया गया है। 'ईश्वर' शब्द यहाँ

आया है, पर 'सर्वस्य' शब्द के साथ होने से ही यह स्पष्ट है कि वह यहाँ अपने पश्चात्कालीन रूढ अर्थ में युक्त नहीं किया गया है

(४) पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम् ।

उतामृतत्वस्येश्वरो यदन्येनाभवत्सह (अथ० १९ । ६ । ४) ।

यह मंत्र कुछ पाठभेद से यजुर्वेद में भी आया है; और वहाँ यहाँ के 'ईश्वरः' के स्थान मे 'ईशानः' पाठ है। इसी से स्पष्ट है कि यहाँ भी 'ईश्वर' का अर्थ सामान्यरूप से स्वामी या समर्थ ही है और अभी तक रूढ़ अर्थ परमेश्वर का नहीं है।

(५) कालो ह सर्वस्येश्वरो यः पितासीत् प्रजापतेः। (अथ० १९।५३।८)।

यहाँ भी काल को 'सब का स्वामी' कहा है।

ऊपर के सब स्थलों में 'ईश्वर' का अर्थ अधिक से अधिक हम स्वामी या राजा ही ले सकते हैं। यहाँ स्पष्टतया रूढ़ अर्थ परमेश्वर का नहीं है। हमारे इस कथन की पुष्टि वैदिक निघंटु तथा यास्कीय निरुक्त ग्रंथों से अच्छी तरह हो जाती है। ये ग्रंथ वेदों के कोश समझे जाते हैं।

निघंटु (२।२२) मे राष्ट्री, अर्यः, नियुत्वान् और इनः इन चार शब्दों को दे कर कहा है कि ये 'ईश्वर' के नाम हैं (इति चत्वारि ईश्वरनामानि)। यह स्पष्ट है कि 'राष्ट्री,' 'अर्य' आदि शब्दों के, जो निर्विवाद-रूप से वेदों मे स्वामी आदि अर्थों में प्रयुक्त होते हैं और परमेश्वर-वाचक नहीं हैं, अर्थ को बतलाने वाला 'ईश्वर' शब्द भी यहाँ परमेश्वर-वाचक नहीं है।

निरुक्त-कार यास्क ने उक्त शब्दों की व्याख्या करते हुए एक मन्त्र 'इन' शब्द के उदाहरण के तौर पर दिया है। उस मंत्र के "इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपाः" का अर्थ, क्रम से आधिदैविक और आध्यात्मिक दृष्टियों से, (१) "ईश्वरः सर्वेषां भूतानां गोपायितादित्यः" और (२) "ईश्वरः सर्वेषामिंद्रियाणां गोपायितात्मा" किया है। इस से भी स्पष्ट है कि निरुक्त-कार 'ईश्वर' शब्द को सामान्य-रूप से स्वामी के ही अर्थ में प्रयुक्त करते हैं। हमारे विचार में ऊपर दिए हुए अथर्ववेद के मंत्रों में भी 'ईश्वर' का यही अर्थ है।

ब्राह्मण-ग्रंथ

वैदिक संहिताओं की तरह ब्राह्मण-ग्रंथो मे भी 'ईश्वर' शब्द का प्रयोग लगभग नहीं के बराबर है, और जहाँ भी वह प्रयुक्त हुआ है वहाँ सर्वत्र स्पष्टतया 'समर्थ' या 'शक्त' के अर्थ में आया है। टीकाकारों ने भी सब जगह यही अर्थ किया है। परमेश्वर के अर्थ की कहीं गंध भी नहीं है। उदाहरणार्थ हम कुछ ही स्थलों का यहाँ निर्देश करना पर्याप्त समझते है। ऐतरेय-ब्राह्मण में 'ईश्वर' शब्द का प्रयोग सर्वत्र 'तोसुन्' प्रत्यय के साथ हुआ है, जैसे—

ईश्वरः पर्जन्योऽवर्ष्टोः (३ । १८)।

अर्थात् मेह अवर्षा करने मे समर्थ है।

ईश्वरो ह्यनृणा कर्तोः (१ । १४)।

अर्थात् दोष-राहित्य करने को समर्थ होता है।

ईश्वरो हास्माद् द्वितीयो वा ब्राह्मणतामभ्युपैतोः (७ । २९)।

इस से दूसरा या तीसरा ब्राह्मणता प्राप्त करने मे समर्थ होता है।

ऐतरेयारण्यक में भी 'ईश्वर' शब्द का प्रयोग इसी तरह हुआ है।

शतपथ ब्राह्मण के चौदहवें काण्ड मे भी, जिस को बृहदारण्यक भी कहते है, 'ईश्वर' शब्द दो बार हम को मिला है; और दोनों जगह टीकाकारों ने उस का अर्थ समर्थ किया है; जैसे—

अश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै (६ । ४ । १४)।

अर्थात् माता पिता (विशेष प्रकार की सन्तान) पैदा करने में समर्थ होते हैं।

ब्राह्मण-ग्रंथो के बाद हमें काल-क्रम से उपनिषदों का विचार करना चाहिए। पर उपनिषदों मे, केवल दस (ईश, केन आदि) को छोड़ कर ज्यादातर ऐसे ही हैं जो बहुत नवीन है। इसलिए समग्र उपनिषदों का विचार हम नीचे ही करेंगे। पहले सूत्र-ग्रंथों का विचार करना उचित प्रतीत होता है।

सूत्र-ग्रंथ

श्रौतसूत्रों में 'ईश्वर' शब्द का प्रयोग बहुत ही कम मिलता है। शांखायनश्रौतसूत्र में केवल एक बार ('अग्निर्वै कामो देवानामीश्वरः'—१६।१०।५) इस का प्रयोग मिलता है, और स्पष्टतया वहाँ 'परमेश्वर' के लिए नहीं है। आपस्तंब-श्रौत-सूत्र में तो यह मिलता ही नहीं।

धर्मसूत्रों के विषय में भी यही बात है। आपस्तंबीय तथा बौधायनीय धर्मसूत्रों में तो यह शब्द आया ही नहीं है। हाँ, गौतम-धर्म-सूत्र में स्नातक के नियमों में केवल एक बार (योगक्षेमार्थमीश्वरमधिगच्छेत, ९। ६३।—अर्थात् योगक्षेम के लिए राजा के पास जावे) 'ईश्वर' शब्द आया है, और वहाँ टीकाकर ने स्पष्टतया राजा का अर्थ किया है। पाणिनि की अष्टाध्यायी का विचार हम नीचे करेंगे।

अर्थशास्त्र

कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र का समय पातंजल महाभाष्य से प्राचीनतर है—ऐसा अनेकानेक विद्वानों का मत है। अनेक प्रमाणों के आधार पर, जिन का यहाँ उल्लेख करना आवश्यक नहीं है, हम भी ऐसा ही समझते हैं। इस ग्रन्थ में 'ईश्वर' शब्द केवल तीन बार आया है, जैसे—

"देशैश्च वंशनामधेयोपचारमीश्वरस्य" (पृ० ७१)।

"देशनामधेयोपचारमनीश्वरस्य" (पृ० ७१)

"यत्रेश्वरांश्चाधिकृतांश्च राजा रक्षोपकारोपयिकार्थमाह" (पृ० ७४)।

इन तीनों जगह स्पष्टतया राजा या राजा के अधिकृत शासकों के अर्थ में 'ईश्वर' शब्द का प्रयोग किया गया है।

पाणिनि की अष्टाध्यायी और पातंजल महाभाष्य

ऊपर हम कह चुके हैं कि इन्हीं दो ग्रंथों में 'ईश्वर' शब्द के प्रयोग को देख कर हम इस अनुसंधान में प्रवृत्त हुए हैं। इस लिए इन दो ग्रन्थों के विषय में विशेष कर विचार करना चाहिए। अष्टाध्यायी में केवल आठ जगहों पर 'ईश्वर' शब्द का प्रयोग आया है। इन में से (१) 'स्थेशभासपिसकसो वरच्'

(३ । २ । १७५) जो 'ईश्वर' शब्द की सिद्धि करता है। (२) 'प्राग्रीश्वरान्निपाताः' (१ । ४ । ५६) केवल अधिकार सूत्र है। (३) 'अधिरीश्वरे' (१ । ४ । ९७) का उदाहरण महाभाष्य में तथा प्राचीन टीकाओं में 'अधि ब्रह्मदत्ते पञ्चालाः, अधि पञ्चालेषु ब्रह्मदत्तः' दिया है। (४) 'यस्मादधिक यस्य चेश्वरवचनं तत्र सप्तमी'(२ । ३ । ९) का भी उदाहरण महाभाष्य आदि प्राचीन टीकाओं में ऊपर वाला ही दिया है। इस सूत्र के महाभाष्य से यह भी स्पष्ट है कि पतञ्जलि 'अधिपति', 'स्वामी' आदि शब्दों को 'ईश्वर' का पर्यायवाची ही समझते हैं। (५) 'स्वामीश्वराधिपति०' (२ । ३ । ३९) का उदाहरण प्राचीन काशिका आदि टीकाओं में 'गवामीश्वरः, गोष्वीश्वरः' दिया है। (६) 'ईश्वरे तोसुन्कसुनौ' (३।४।१३) के उदाहरण 'ईश्वरोऽभिचरितोः' आदि ब्राह्मण-ग्रंथो से लिए गए हैं जिन को हम ऊपर 'ऐतरेयब्राह्मण' के साथ दिखला चुके हैं। (७) 'तस्येश्वरः' (५ । १ । ४२) के उदाहरण 'सर्वभूमेरीश्वरः सार्वभौमः। पृथिव्या ईश्वरः पार्थिवः' दिए गए हैं। (८) 'नञः शुचीश्वर०' (७ । ३ । ३०) के उदाहरण 'आनैश्वर्यम् अनैश्वर्यम्' दिए गए हैं।

पातंजल महाभाष्य में ऊपर दिए हुए अनेक उदाहरणों के साथ साथ दो तीन बार खास स्थलों में 'ईश्वर' शब्द का प्रयोग आया है, जिन से हमारे अनुसंधान पर बड़ा प्रकाश पड़ता है। वे स्थल ये हैं—

(१) नैवेश्वर आज्ञापयति नापि धर्मसूत्रकाराः पठंति—अपवादैरुत्सर्गा बाध्यंताम् इति (१ । १ ४७ और ५ । १ । ११९)।

(२) तद्यथा लोके ईश्वर आज्ञापयति ग्रामाद् ग्रामान्मनुष्या आनीयन्ताम्। प्रागग्रामेभ्यो ब्राह्मणा आनीयंताम् (६ । १ । २)।

अर्थात् जैसे लोक में *राजा* आज्ञा देता है कि ग्राम ग्राम से मनुष्य बुलाने चाहिएँ तथा अंग देश से इधर के ग्रामों से ब्राह्मण बुलाने चाहिएँ।

(३) जित्पर्यायवचनस्यैव राजाद्यर्थम् ।.........सभा राजामनुष्यपूर्वा (२ । ४ । २३)। इनसभम्। ईश्वरसभम्। तस्यैव न भवति। राजसभा। तद्विशेषणानां च न भवति। पुष्यमित्रसभा (१ । १ । ६८)।

इस जगह 'राजा', इन', और 'ईश्वर' शब्दों का पर्यायवाची कहा गया है, और पुष्यमित्र-नामक राजा को भी 'ईश्वर' कहा गया है

अष्टाध्यायी और महाभाष्य के ऊपर के स्थलों से यह निर्विवाद-रूप से स्पष्ट है कि इन दो ग्रंथों मे 'ईश्वर' शब्द केवल राजा या शासक के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है, और उस का परमेश्वर के अर्थ से जरा भी संबंध नहीं है। इस पर भी अष्टाध्यायी के भट्टोजि दीक्षित आदि कई आधुनिक टीकाकारों ने धोखा खाया है और उपर्युक्त स्थलों मे से कई जगह 'अधिभुवि रामः (या हरिः)' जैसे उदाहरण स्वयं बना कर दिए हैं।

'ईश्वर' शब्द के इतिहास के प्रथम युग का अंत

पाणिनि और पतंजलि के उपर्युक्त ग्रंथों मे 'ईश्वर' शब्द का इतनी बार प्रयुक्त होना और एक बार भी परमेश्वर के अर्थ मे प्रयुक्त न होना, हमारी समझ में, एक आकस्मिक बात नही हो सकती। इन ग्रन्थों के समकालीन या निर्विवाद-रूप से इन से प्राचीन ग्रन्थो मे भी, हम ऊपर देख चुके है, यह शब्द परमेश्वर के अर्थ मे प्रयुक्त नहीं किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक ग्रन्थों मे इसका अर्थ सामान्य रूप से समर्थ या स्वामी था, और पीछे से राजा या शासक हो गया। इन दोनों अर्थों के समय को हम 'ईश्वर' शब्द के इतिहास का प्रथम युग कह सकते हैं। पातञ्जल महाभाष्य के समय तक, जो विद्वानों की सम्मति में ईसा से १५० वर्ष पूर्व है, निश्चय-पूर्वक कहा जा सकता है कि 'ईश्वर' शब्द का प्रयोग परमेश्वर के लिए नहीं होता था। इस लिए उक्त प्रथम युग की सीमा हम महाभाष्य तक कह सकते हैं।

'ईश्वर' शब्द के इतिहास का मध्ययुग

महाभाष्य के बाद कुछ ऐसे ग्रंथ हम को मिलते हैं जिन में 'ईश्वर' शब्द के ऊपर के अर्थ के साथ साथ परमेश्वर का अर्थ भी मिलता है। ऐसे ग्रंथों के समय को हम इस शब्द के इतिहास का मध्ययुग कह सकते हैं। एक समय तक निश्चय रूप से इस शब्द का एक अर्थ (राजा या समर्थ) मे प्रयुक्त होना और दूसरे समय में लगभग निश्चय रूप से दूसरे अर्थ (परमेश्वर)

मे प्रयुक्त होना आवश्यक रीति स हमे एक बीच क काल की कल्पना करने को विवश करता है जिस मे इस शब्द के अर्थ का क्रमिक विकास या परिवर्तन दिखलाया जा सके। इस मध्ययुग के साहित्य में हम मुख्य स्थान मनुस्मृति और भगवद्गीता को देते हैं। इन दोनों ग्रन्थों में भी इतना भेद है कि—जहाँ मनुस्मृति में 'ईश्वर' का अर्थ अधिकतर प्राचीन (राजा) है, वहाँ भगवद्गीता में अधिकतर अर्थ नवीन (परमेश्वर) है। प्रथम हम मनुस्मृति को लेते हैं।

मनुस्मृति

मनुस्मृति में अभी तक छः बार हमें 'ईश्वर' शब्द का प्रयोग मिला है। इन में से केवल दो स्थलों में इस का अर्थ परमेश्वर कहा जा सकता है; और शेष सब जगहों पर वही ऊपर का प्राचीन समर्थ या राजा का अर्थ है। जैसे—

(१) तस्यार्थे सर्वभूतानां गोप्तारं धर्ममात्मजम्।
ब्रह्मतेजोमयं दण्डमसृजत्पूर्वमीश्वरः॥ (७ । १४)।

अर्थात्, परमेश्वर (टीका—ब्रह्मा) ने राजा के लिए सृष्टि के आरंभ में दंड को पैदा किया।

(२) प्राणायामैर्दहेद्दोषान्धारणाभिश्च किल्विषम्।
प्रत्याहारेण संसर्गान् ध्यानेनानीश्वरान् गुणान्॥ (६ । ७२)।

अर्थात्, संन्यासी को चाहिए कि ध्यान से अनीश्वर (टीका—"ईश्वरस्य परमात्मनो ये गुणा न भवंति क्रोधलोभमोहादयः) गुणों को दूर करे।

इन दो स्थलों को छोड़ कर और सब जगह वही प्राचीन अर्थ है। जैसे—

(३) मनसश्चाप्यहंकारमभिमन्तारमीश्वरम्। (१ । १४)

अर्थात्, मन से अभिमान करने वाले अपने काम में समर्थ (ईश्वर) अहंकार को पैदा किया।

(४) ब्राह्मणो जायमानो हि पृ

ईश्वरः सर्वभूतानां धर्मकोशस्य गुप्तये ॥ (१ । ९९) ।

अर्थात, ब्राह्मण पैदा होते ही पृथिवी पर सब भूतों का राजा या स्वामी हो जाता है।

(५) दैवतान्यभिगच्छेत्तु धार्मिकांश्च द्विजोत्तमान्।

ईश्वरं चैव रक्षार्थं गुरूनेव च पर्वसु ॥ (४ । १५३)

अर्थात, विद्वान को गृहस्थी की रक्षा के लिए राजा का आश्रय लेना चाहिये। कुल्लूक भट्ट ने भी अपनी टीका में 'रक्षार्थं राजादिकं' ऐसा अर्थ किया है।

(६) हन्याच्चोरमिवेश्वरः (९ । २७८) ।

यहाँ भी टीका में 'ईश्वरः' का अर्थ राजा किया है।

भगवद्गीता

भगवद्गीता में, जैसा ऊपर कहा है, 'ईश्वर' शब्द स्पष्टतया बहुत अधिक परमेश्वर के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। जैसे—

भूतानामीश्वरोऽपि सन्। (४ । ६)

समवस्थितमीश्वरम्। (१३ । २८)

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्। (१३ । २७)

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति (१८ । ६०) इत्यादि।

पर दो तीन जगह इस ग्रंथ में भी प्राचीन अर्थ मिलता है। जैसे—

ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी (१६ । १४)

दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् (१८ । ४३)

इन दोनों स्थलों पर वही प्राचीन समर्थ या शासक का अर्थ है।

'ईश्वर' शब्द के इतिहास का अंतिम युग

ऊपर दिखलाया है कि 'ईश्वर' शब्द के परमेश्वर के अर्थ का प्रारंभ मनुस्मृति और भगवद्गीता में हमें मिलता है। यह प्रवृत्ति बढ़ती ही गई और अंत में 'ईश्वर' शब्द का प्रयोग क़रीब क़रीब केवल परमेश्वर के ही अर्थ में

होने लगा। इसी अवस्था को हम 'ईश्वर' शब्द के इतिहास का अंतिम युग कहते हैं।

इस अंतिम युग के कुछ उदाहरणों के देने से पहले हम यह आवश्यक समझते हैं कि समस्त उपनिषद् साहित्य पर एक दृष्टि डाल लें क्योंकि अभी तक इस का विचार हम ने नहीं किया है।

'उपनिषत्कोश' के देखने से पता लगता है कि ईश्, केन, कठ आदि प्राचीन दस उपनिषदों में 'ईश्वर' शब्द परमेश्वर के अर्थ मे एक बार भी प्रयुक्त हुआ नहीं मिलता। वास्तव में बृहदारण्यक उपनिषद् को छोड़ कर—जिस का उद्धरण हम ऊपर दे चुके हैं—'ईश्वर' शब्द का प्रयोग भी हमे इन उपनिषदों में अभी तक नहीं मिला। बृहदारण्यक में वही प्राचीन 'समर्थ' अर्थ है, यह हम ऊपर दिखला ही चुके हैं। हाँ, यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय (या ईशावास्योपनिषद्) की तरह ही 'ईश्' शब्द मुण्डकोपनिषद् मे (जैसे "यदा पश्यः पश्यते······ईशम्") में भी प्रयुक्त हुआ है। इस के विषय में हमारा वही कथन है जो ऊपर ईशावास्योपनिषद् के उदाहरण के विषय में कह चुके हैं।

श्वेताश्वतर-उपनिषद् उक्त दस उपनिषदों के समान प्राचीन नहीं समझा जाता। इस उपनिषद् में 'ईश्वर' शब्द आया है। जैसे—"तमीश्वराणां परमं महेश्वरम्"। अर्थात् "ईश्वरों (? अर्थात् राजाओं) का भी वह परम महेश्वर है।" इस से भी यही प्रतीत होता है कि यहाँ भी 'ईश्वर' का रूढ़ अर्थ परमेश्वर नहीं है।

इस के बाद के नवीनतर उपनिषदों में 'ईश्वर' शब्द का प्रयोग न केवल बहुत अधिक मिलता है, किंतु बराबर परमेश्वर के अर्थ मे मिलता है। जैसे—

"ईश्वरः परमो देवः" (ब्रह्मविद्योपनिषद् ७)।

"ईश्वरः शिव एव च" (अथर्वशिखोपनिषद् २)।

"ईश्वरः सर्वभूतानाम्" (महानारायणोपनिषद् १७ । ५)

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि यहाँ 'ईश्वर' शब्द केवल परमेश्वर का अर्थ रखता है। इसी से ये उपनिषद् 'ईश्वर' के इतिहास के तृतीय युग से संबंध

रखते हैं उपनिषद्-विषयक उपर्युक्त विचार से ही 'ईश्वर' शब्द के इतिहास के तीनों युगों के उदाहरण मिल जाते हैं।

इस के बाद के साहित्य में ईश्वर और परमेश्वर सामान्य रूप से समानार्थक हो गए हैं। यहाँ तक कि 'परमेश्वर' की अपेक्षा 'ईश्वर' शब्द का ही अधिकतर प्रयोग परमेश्वर के अर्थ में देखा जाता है। कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

सब से पहले हम दर्शन-सूत्रों को लेते हैं। छहों दर्शन-सूत्रों में से केवल तीन (योग, न्याय और सांख्य) सूत्रों में 'ईश्वर' शब्द प्रयुक्त किया गया है और इन सब में उस का अर्थ परमेश्वर है। जैसे—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः (योगसूत्र १ । २४),

ईश्वरप्रणिधानाद्वा (योगसूत्र १ । २३),

ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्यदर्शनात् (न्यायसूत्र ४ । १ । १९),

ईश्वरासिद्धेः (सांख्यसूत्र १ । ९२)।

इसी तरह समस्त दार्शनिक साहित्य में बराबर 'ईश्वर' शब्द परमेश्वर के ही अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। उदयनाचार्य की 'न्यायकुसुमाञ्जलि' तथा गंगेशोपाध्याय की 'ईश्वरानुमानचितामणि'—ये दोनों ग्रंथ ईश्वर (=परमेश्वर) की सिद्धि के लिए ही लिखे गए हैं। इसी तरह स्मृतियों पुराणों आदि में भी 'ईश्वर' शब्द का प्रयोग प्रायः परमेश्वर के ही अर्थ में किया गया है।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि इस सारे लेख का कोई खास महत्त्व भी है या नहीं। इस महत्त्व को हम इस लेख के अन्त में दिखलावेंगे। यहाँ पर यह दिखाना आवश्यक प्रतीत होता है कि 'ईश्वर' शब्द के अर्थ में यह विकास कैसे हुआ।

'ईश्वर' शब्द के अर्थ का विकास कैसे हुआ ?

ऊपर के विचार में प्रधान-रूप से 'ईश्वर' शब्द के ही ऊपर अधिक दृष्टि रक्खी गई है। यहाँ स्वाभाविक जिज्ञासा होती है कि क्या ईश्वर या परमेश्वर की कल्पना के विकास में भी कोई क्रम दिखलाया जा सकता है। यद्यपि इस प्रश्न का उत्तर हम पूरे निश्चय के साथ नहीं दे सकते,

तो भी नीचे दी हुई विचार-प्रणाली से हम उक्त प्रश्न का उत्तर भी 'हाँ' के रूप मे देने को तैयार हैं। इस विचार को प्रारम्भ करने से पहले हमें ईश्वर के आधुनिक अर्थ को निश्चित कर लेना चाहिए। उसी दशा में यह ठीक तरह दिखलाया जा सकता है कि उस अर्थ का विकास कैसे हुआ। 'ईश्वर' शब्द आज कल कोई साम्प्रदायिक शब्द नहीं है। शैव, वैष्णव आदि कोई संप्रदाय-विशेष ही इस का प्रयोग करते हों, ऐसा नहीं है। हिंदू-मात्र इस का प्रयोग जगदुत्पादक, जगन्नियंता, सर्वांतर्यामी, सब का स्वामी और उपास्य तथा देवाधिदेव परमेश्वर के अर्थ में करते है।

इस विचार का धीरे धीरे कैसे विकास हुआ—इस को जानने के लिए हमे वैदिक समय से ही चलना चाहिए। सब से पहले हमे वैदिक (और विशेष कर ऋग्वेद के) देवता-वाद पर विचार करना चाहिए। वैदिक देवताओं में, प्रारम्भ मे, हमें ऐसा कोई देवता नहीं मिलता जिस को हम वास्तव मे आधुनिक परमेश्वर या ईश्वर का स्थानीय कह सकते हों। वैदिक देवता इन्द्र, अग्नि, वरुण, मित्र, पूषा आदि सब कार्मिक देवता हैं। दूसरे शब्दो में वे 'नियतकर्माणः' या 'विभज्य-कर्मकारिणः' अर्थात् अपने अपने नियत कर्मों को करने वाले हैं। इन में से किसी एक को हम वास्तव मे 'देवोंका देव' या 'देवाधिदेव' नहीं कह सकते। यह सत्य है कि भिन्न भिन्न मंत्रों में इन मे से प्रायः प्रत्येक को लगभग देवाधिदेव के रूप में वर्णन किया गया है। पर वह वर्णन वास्तविक नहीं, किंतु भाक्त (या गौण) है। और स्तुतिकर्ता की ही तत्कालीन भक्ति के आवेश का द्योतक है।

हाँ, कुछ ऐसे मंत्र मिलते हैं जिन से यह प्रतीत होता है कि आगे चल कर ऋषियो को इस का अनुभव होने लग गया था कि इन देवताओं के अन्दर भी व्यापक एक महादेवता है। आगे चल कर यही विचार 'ब्रह्म' के रूप में परिवर्तित हो गया। तत्ववेत्ताओं ने देखा कि देवताओं मे ही क्या—सारे विश्व-प्रपंच मे वास्तविक सत् पदार्थ त्रिगुणातीत, अनिर्देश्य अव्यक्त ब्रह्म ही है।

पर इस ब्रह्म के विचार को परमेश्वर के विचार का स्थानीय हम नहीं

कह सकते। प्रथम तो ब्रह्म की सत्ता केवल ज्ञानियों और तत्त्वचिन्तकों की दृष्टि में ही थी। परमेश्वर की तरह यह सर्व-साधारण की दृष्टि में नहीं के ही बराबर था। इस का नपुंसक-लिंग में होना ही बतलाता है कि सर्व-साधारण की उपासना का विषय 'ब्रह्मन्' नहीं हो सकता है। सर्व-साधारण का ईश्वर या उपास्य देव या तो पुंलिंग में या स्त्री-लिंग में ही सोचा जाता है।[1]

ब्रह्म-विषयक हमारी उक्त भावना का सब से बड़ा प्रमाण इस बात में मिलता है कि समस्त वैदिक कर्मकांड में ब्रह्मन् का कहीं भी स्थान नहीं है। तभी तो भगवद्‌गीता में कहा गया है—

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन। (२।४५)

इसी लिये प्रभाकर जैसे मुख्य मीमांसकों का यहाँ तक कहना है कि वेद केवल कर्मकांडात्मक है और ज्ञानकाण्ड का प्रतिपाद्य ब्रह्म उस का विषय ही नहीं है।

यह सत्य है कि वेदों में ही 'प्रजापति' जैसे देवता हैं जो आपातत: बहुत कुछ परमेश्वर के स्थानीय प्रतीत होते हैं। परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। प्रजापति को भी हम देवाधिदेव नहीं कह सकते क्योंकि वह भी अनेक देवताओं में से केवल एक देवता है।

इस लिए यही प्रतीत होता है कि वैदिक समय में, उपनिषदों को यदि शामिल कर लें तो भी, सर्व-साधारण का काम उपर्युक्त कार्मिक या नियत-कर्म देवताओं से ही चल जाता था। उन को किसी देवाधिदेव या परमेश्वर की उपासना की आवश्यकता ही नहीं प्रतीत होती थी। दूसरी ओर, तत्त्वज्ञानियों की तृप्ति केवल उन देवताओं से नहीं हो सकती थी। वे भेद में अभेद और अनेक में ऐक्य देखना चाहते थे। इस लिए उन का काम ब्रह्म से चलता था।

समस्त वैदिक संहिताओं में, ब्रह्म को छोड़ कर, यदि कोई शब्द परमेश्वर का स्थानीय कहा जा सकता है तो वह, हमारी बुद्धि में, पुरुष-सूक्त का 'पुरुष'

---

[1] देखो—देवतिर्यङ्मनुष्यादौ पुंनामा भगवान् हरिः। स्त्रीनाम्नी श्रीश्च विज्ञेया नानयोर्विद्यते परम्॥

या विराट् पुरुष है।[1] यही पुरुष पीछे से भगवद्गीता आदि में पुरुषोत्तम कहा गया है। पर वेदों में ही पचासों बार 'पुरुष' शब्द साधारण मनुष्य आदि के ही अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। पुरुषसूक्त का महत्त्व, हमारी समझ मे, वैदिक साहित्य मे इसी कारण से है कि इस में प्रथम बार एक विराट् पुरुष की कल्पना की गई है। इस कारण हम तो यही समझते हैं कि यह पुरुष-सूक्त का पुरुष भी ब्रह्म की तरह ही केवल तत्त्वज्ञानियों के लिये था। सर्व-साधारण वैदिक-कर्मकांडियों को इस से कोई काम नहीं था। इस का बड़ा प्रबल और अकाट्य प्रमाण यह है कि पूर्व मीमांसा में भी, जो वैदिक कर्मकांड का मुख्य व्यवस्थापक दार्शनिक ग्रन्थ है, ईश्वर या परमेश्वर को कोई स्थान नहीं दिया गया है। इसी लिए आजकल भी पण्डित लोगों का कथन है कि पूर्वमीमांसा मे ईश्वर को नहीं माना गया है। केवल वे लोग इस सिद्धान्त का ऐतिहासिक कारण नही समझते। इसी लिए भगवद्गीता में कहा है—

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ! नान्यदस्तीति वादिनः॥ (२।४२)

इस का अभिप्राय यही है कि वैदिक कर्मकांडी लोग, परमार्थतत्त्व जो परमेश्वर है, उस को नहीं मानते।

ऊपर के लेख से यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक साहित्य मे परमेश्वर के अर्थ मे 'ईश्वर' शब्द क्यों नहीं आया।

बुद्धदेव और ईश्वरवाद

वैदिक साहित्य के विषय में हमारी उक्त धारणा की पुष्टि बड़ी अच्छी तरह भगवान् बुद्धदेव के विचारों से भी होती है। बुद्धदेव के विषय में प्रायः आजकल लोगों की धारणा है कि उन्हों ने ईश्वर का खंडन किया था, और इसी लिए वे नास्तिक थे। पर इस विचार में भारी भूल है। प्रथम तो 'नास्तिक'

---

[1] इस का विचार हम अपने "वैदिक संहिताओं में ईश्वर या पुरुष" शीर्षक लेख में 'कल्याण' के ईश्वरांक में कर चुके हैं।

शब्द के अर्थ को ठीक ठीक समझ लेना चाहिए। 'नास्तिक' का 'जो ईश्वर को न माने' यह अर्थ प्राचीनतर साहित्य में कहीं भी नहीं मिलता। प्रारम्भ में तो 'नास्तिक' का अर्थ केवल इतना था कि 'जो परलोक को न माने।[1]

पीछे से इस का अर्थ वेद-विरोधी या वेद-निन्दक हो गया।[2]

बुद्धदेव के लिए यदि नास्तिक शब्द का प्रयोग प्राचीन ग्रंथों में मिलता भी हो तो वह इसी अर्थ में है। यहाँ ईश्वर को मानने या न मानने से इस का कोई संबंध नहीं है। सांख्यवादी और मीमांसक भी ईश्वर को नहीं मानते, फिर भी वे नास्तिक नहीं कहलाते—इसी लिए कि वे वैदिक रूढ़ियों के विरोधी नहीं समझे जाते हैं।

यही नहीं; जहाँ तक हम कह सकते हैं बुद्धदेव ने कहीं भी ईश्वर या परमेश्वर का खंडन नहीं किया है। इस से हमारा अभिप्राय यह नहीं है कि वे ईश्वर को मानते थे। हमारा अभिप्राय यही है कि उन के समय तक ईश्वर या परमेश्वर के विचार का सर्व-साधारण के लिए प्रारंभ भी नहीं हुआ था। उन के सामने ईश्वर-स्थानीय विचारों में दो तरह के विचार प्रचलित थे—एक तो कार्मिक इंद्रादि देवताओं का और दूसरा निर्गुण ब्रह्म का। उन्हों ने कार्मिक देवताओं का तो ज्यों का त्यों मान लिया। पर ब्रह्म के स्थान में अपने 'धम्म' या धर्म को मान लिया। हमारे विचार में तात्त्विक दृष्टि से ब्रह्म और धर्म में कोई भेद नहीं है। ब्रह्म एक गूढ़ विचार (abstract idea) को द्योतित करता है, और धर्म भी वैसा ही विचार है। सारे जगत् को चलाने वाला होना और प्रत्येक पदार्थ को धारण करने वाला होना दोनों में समान है। विश्व के समस्त नित्य नियमों की समष्टि का ही नाम तो धर्म है। क्या सब काल में स्थिर रहने वाले और सर्वत्र पाए जाने वाले नियमों को हम चैतन्यरूप नहीं कह सकते? फिर उन का समष्टिरूप धर्म तो

---

[1] देखो पाणिनि मुनि की अष्टाध्यायी ४।४।६० (अस्तिनास्ति दिष्टं मतिः)।

[2] देखो मनुस्मृति २। ११। (नास्तिको वेदनिन्दकः) अर्थात्, जो वैदिक रूढ़ियों को न माने वही नास्तिक है।

चैतन्य-रूप ही हुआ। उस हालत में उस में और चैतन्यमय ब्रह्म में क्या अन्तर है। ब्रह्म को कोई चेतन नहीं कहता, किंतु केवल शुद्ध चैतन्य ही कहते हैं इसी तरह हम 'धर्म' को चेतन न कह कर शुद्ध-चैतन्य कह सकते हैं।

इसी लिए ब्रह्म के स्थान में 'धम्म' का प्रतिपादन करने वाले और वैदिक (या प्राचीन परंपरागत) कार्मिक इन्द्रादि देवताओं को स्वीकार कर लेने वाले बुद्धदेव ने ईश्वर का खंडन अपने उपदेशों में नहीं किया। वास्तव में उस समय तक परमेश्वरार्थक ईश्वर के विचार की सृष्टि ही नहीं हुई थी। फिर उस का खंडन ही कैसे किया जाता? इस से भी 'ईश्वर' शब्द के परमेश्वर के अर्थ में बुद्धदेव के समय तक के साहित्य में न पाए जाने का कारण स्पष्ट हो जाता है।

शैवमत और ईश्वर

ऊपर के लेख से यह स्पष्ट है कि परमेश्वरार्थक 'ईश्वर' शब्द की विद्यमानता बुद्धदेव के समय तक सिद्ध नहीं होती। यही नहीं; हम तो ऊपर यह भी दिखला चुके हैं कि ईसा के पूर्व द्वितीय शताब्दी के मध्य भाग (जो कि पातञ्जल महाभाष्य के निर्माण का काल कहा जाता है) तक के साहित्य में 'ईश्वर' शब्द परमेश्वर के अर्थ में कहीं भी नहीं पाया जाता। देखना यह है कि फिर यह शब्द कैसे परमेश्वर के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। नीचे कुछ विचार हम इस के विषय में प्रस्तुत करते हैं।

आज कल का हिंदू-धर्म निगमागम-धर्म का संमिश्रण समझा जाता है। निगम का अर्थ वेद, और आगम का अर्थ तंत्र लिया जाता है। इस लिए दूसरे शब्दों मे हम कह सकते हैं कि आज कल के हिंदू-धर्म का आधार वैदिक और तान्त्रिक धर्मों के संमिश्रण पर है। आधुनिक हिंदू-धर्म में प्रचलित देवताओं और दैनिक तथा विशिष्ट नैमित्तिक कर्मकांड के देखने से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि वह केवल शुद्ध वैदिक धर्म से बहुत भिन्न है। पर इस का अर्थ यह नहीं है कि तांत्रिक धर्म वैदिक धर्म से नवीन है। विद्वानों का ख्याल है कि तांत्रिक धर्म, कम से कम भारतवर्ष में तो, वैदिक धर्म से प्राचीन ही है। यह सत्य है कि हमारे साहित्य में इस के स्वरूप का इतना

प्राचीन वर्णन नहीं मिलता नितन। वैदिक धर्म मा इस का अर्थ यही है कि वैदिक धर्म परंपरा के अनुयायियों में इस का प्रवेश दूर से और शनैः शनैः हुआ। प्रवेश होने पर भी, इस की पूजा-पद्धति आदि को कुछ छिपा कर ही रक्खा जाता था। इस का एक कारण तो यही हो सकता है कि वैदिक कर्मकांड अनेक ऋत्विजों की सहायता से सम्पाद्य होता था और इसी लिए सामूहिक था, परंतु तांत्रिक धर्म वैयक्तिक था। इन्हीं कारणों से वैदिक-परम्परा की रक्षा जैसी अच्छी तरह से होती आई है, उस तरह से तांत्रिक साहित्य की नहीं।

मोहेंजो दाड़ो और हरप्पा की खुदाइयों से भी तांत्रिक सभ्यता की सत्ता अति प्राचीन काल से सिद्ध होती है। तांत्रिक साहित्य में शिव का बड़ा स्थान है। और इन खुदाइयों में शिवलिंगों का बहुतायत से पाया जाना तांत्रिक सभ्यता की तत्कालीन सत्ता को सिद्ध करता है। हमारा तो खयाल है कि भारतवर्ष के प्राग्वैदिक समय में जो सभ्यता थी उस को हम तांत्रिक शब्द से निर्देश कर सकते हैं। कोई कोई इस सभ्यता को 'असुर-सभ्यता' भी कहते हैं। वैदिक साहित्य में असुरों को देवों से प्राचीन या बड़ा कहा गया है। इस से भी तांत्रिक सभ्यता की, कम से कम भारतवर्ष में, वैदिक सभ्यता से अधिक प्राचीनता सिद्ध होती है।

इस तांत्रिक (या आसुर सभ्यता) के साथ प्रारंभ से ही 'शिव' का बड़ा घनिष्ट संबंध था, यह हम ऊपर दिखला चुके हैं। इस की पुष्टि में एक यह भी प्रमाण है कि पुराणों आदि में बाणासुर, रावण आदि असुर या दैत्य लगभग सब के सब शिव के ही उपासक कहे गए हैं। यहाँ तक कि बाणासुर के ही नाम पर एक विशेष प्रकार के शिवलिंग को बाणलिंग भी कहा जाता है। ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि कदाचित् बाणासुर ने ही उन छोटे छोटे विशेष प्रकार के पाषाणों की पूजा शिव-लिंग की तरह चलाई हो, और उस से पूर्व शिव-लिंग के लिए बड़े पाषाण ही काम में लाए जाते हों।

तांत्रिक सभ्यता के साथ 'शिव' का घनिष्ट संबंध कहने से हमारा अभिप्राय यह नहीं है कि उस के मुख्य उपास्य देव का प्रारम्भ से ही शिव

नाम था। यह निश्चय-पूर्वक नहीं कहा जा सकता। ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक-कालीन आर्यों ने इस देश में आने पर शैव या तांत्रिक सभ्यता को भारत में सब से अधिक फैला हुआ पाया। प्रारम्भ मे तो वे इस के शत्रु ही रहे। तभी तो दस्युओं के लिए घृणा के साथ ऋग्वेद मे 'शिश्नदेवाः' कहा है। पर शनैः शनैः वे स्वयं, उस के अधिक विस्तार के कारण, उस से प्रभावित होने लगे। इसी कारण धीरे धीरे शुद्ध वैदिक देवता रुद्र का और तांत्रिक 'शिव' का एकीभाव हो गया। इसी कारण हम समझते हैं, ऋग्वेद में जो रुद्र का वर्णन है उस से यजुर्वेद-संहिता के रुद्र का वर्णन कहीं अधिक बर्द्धित है। शायद इस का कारण उपर्युक्त एकीभाव ही था।

ऊपर के लेख से यह स्पष्ट है कि वैदिक धर्म पर धीरे धीरे तांत्रिक मत का प्रभाव पड़ने लगा, यहाँ तक कि प्राचीन काल में ही शैवमत वैदिक विद्वानों मे एक व्यापक धर्म बन गया। ऐसे ही कारणों से वैष्णवमत, यद्यपि उस का आधार शुद्ध वैदिक देवता विष्णु पर है तो भी, शैवमत से नवीन प्रतीत होता है। संस्कृत साहित्य मे शैवमत जितना व्यापक है, वैष्णवधर्म उतना नहीं; जहाँ शैवधर्म एक व्यापक धर्म प्रतीत होता है वहाँ वैष्णव धर्म एक नवीन संप्रदाय-विशेष ही मालूम पड़ता है।

शैवधर्म के द्वारा 'ईश्वर' शब्द का प्रचार

ऊपर शैवधर्म की हिन्दू धर्म मे व्यापकता और प्राचीनता हम दिखला चुके हैं। वास्तव मे इसी धर्म के द्वारा परमेश्वरार्थक 'ईश्वर' शब्द धीरे धीरे हिन्दुओं में प्रचलित हुआ। लेख के प्रारम्भ मे हम 'ईशान' शब्द का उल्लेख कर चुके है। ऋग्वेद मे यह एक सामान्य विशेषण है। पर यजुर्वेद के समय से इस का प्रयोग रुद्र या शिव के लिए होने लगा, और धीरे धीरे 'ईशान' शब्द शिव के अर्थ मे रूढ़ हो गया। 'ईशान' और 'ईश्वर' दोनों शब्द एक ही धातु से बने हैं। तो भी 'ईश्वर' शब्द का प्रयोग इसी प्रकार शिव के लिये साक्षात् क्रम से नहीं हुआ। श्वेताश्वतर आदि प्राचीन शैव उपनिषदों मे भी प्रारम्भ मे 'महेश्वर' शब्द ही शिव के लिए प्रयुक्त होता था। कालिदास का

हरिर्यथैकः पुरुषोत्तमः स्मृतो महेश्वरस्त्र्यम्बक एव नापरः ॥

(रघुवंश ३ । ४९)

अर्थात् "जैसे पुरुषोत्तम केवल विष्णु को और महेश्वर केवल शिव को ही कहा जाता है" इत्यादि कथन इसी बात की पुष्टि करता है।

पर धीरे धीरे शैवमत के साहित्य में ही 'महेश्वर' के स्थान में 'ईश्वर' शब्द ही शिव के लिये प्रयुक्त किया जाने लगा। ऊपर हम उदाहरणों के द्वारा दिखला चुके हैं कि पिछले शैव उपनिषदों में 'ईश्वर' शब्द अत्यधिक प्रयुक्त हुआ है। तंत्र ग्रंथों में भी 'ईश्वर' शब्द का प्रयोग शिव के लिए अत्यत पाया जाता है। अनेक तंत्रों का प्रारम्भ 'पार्वती उवाच' के साथ साथ 'ईश्वर उवाच' इन शब्दों से ही होता है। शैव दर्शनों में भी 'ईश्वर' शब्द का प्रयोग अत्यधिक ही नहीं, किन्तु पारिभाषिक रूप में भी, शिव के लिए पाया जाता है। 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञासूत्र', तथा 'सर्वदर्शनसंग्रह' आदि के देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि शैव दर्शनों में 'ईश्वर' शब्द पारिभाषिक रूप से शिव को द्योतित करता है। तभी तो कालिदास ने कहा है—

यस्मिन्नीश्वर इत्यनन्यविषयः शब्दो यथार्थाक्षरः (विक्रमोर्वशी)।

अर्थात् 'ईश्वर' केवल शिव के लिए ही प्रयुक्त हो सकता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 'ईश्वर' शब्द शैवधर्म द्वारा हिन्दू धर्म में प्रविष्ट हुआ; और धीरे धीरे परमेश्वर के लिए सब से अधिक प्रचलित मुख्य शब्द बन गया।

ईश्वर और दर्शन

शैवधर्म के शिव के अर्थ में रूढ़ 'ईश्वर' शब्द का परमेश्वर के अर्थ में प्रयोग तब तक नहीं हुआ होगा जब तक कि वह सांप्रदायिक जगत् को छोड़ कर स्वतंत्र दार्शनिक विचार का विषय नहीं बना होगा। जब तक ईश्वर या महेश्वर एक शुद्ध सांप्रदायिक देव था तब तक उस का विचार स्वतंत्र दर्शनों में आना अस्वाभाविक ही था। इसी लिए दार्शनिक विचार का विषय 'ईश्वर' धीरे धीरे ही हुआ। यही कारण है कि अधिकतर दर्शनों के मूल सूत्रों में ईश्वर का विचार इतना थोड़ा है कि वह न होने के बराबर है। केवल योगसूत्र में

ईश्वर का प्रतिपादन खास तौर पर किया गया है न्यायसूत्र और सांख्यसूत्र मे केवल नाममात्र का विचार है मूल दर्शनो मे ईश्वर जैसे महत्त्व के विषय का इतना थोड़ा विचार इस का प्रमाण है कि ईश्वर के दार्शनिक विचार का उस समय प्रारंभ ही प्रारम्भ था। और इसी लिए उस पर उतना अधिक जोर नहीं था। पर यह प्रवृत्ति बढ़ती ही गई और स्वाभाविक तौर पर हम पिछले दार्शनिक ग्रन्थों मे ईश्वर-सिद्धि को सब से अधिक प्रधानता दी गई पाते है। यहाँ तक कि एक वह समय आया जब कि 'न्यायकुसुमाञ्जलि' और 'ईश्वरानुमानचिन्तामणि' जैसे महत्त्व के स्वतन्त्र दार्शनिक ग्रन्थ ईश्वर-सिद्धि के लिए लिखे जाने लगे।

इस प्रकार 'ईश्वर' शब्द के साथ साथ ईश्वर के अर्थ के भी इतिहास का अनुसंधान किया जा सकता है।

इस विचार का महत्त्व

यह स्पष्ट है कि भारतीय दार्शनिक तथा धार्मिक इतिहास को समझने के लिए उपर्युक्त विचार का बड़ा महत्त्व है। अनेक संदेहों का निर्णय इस विचारधारा से हो जाता है। शाब्दिक दृष्टि से भी यह विचार मनोरंजन से खाली नहीं है। यही नही, 'ईश्वर' शब्द के विषय मे जिन परिणामों पर हम पहुँचे हैं यदि वे ठीक हैं तब तो सामान्य-रूप से संस्कृत साहित्य के और विशेष रूप से अनेक संस्कृत ग्रंथों के क्रमिक इतिहास के लिए काफी सामग्री हम को मिल जाती है। उदाहरणार्थ—

यह एक प्रश्न है कि पातञ्जल महाभाष्य के तथा पातञ्जल योग-सूत्रों के बनाने वाले पतञ्जलि एक ही हैं या भिन्न भिन्न ? यदि हमारा परिणाम ठीक है तो हम निश्चय-पूर्वक कह सकते हैं कि महाभाष्य के कर्ता पतञ्जलि जो बराबर राजा के अर्थ में 'ईश्वर' शब्द का प्रयोग करते है, योगसूत्रकार से, जो 'ईश्वर' शब्द को केवल परमेश्वरार्थ मे ही प्रयोग करते हैं, भिन्न हैं।

इसी महाभाष्य के साक्ष्य पर हम कह सकते हैं कि भगवद्गीता और वर्तमान मनुस्मृति निर्विवाद-रूप से महाभाष्य के बाद के ग्रंथ हैं।

उपसंहार

इस अनुसंधान को अभी हम यहीं समाप्त करते हैं। इसी के संबंध में कुछ और बातों का विचार फिर कभी करेंगे। उदाहरणार्थ यह एक विचारणीय विषय है कि योग का मूलाधार तांत्रिक है या वैदिक; तथा क्या 'ईश्वर' शब्द का मूल संबंध किसी विदेशी भाषा में भी हो सकता है कि नहीं। रामायण और महाभारत के साक्ष्य पर भी विचार पुनः किया जायगा।

आगरे का वायु-परीक्षणालय[1]

[लेखक—श्रीयुत कृष्णचंद्र, एम्० एस्-सी०]

हमारे प्रांत के अनेक निवासी अभी इस बात से अपरिचित होंगे कि आगरे में ताजमहल आदि ऐतिहासिक इमारतों के अतिरिक्त एक ऐसी देखने योग्य वस्तु भी है जो संसार भर की अपनी श्रेणी की वस्तुओं में द्वितीय है। यदि वे ग्वालियर रोड पर होते हुए आगरे से धौलपुर के लिए प्रस्थान करें तो शहर से लगभग तीन मील की दूरी पर कुछ इमारतें मिलेंगी जो आस पास के गाँवों में हवाघर के नाम से प्रसिद्ध हैं। यही आगरे का वायु-परीक्षणालय है।

यह संसार के सभ्य देशों में अपने संगठन तथा ऋतु-संबंधी वैज्ञानिक खोजों के लिए प्रसिद्ध है। परीक्षणालय का मुख्य कार्य ऊपरी वायु के संबंध में भिन्न भिन्न प्रकार की खोज करना है। इस के अध्यक्ष श्रीयुत गौरीपति चैटर्जी हैं जो बड़े सज्जन पुरुष हैं और जो भी महाशय परीक्षणालय देखना चाहते हैं उन को बड़ी सुगमता से आज्ञा प्रदान कर देते हैं। यही नहीं वरन् साथ साथ वहीं के एक कर्मचारी को प्रत्येक वस्तु तथा यंत्र दिखाने और समझाने के लिए नियुक्त कर देते हैं।

इन सब यंत्रों को देख कर और ऊपरी वायु की कुछ कहानी सुन कर सचमुच बड़ा आश्चर्य होता है। जब कभी आप आँख उठा कर आकाश की ओर देखते हैं तो क्या देख पाते हैं? 'असीम अनंत और शून्य आकाश'।

---

[1] Upper Air Observatory, Agra.

परन्तु यदि आपने एक बार भी इस परीक्षणालय के यंत्रों को देखा है और वायु की कुछ कथा सुनी है तो इसी शून्य आकाश की ओर दृष्टिपात करने ही आप के हृदय में अनेक भाव जाग्रत हो जायँगे। देखने में कैसा शांत और गंभीर है परन्तु समय समय पर प्रचंड रूप धारण कर लेता है, अनेक उत्पातों का केंद्र बन जाता है। देखने में सरल है परंतु वास्तव में रहस्यपूर्ण है। इस के गुप्त रहस्यों का पता लगाने में बहुत से वैज्ञानिकों ने अपना जीवन समाप्त कर दिया परंतु इस के संपूर्ण रहस्य प्रकाश में न आ सके। जितना इस के गुणों का पता लगता है उतना ही और आश्चर्य बढ़ता है। मई की झुलसती हुई लू के दिनों में आप के ठीक ऊपर इतनी ठंडक है जितनी उत्तरी ध्रुव में भी नहीं।

वायु-परीक्षणालय का वर्णन करने के पहिले मुझे यह उचित जान पड़ता है कि मैं पाठकों का अंतरिक्ष विद्या[१] से थोड़ा सा परिचय करा दूँ क्योंकि ऊपरी हवा की खोज अंतरिक्ष विद्या का एक प्रधान अंग है।

अंतरिक्ष विद्या व्यवहारिक भौतिक विज्ञान[२] है। पृथ्वी की ऋतु तथा वायुमंडल संबंधी प्राकृतिक नियमों का ढूँढ़ निकालना इस विज्ञान का मुख्य ध्येय है।

ऋतुओं का हमारे नित्य प्रति के कार्य-क्रम और खेती बारी पर जो प्रभाव पड़ता है वह सब को विदित है। दैनिक ऋतु[३] अस्थिर है—कोई निश्चय-पूर्वक नहीं कह सकता कि किस समय कैसा मौसम रहेगा। परतु प्रकृति के प्रत्येक कार्य नियमपूर्वक होते हैं। वैज्ञानिकों की साधना प्रकृति के छिपे नियमों को ढूँढ निकालना है। जब तक प्रकृति के गूढ़ नियमों का पता नहीं लगता तब तक भिन्न भिन्न प्रकार की घटनाओं को देख कर बुद्धि विस्मित होती है-परंतु नियमों का पता लगते ही सब विस्मय दूर हो जाता है और सारी बाते स्वयं ही समझ में आ जाती हैं। साथ ही साथ संसार के रचने वाले के चमत्कार का थोड़ा

---

१ Meteorology

२ Applied Physics.

३ Daily Weather.

सा अनुभव हो जाता है अंतरिक्ष विद्या के विद्वानों ने बहुत से छिपे नियम ढूँढ निकाले हैं जिन की सहायता से चौबीस घंटे आगे की ऋतु मालूम हो जाती है। प्रत्येक सभ्य देश में अंतरिक्ष विद्या विभाग[1] है जो अपने देश की चौबीस घंटे आगे की ऋतु-संबंधी भविष्यवाणी[2] करते हैं। भारतवर्ष में भी इस प्रकार की ऋतु-संबंधी भविष्यवाणी पूना, कलकत्ता और करांची से प्रकाशित होती है। समस्त भारतवर्ष में अंतरिक्ष-विद्या-संबंधी लगभग ३५० छोटे छोटे परीक्षणालय हैं जिन में एक या दो और कहीं कहीं तीन परीक्षक[3] रहते हैं। इन में लगभग ३५ वायु परीक्षणालय हैं जो बर्मा से ले कर अरब तक फैले हुए हैं। इन स्थानों से तापक्रम[4] तथा वायुदाब[5] संबंधी समाचार पूना, करांची और कलकत्ता तार द्वारा प्रातः ८ बजे तक पहुँच जाते हैं। यहाँ पहुँचते ही यह सब बातें नक़शे पर उतार ली जाती हैं और इन नकशों की सहायता से भविष्यवाणी की जाती है। बारह रुपया मासिक चंदा देने से यह भविष्यवाणी नित्य तार द्वारा भारत के किसी स्थान में पहुँच सकती है। इन्हीं भविष्यवाणियों द्वारा सामुद्रिक तथा वायुयान-जीवन पहिले की अपेक्षा बहुत सुरक्षित हो गया है। बेतार के तार[6] द्वारा यह भविष्यवाणी तमाम जहाजों पर पहुँचा दी जाती है जिस से वे आने वाले तूफानों से अपनी रक्षा कर सकें और जिन अक्षांश तथा देशांतरों में तूफान अथवा प्रचण्ड वायु की संभावना हो उधर न जायँ। ऊपरी वायु के समुचित ज्ञान बिना वायुयान द्वारा यात्रा करना तो अपने जीवन को संकट में डालना है। हवा के भँवर पानी के भँवर से भी अधिक भयंकर होते हैं और यही कारण है कि वायुयान बिना ऋतु भविष्यवाणी पाए यात्रा नहीं करते। नित्यप्रति अंतरिक्ष विद्या का मूल्य बढ़ता जा रहा है और यदि अंतरिक्ष-विद्या-वेत्ताओं का यही उत्साह बना रहा तो आशा की जाती है कि ऋतुओं पर मनुष्य का बहुत कुछ अधिकार हो जायगा।

लगभग २५ वर्ष पूर्व ऋतु-संबंधी भविष्यवाणी केवल पृथ्वी की सतह

---

[1] Meteorological Department [2] Weather forecasting

[3] Observers [4] Temperature [5] Pressure [6] Wireless.

के तापक्रम और वायु-दाब के ज्ञान द्वारा ही की जाती थी और इसी कारण अधिकांश झूठी निकल जाती थी परंतु जब लोगों का ध्यान ऊपरी हवा की ओर आकर्षित हुआ और इस में खोज बीन की गई तो पता लगा कि ऋतुओं का ऊपरी हवा के तापक्रम आदि से घनिष्ठ संबंध है। बस वैज्ञानिकों ने इन २५ वर्षों में ही ऊपरी हवा में बहुत सी आश्चर्यजनक बातें खोज निकालीं और अब भविष्यवाणी के लिए ऊपरी हवा का ज्ञान एक आवश्यक बात हो गई। सभी देशों में ऊपरी-वायु अनुवीक्षणालय खुले और भारतवर्ष में भी जे० एच० फील्ड महोदय के उद्योग से इंडिया मिटिआरोलोजिकल विभाग[1] के अधीन आगरे में एक भारी वायु-परीक्षणालय खोला गया। इस के अधीन और छोटे छोटे अनुवीक्षणालय खोले गए जो समस्त भारतवर्ष, बर्मा, फारस की खाड़ी और अरब तक फैले हुए हैं। इन अनुवीक्षणालयों से नित्य प्रति हाइड्रोजन[2] गैस से भरे गुब्बारे छोड़े जाते हैं और उन के द्वारा प्राप्त किए हुए ऊपरी वायु-संबंधी समाचार तार द्वारा प्रातः आठ बजे तक पूना, कलकत्ता और कराँची भेज दिए जाते हैं जहाँ से ऋतु-संबंधी भविष्यवाणी निकलती है।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है दैनिक ऋतु और वायु में घनिष्ठ संबंध है और वायु सीमा-बद्ध नहीं वरन समस्त पृथ्वी पर स्वतन्त्रता-पूर्वक बहता है। अतः दैनिक ऋतु के ज्ञान के लिए यह आवश्यक है कि समस्त पृथ्वी की ऊपरी हवा की जाँच की जाय और यही कारण है कि इस विज्ञान की खोज के लिए अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की आवश्यकता है। हर्ष की बात है कि संसार के सभी राष्ट्र इस विद्या की खोज में सहायता दे रहे हैं और अन्तर्राष्ट्रीय अंतरिक्ष-विद्या-संघ[3] बड़ी सफलता-पूर्वक कार्य कर रहा है। भारतवर्ष भी इस संघ का सदस्य है।

भारतवर्ष में आगरा ऐसा स्थान है जहाँ साल भर में लगभग ९०° फ़०

---

[1] India Meteorological Department

[2] Hydrogen.

[3] International Meteorological Committee.

चित्र १—परीक्षणालय का मुख्य भवन

चित्र ३

चित्र ४

चित्र ५

चित्र ६

चित्र ८

चित्र १८

क
ख
$त_1$
$त_2$

चित्र १६

चित्र १८

चित्र १७

चित्र २०

चित्र २१

चित्र २२

चित्र २३

चित्र २४

चित्र २५
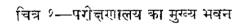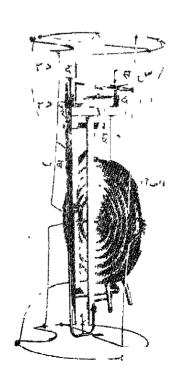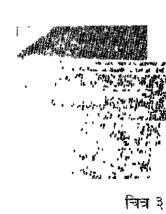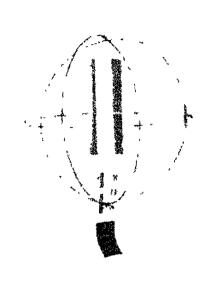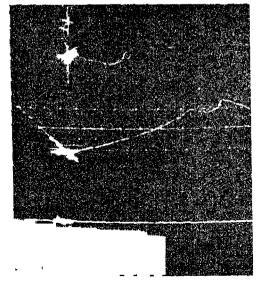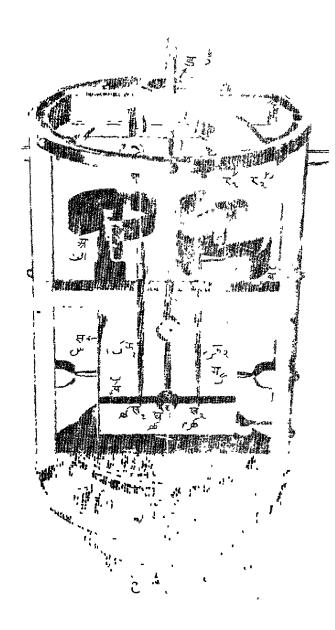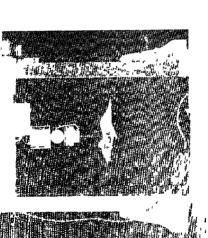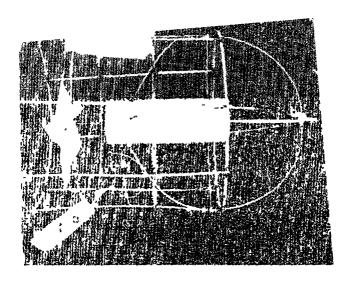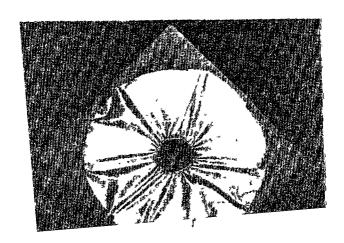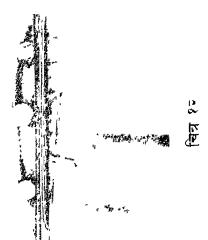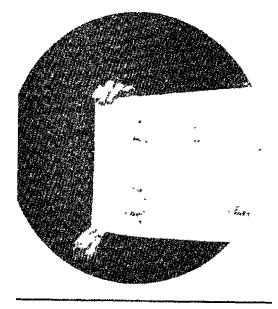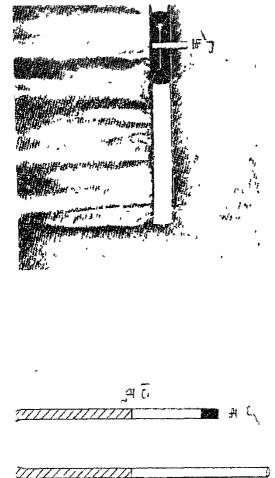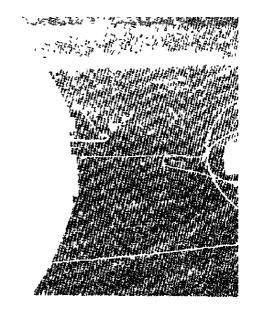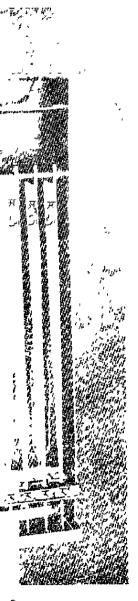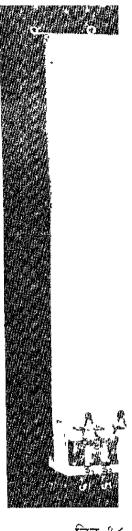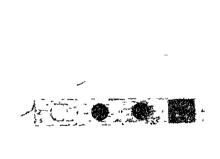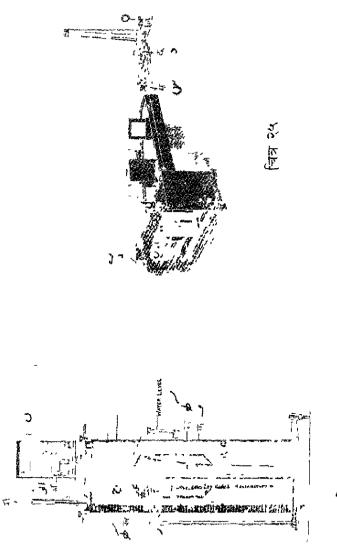
चित्र २६

मिल्नी शा भूचाल-लेखक यंत्र द्वारा प्राप्त तारीख ७ मार्च १९३२ के एक निर्बल भूचाल का लेख। भूचाल 'अ' में प्रारंभ हुआ और 'ब' पर समाप्त हुआ है।

चित्र २७

में लगे हुए एक दूसरे प्रकार के (ओमरी डीवर) भूचाल लेखक यन्त्र का लेख । यह भूचाल तारीख ३ फरवरी १९३१ को न्यूज

तापक्रम घटता बढता है जाड मे इतनी ठड पडती है कि तापक्रम ३०° फ० तक पहुँच जाता है और गर्मी मे १२०° फ० तक फलस्वरूप दैनिक ऋतुओं में शीघ्र शीघ्र ही परिवर्तन होता रहता है। हर प्रकार के बादल भी यहाँ पाए जाते हैं—इन्हीं कारणों से ऊपरी वायु-संबंधी खोज के लिए आगरा उचित स्थान समझा गया है। यह मैं ऊपर बतला चुका हूँ कि प्रत्येक अनुवीक्षणालय का मुख्य कार्य दैनिक ऋतु की भविष्यवाणी के लिए अपने स्थान की ऋतु का हाल तार द्वारा भविष्यवाणी-प्रकाशक केंद्रों[1] को भेजना है, जिन में निम्न लिखित बातें भेजी जाती हैं—

(१) हवा का तापक्रम।

(२) हवा का दबाव।

(३) हवा की आर्द्रता[2]।

(४) पृथ्वी की सतह से ले कर ६ किलोमीटर (१.६ किलोमीटर=१ मील) ऊपर तक हवा का वेग तथा उस के आगमन की दिशा।[3]

इन चार बातों को छोड़ कर बादल और वर्षा संबंधी कुछ और भी थोड़े समाचार भेजे जाते हैं। पहली तीन बातों से पाठक भली भाँति परिचित होंगे। चौथा समाचार प्राप्त करने के लिए हाइड्रोजन से भरे हुए रबर के गुब्बारे जिन का फूलने पर १०० से ले कर १२० इंच तक घेरा हो जाता है, छोड़े जाते हैं। इन गुब्बारों को एक प्रकार की दूरबीन से जिसे थियोडोलाइट[4] कहते है देखा जाता है। थियोडोलाइट की सहायता से गणित के सिद्धांतानुसार प्रति मिनट गुब्बारे की ऊँचाई और क्षैतिज दूरी[5] मालूम होती जाती है। गुब्बारा उधर ही जायगा जिधर वायु बहती है और थियोडोलाइट के क्षैतिज कोण[6] मिनट मिनट पर पढ़ने से हवा के बहने की दिशा मालूम होती जाती है और अंत मे क्षैतिज दूरी और समय से वायु का वेग भिन्न भिन्न ऊँचाइयों पर मालूम

---

१ Forecasting Centres

२ Humidity

३ Wind direction and velocity upto 6 kms

४ Theodolite.

५ Horizontal displacement.

६ Horizontal angle.

होता जाता है जब आकाश स्वच्छ होता है तो यह गुब्बारे आठ या नौ मील ऊपर तक बराबर दिखाई पड़ते हैं।

आगरे का अनुवीक्षणालय बड़ा है और यहाँ अनेक प्रकार की सुविधाएं हैं अतः यहाँ साधारण ग़ुब्बारों के अतिरिक्त विशेष प्रकार के ग़ुब्बारों के साथ यंत्र भी बाँध कर उड़ाए जाते हैं जिन में से कुछ का संक्षिप्त वर्णन निम्न-लिखित पंक्तियों में किया जाता है।

भारी यंत्रों को ऊपर भेजने में अधिक धन व्यय होता है यानी केवल एक छटाँक भारी यंत्र को ऊपर ले जाने के लिए ग़ुब्बारे और हाइड्रो-जन में ही २५) व्यय हो जाते हैं, अतः इस कार्य में हल्के से हल्के यंत्र की आवश्यकता है। ताप-मापक का कार्य द्विधातु[1] से लिया जाता है। यदि इनवार[2] की पत्ती पीतल की पत्ती के साथ झाल दी जाए तो इस द्विधातु का यह गुण हो जाता है कि गर्म होने से यह पत्ती इनवार की ओर मुड़ती है और ठंड पाने से पीतल की ओर। सुग्राहकता इस में इतनी होती है कि एक डिगरी फ़ैरनहाइट तापक्रम के घटने बढ़ने से यह मुड़ने लग जाती है। इस मुड़ने की तुलना पारद तापमापक[3] से कर ली जाती है। इस प्रकार के भिन्न भिन्न रूप के द्विधातु तापमापक[4] ऊपरी वायु का तापक्रम जानने के लिए व्यवहार में लाए जाते हैं। और दबाव जानने के लिए पारद बैरोमीटर[5] के स्थान में निर्द्रव बैरोमीटर[6] से कार्य लिया जाता है। जर्मन सिल्वर के दो गोल ढाई इंच व्यास के टुकड़ों में गोलाई पर पाँच या छ सिकुड़ने डाल कर दोनों को आमने सामने रख कर किनारों पर झाल दिया जाता है जिस में दोनों टुकड़ों के बीच की हवा न निकले। अब बाहर की हवा का दबाव कम होने से अंदर की हवा फैलेगी और गोल डिबिया फूल जायगी या दबाव बढ़ने से पिचक जायगी। इस घटने बढ़ने की माप पारद बैरोमीटर से कर ली जाती है। हवा की आर्द्रता मापने के हेतु स्त्रियों के बालों का उपयोग होता है। बाल

---

[1] Bimetal

[2] Invar, लोहे और निकिल का मिश्र धातु।

[3] Mercury thermometer.

[4] Bimetal thermometer

[5] Mercury barometer.

[6] Aneroid barometer

आर्द्रशोषक[1] होते हैं। नमी पा कर बढ़ जाते हैं और नमी कम होने पर सिकुड़ जाते हैं। इस घटने और बढ़ने से आर्द्रता मापी जाती है।

डाइन्स मिटिओरोग्राफ[2] (चित्र २)—इस स्वयं-लेखक[3] यंत्र से हवा का तापक्रम, दबाव और आर्द्रता मापी जाती है। इसके आविष्कारक इंगलैंड के प्रसिद्ध अंतरिक्ष-वैज्ञानिक स्वर्गीय मि० डाइन्स हैं। इस यंत्र के द्वारा लगभग २० मील ऊपर तक की हवा के विषय में जानकारी प्राप्त हो चुकी है और बहुत से प्राकृतिक नियम प्रकाश में आ चुके हैं। इस यंत्र में वायु का दबाव नापने के लिए निर्द्रव बैरोमीटर 'अ' रहता है और तापक्रम नापने के लिए द्विधातु की पत्ती 'ब'। साँचे की दो पत्तियाँ निर्द्रव बैरोमीटर के दोनों ओर झुकी हुई हैं। एक पत्ती के ऊपर एक चौखटा 'स' लगा हुआ है जिस में काला किया हुआ कांच का टुकड़ा फँसा दिया जाता है। द्विधातु का संबंध एक सुई 'द$_1$' से है जो काँच के टुकड़े पर चलती है। इस सुई के अतिरिक्त दो और सुइयाँ हैं। एक सुई 'द$_2$' का संबंध बाल 'ह' से और तीसरी सुई 'द$_3$' वैसे ही साँचे मे लगी हुई है। इस 'द$_3$' का कार्य कुछ आगे चल कर समझाया जायगा। जिस समय हवा का दबाव कम होने लगता है, बैरोमीटर 'अ' फूलता है 'द$_1$' सुई एक ओर को सरकती है। और यही 'द$_1$' जिस का संबंध द्विधातु से है तापक्रम घटने से सीधे ऊपर को और बढ़ने से सीधे नीचे को चलती है। सुई से काले काँच पर चिन्ह बन जाता है। दबाव के घटने बढ़ने से सुई दाएँ बाएँ चलती है और तापक्रम के घटने बढ़ने से ऊपर नीचे। इस प्रकार दबाव और तापक्रम से प्रभावित होकर काँच पर एक वक्ररेखा बन जाती है। इसी प्रकार आर्द्रता के घटने बढ़ने से 'द$_2$' सुई ऊपर नीचे चलती है और काँच पर लेख बनाती है। इस प्रकार के एक लेख का फोटो चित्र ५ है। परीक्षणालय में यंत्र उड़ाने से पहिले भिन्न भिन्न तापक्रम, दबाव और आर्द्रता के अनुसार काँच के टुकड़े

---

[1] Hygroscopic [2] Dines Meteorograph. [3] Self-registering

पर पैमाना सा बना लिया जाता है जैसा चित्र ३ मे दिखाया गया है काँच के टुकड की लम्बाई एक इच और चौडाई ¾ इच होती है चित्र पाच गुना बड़ा है।

यंत्र छोड़ने से पहिले इसे एक एलमोनियम के हलके ढकने में बंद कर देते हैं, जिस का मुँह ऊपर नीचे खुला रहता है। तत्पश्चात् यंत्र को बाँस के एक गोल पिजड़े के मध्य में बाँध देते हैं (चित्र ४)। पिजड़े में चारों ओर कुछ चमकती हुई पन्नियाँ और छपा हुआ विज्ञापन बाँध दिया जाता है। विज्ञापन में यंत्र आगरे लाने वाले को इनाम तथा मार्गव्यय देने की सूचना होती है। इस यंत्र को एक विशेष प्रकार के वल्टेक्स[1] रबर के गुब्बारे में बाँध कर उड़ा देते हैं। पूरे यंत्र का बोझ दो छटाँक से कम होता है परंतु गुब्बारे मे इतनी गैस भरी जाती है कि एक सेर बोझ भी इस के साथ बाँध देने पर ऊपर को उड़ सके। इतनी गैस भरने से यह बड़ी शीघ्रता से ऊपर को उड़ता है। यह गुब्बारा जितना ऊपर को चढ़ता जाता है उतना ही वहाँ की हवा का दबाव कम होने के कारण फूलता जाता है और अंत में लगभग १८ या २० मील ऊपर जाने के पश्चात् फट जाता है और यंत्र पृथ्वी पर गिर पड़ता है। जब गुब्बारा ऊपर चढ़ता है तो हवा यंत्र के ढकने में हो कर ऊपर से नीचे निकलती है। इसी कारण यह यंत्र हवा के तापक्रम आदि को ठीक ठीक सूचित करने में सफल होता है। सूर्य की किरणों का इस के ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता क्योंकि इस का चमकता हुआ ढकना किरणों का प्रभाव यंत्र तक नहीं पहुँचने देता। गुब्बारा हवा के साथ बहुत दूर तक चला जाता है और अधिकतर इस प्रकार के यंत्र आगरे से १०० मील से लेकर ४०० मील की दूरी पर गिरते हैं। बँधी हुई पन्नियों को चमकते हुए देख कर पथिक इस की ओर आकर्षित होते हैं और इनाम पाने के लोभ से अपने जिले के कलक्टर के पास, जहाँ से कि उन्हें इनाम और मार्गव्यय मिल जाता है ले जाते हैं। कलक्टर इस यंत्र को आगरा भेज देता है।

---

[1] Vultex

जिस समय यह यन्त्र वापस आ जाता है उस समय उसी पर बने हुए पैमाने की सहायता से तापक्रम तथा दबाव आदि भिन्न भिन्न उँचाइयों पर निकाल लिए जाते हैं। चित्र ५ में पड़ी हुई रेखाएं तापक्रम की और विंदु दबाव के हैं। एक पूरी रेखा से एक ही ताप सूचित होता है। सब से नीची रेखा पृथ्वी पर का ताप सूचित करती है और ऊपरी रेखाएं घटते हुए तापक्रम की हैं। पृथ्वी पर का दबाव किसी रेखा के बाएं ओर के विंदु से सूचित होता है और दाहिनी ओर बढ़ने के साथ साथ दबाव कम होता जाता है। इसी प्रकार सब से ऊपर की ओर आर्द्रता का पैमाना भी बना होता है। प्राप्त हुए एक स्वयं-लेख का चित्र भी यहाँ दिया जाता है (चित्र ५)। सब से ऊपर आर्द्रता का लेख है और सब से नीचे केवल एक रेखा है। 'द$_२$' सुई जिस का वर्णन ऊपर छोड़ दिया गया था इस रेखा को खींचती है। इस रेखा का अभिप्राय यह है कि यंत्र की तुलना के पश्चात् यदि किसी प्रकार भी काँच का टुकड़ा अपनी जगह से किंचित् मात्र भी हट जाय तो यह सुई भी अपनी जगह से हट जायगी और यंत्र के लौटने पर दो रेखाएं खिंची मिलेंगी। यदि दो रेखाएं होंगी तो उस यंत्र का लेख सच्चा नहीं माना जायगा। हवा के दबाव का उँचाई से संबंध है और इसी संबंध से यह पता लग जाता है कि अमुक उँचाई पर क्या तापक्रम है।

चित्र ५ इस प्रकार के एक यंत्र का लेख है जो आगरा से १५ फरवरी सन् १९३१ को उड़ाया गया था और जो तापक्रम, दबाव, तथा आर्द्रता संबंधी समाचार प्राप्त हुए उन का विवरण नीचे दिया जाता है—

उँचाई किलो मिटर	दबाव इंच	तापक्रम ° से०	आर्द्रता %
१	२६·५	१३·२	७५
२	२३·४	८·४	९६
४	१८·२	−४·३	६४
८	१०·५	−३३·५	१८

ऊँचाई किलो मीटर	दबाव इंच	तापक्रम ° से०	आर्द्रता %
१२	५·७	–५०·०	१५
१६	३·०	–६८·५	१५
२०	१५	–६१·८	×
२४	०·८	–४८·९	×
२६	०·६	–४२·७	×

ऊपरी वायु का ताप-लेखक[1]—यह यंत्र ऊपरी वायु का ड्राई बल्ब[2] और वेट बल्ब[3] तापक्रम सूचित करता है और केवल डेढ़ या दो मील ऊँचाई तक काम में लाया जा सकता है। चित्र ६ में पूरा यंत्र दिखाया गया है। इस यंत्र से द्विधातु का आकार गोल है। 'अ' से ड्राई बल्ब ताप और 'ब' से वेट बल्ब ताप विदित होता है। इन दोनों द्विधातुओं का संबंध दो पतली पत्तियों $क_1$, $क_2$ से है जिन का सिरा $ख_1$, $ख_2$ की ओर सुई की तरह नुकीला और बेलन 'ग' की ओर मुड़ा होता है, परंतु बेलन को छूता नहीं। इन पत्तियों द्वारा द्विधातु का मुड़ना और भी विस्तारित हो जाता है। दोनों नुकीले सिरों के मध्य में एक और सुई 'घ' होती है। यह तीनों सुइयाँ एक लंबी कम चौड़ी पत्ती 'प' द्वारा बेलन पर दबाई जा सकती हैं। बेलन एक घड़ी द्वारा घूमता है जो डिबिया 'न' के भीतर है। घड़ी द्वारा प्रथम एक रबर चढ़ा मंडल[4] 'म' घूमता है। बेलन के दाँत 'स' इसी रबर से सटे रहते हैं। इस प्रकार मंडल के घूमने से बेलन भी घूमता है। एक द्विधातु के ऊपर पतली मलमल बाँध दी जाती है और दो धागे की बत्तियाँ $र_1$, $र_2$ इस धागे को भीगा रखती हैं। यह दोनों बत्तियाँ एक पानी की डिबिया 'ड' के अंदर डूबी रहती हैं। बेलन पर एक पतली सेलुलाइड[5] की फ़िल्म लपेट दी

---

[1] Upper Air Thermograph
[2] Dry bulb.
[3] Wet bulb
[4] Disc
[5] Celluloid

जाती है। "प" पत्ती के मध्य का भाग गोलाकार है जिस से एक 'ह' पेंच सटा हुआ है और इस का संबंध एक लीवर 'ज' से है। ज का संबंध एक दाँतदार पहिये से है जो एक छोटे से पंखे 'फ' (चित्र ७) के घूमने से घूमता है। इस पंखे के घूमने से 'ह' पेंच 'प' पत्ती को बार बार दबाता और छोड़ देता है। इस दबाने से पत्ती के नुकीले सिरे फ़िल्म पर निशान करते जाते हैं। मध्य की सुई 'घ' एक सीधी रेखा खींचती जाती है और दोनों नुकीले सिरे तापक्रम के अनुसार बिंदु अंकित करते जाते है। यंत्र से कार्य लेने से प्रथम यह निश्चय कर लिया जाता है कि प्रति अंश[१] सुइयाँ कितनी हटती हैं। चित्र ८ में इस प्रकार प्राप्त लेख दिखाया गया है। मध्य की सीधी रेखा से दोनों ओर की दूरी नाप लेने से दोनों प्रकार के तापक्रमों का पता लग जाता है।

इस यंत्र को एक ऊपर नीचे खुले ढकने में बंद कर, और एक बाँस के पिंजड़े के मध्य में बाँध कर क्लाउन बैलून[२] नामी एक विशेष प्रकार के गुब्बारे के साथ उड़ाया जाता है। इस गुब्बारे में यह विशेषता है कि यह किसी इच्छित उँचाई पर से गिराया जा सकता है। इसका पूरा वर्णन आगे किया गया है। गुब्बारे के ऊपर चढ़ने से यंत्र का पंखा घूमने लगता है और घूमते हुए बेलन पर सुइयाँ निशान करती जाती हैं। इस गुब्बारे को थियोडोलाइट से देखा जाता है जिस से प्रति मिनट गुब्बारे की उँचाई मालूम होती रहती है। जिस समय गुब्बारा गिरने लगता है वह समय जान कर वायु मे यंत्र के रहने का समय मालूम हो जाता है। यंत्र के गिरने के समय पखे का घूमना बंद करने के लिए काग़ज़ से मढे हुए चौखटे से लगे हुए काँटे 'ट' का उपयोग किया जाता है (चित्र ९)। यह काँटा यंत्र के गिरते समय 'ब' के उठ जाने से नीचे हो कर पंखे में फँस कर उसे घूमने से रोक लेता है। अनुमान किया कि एक यंत्र दस मिनट हवा में रहा। मध्य की सीधी रेखा (चित्र ८) घड़ी के दस मिनट चलने से खिचेगी। इस रेखा का दस बराबर

---

[१] Degree.

[२] Clown balloon.

भागों मे बाँटने से प्रति भाग एक मिनट के बराबर हुआ टेढी रेखाओं के किसी बिंदु से मध्य रेखा पर एक लंब डाल कर उस की लंबाई नाप लो यह पहिले ही मालूम रहता है कि प्रति अंश हमारी द्विधातु कितना मुड़ती है। इस प्रकार तापक्रम का पता लग जाता है क्योंकि यंत्र को छोड़ने से पहिले पृथ्वी पर की वायु का तापक्रम ले लिया जाता है और टेढ़ी रेखा का पहिला बिंदु यही तापक्रम सूचित करता है। थियोडोलाइट द्वारा गुब्बारे की, प्रति मिनट, उँचाई मालूम हो ही जाती है तब इस प्रकार हमें यह पता लग जाता है कि अमुक उँचाई पर अमुक वेट बल्ब और ड्राई बल्ब तापक्रम है। इन दोनो बातों से भिन्न भिन्न उँचाई पर आर्द्रता का भी पता लग जाता है।

यह गुब्बारा परीक्षणालय से थोड़ी ही दूर पर गिरता है इस कारण तुरंत ही मिल जाता है परंतु फल निकालने में समय लगता है। इस के आविष्कारक श्रीयुत गौरीपति चैटर्जी हैं।

क्राउन बैलून—जिन यंत्रों को किसी निश्चित उँचाई से गिराना होता है उन को ऊपर उड़ा ले जाने के लिए एक विशेष प्रकार के गुब्बारे का प्रयोग होता है जो क्राउन बैलून कहलाते हैं। यह बहुत पतले बलम्रो रबर के बनते हैं और बहुत फूल सकते है। इस में गैस भरने के लिए एक छोटा सा मुँह रहता है जिस के पास एक दूसरा ६ इंच व्यास का मुँह होता है। इस बड़े छेद के किनारे लपेट कर मज़बूत कर दिए जाते हैं (चित्र १०)। गैस भरने के पहिले बड़े छेद के दोनों सिरों को खींच कर (चित्र ११) दो लकड़ी के चपटे टुकड़ों के बीच में फ़ीते से बाँध कर और चार कार्क फँसा कर फीते को तंग कर दिया जाता है (चित्र १२)। फीते के दो सिरों के बीच में दो त्रिभुजाकार छल्लों द्वारा एक पुटास[1] में भिगो कर सुखाया हुआ धागा बँधा रहता है (चित्र १३) और तागे के बीच कागज की पतली एक इंच नली 'क' (चित्र १४) पिरो दी जाती है। इस कागज़ की नली में एक U नुमा काँच की नली 'ख' (चित्र १५

---

[1] Potassium chlorate.

या १६) फँसा दी जाती है। इस काँच की नली में थोड़ा गंधक का तेजाब भर कर एक सिरा मोम और रबर की नली से बंद कर दिया जाता है और दूसरा सिरा कागज की नली में इतना भीतर कर दिया जाता है कि पुटास के धागे को छू ले। U नली के लगाने का निम्न लिखित आशय है। चित्र १४ एक U नलिका का है जिस में 'त$_1$' से 'त$_2$' तक तेजाब भरा है। शेष नली में हवा है—'क' सिरा मोम और रबर से बंद है और खुला हुआ 'ख' सिरा पुटास के धागे को छूता रहता है। इस प्रकार 'क' और 'त$_1$' के बीच की वायु रुँधी हुई है। उँचाई बढ़ने पर वायुदाब कम होता जाता है फलस्वरूप ऊपर जाने पर 'क' और 'त$_1$' के बीच की हवा का आयतन बढ़ कर तेजाब को 'ख' की ओर ढकेलता है। यहाँ तक कि तेजाब 'ख' पर पहुँच कर धागे को जला देता है। धागा खुलते ही लकड़ियाँ अलग हो जाती हैं और बड़ा मुँह खुलने से गैस निकल जाती है और गुब्बारा पृथ्वी पर गिर पड़ता है।

बहुत से यंत्रों के ऊपर भेजने से भिन्न भिन्न उँचाई पर के दबाव का ज्ञान प्राप्त हो चुका है। इसी के अनुसार और गैस समीकरण[१] के सिद्धांत से नली के दोनों सिरे इस प्रकार काट दिए जाते हैं कि केवल निश्चित ही उँचाई पर तेजाब 'ख' सिरे तक पहुँचता है।

मल्टीपुल टेमप्रेचर इंडीकेटर[२]:—यह यंत्र तुरंत ही संकेत द्वारा ऊपरी वायु के चार या अधिक तापक्रम सूचित करता है और इस कारण ऋतु भविष्यवाणी के लिए बड़ा लाभदायक है। ऐसे चार तापक्रम सूचित करने वाले यंत्र का वर्णन नीचे किया जाता है।

चित्र १७ मे अ$_1$, अ$_2$, अ$_3$, अ$_4$ द्विधातु की चार सीधी पत्तियाँ हैं जो ऊपर से नीचे की ओर पतली होती चली गई हैं। इन के बाहरी ओर इनवार तथा भीतरी ओर पीतल है जिस से तापक्रम घटने पर यह पत्तियाँ भीतर की ओर मुड़ती हैं। यह चारों पत्तियाँ एलुमोनियम के एक हल्के ढाँचे में बराबर दूरी पर एक लकड़ी में इस प्रकार जड़ दी जाती हैं कि एक दूसरे को

---

[१] Gas equation.

[२] Multiple Temperature Indicator.

छुए नहीं पत्तियो के नुकीले सिरे स थोडा ऊपर सरकने वाली चार सलाइयाँ (र१, र२, र३, र४) होती है जिन का सिरा लम्बा रहता है सलाइयों का सिरा सलाइयों के सरकने से पत्तियों को छू सकता है। द्विधातु की चारों पत्तियों का विद्युत् संबंध ताँबे के ढके तार द्वारा ढाँचे के पीछे की ओर धातु की पतली नलियों इ१, इ२, इ३, इ४ (चित्र १८) से कर दिया जाता है। सरकने वाली सुइयाँ एलुमोनियम के ढाँचे में जड़ी रहती हैं इस लिए विद्युत् मंडल[१] का दूसरा सिरा एलुमोनियम का ढाँचा हो जाता है। यंत्र के ऊपर एलुमोनियम ही का एक हलका ढकना चढ़ा दिया जाता है जिस में तीन छोटी बिजली की सेलों[२] को उन के ढकने सहित फँसाने की जगह बनी रहती है (चित्र १९) विद्युत् की बैटरी के एक सिरे का संबंध इस प्रकार एलुमोनियम के ढाँचे से हो जाता है और दूसरा सिरा तार द्वारा अलग लटकता रहता है। यह हुआ यंत्र का तापमापक भाग—अब संकेत करने वाले भाग का वर्णन किया जायगा।

चित्र २० में एक लकड़ी की चपटी पत्ती मे चार छेद दिखाए गए हैं। इन चार छेदों में ताँबे के दो तारों के मध्य युरेका[३] का बहुत महीन तार लगा हुआ है जो विद्युत् प्रवाह से गर्म हो कर लाल हो जाता है। छेदों के दोनों सिरों से दो विद्युत् संबंध तार द्वारा लगे रहते हैं। इस प्रकार पट्टी के प्रत्येक कोने पर चार तार होने चाहियें। जैसा कि चित्र मे दिखाया गया है एक ओर तो चार तार हैं परन्तु दूसरी ओर के चारों तार झाल कर एक कर दिए गए हैं। चारों छेदों के एक ओर पतला काग़ज़ चिपका कर लाल मसाला, जो थोड़ी सी ही गर्मी पा कर आँच पकड़ लेता है, भर दिया जाता है और दूसरी ओर भी पतला काग़ज़ चिपका कर छेद बंद कर दिए जाते हैं जिस से मसाला न गिरे। यह पट्टी पीतल के दो ढकनों के अंदर बंद कर दी जाती है (चित्र २१)। प्रत्येक ढकने मे लकड़ी के छेद के सामने छेद कटे रहते है। एक ढकने में, एक छेद को छोड़ कर, दो पीतल की गोल डिबिया फँसा दी

---

[१] Electrical circuit. [२] Cells. [३] Eureka.

जाती है जिनमें धुआँ करने को सफ़ेद बारूद भरा रहता है। (चित्र २२) पास की दो डिबियों का मुँह एक ओर नहीं रहता इस लिए आँच लगते समय लपट दूसरी डिबिया के मुँह पर नहीं जा सकती तार के चारों कोनों (१, २, ३, ४) को $इ_1, इ_2, इ_3, इ_4$ नली में खोंस दिया जाता है और पाँचवें तार का कोना बैटरी के लटकते हुए संबंध में खोंस दिया जाता है (चित्र १९)। तत्पश्चात् पूरे यंत्र को बांस के एक घेरे में बाँध दिया जाता है।

यंत्र को हवा मे उड़ाने के पूर्व उस का अंश माप[1] कर लेते हैं। जैसे कि हमें मालूम करना है कि किस उँचाई पर २०°, १५°, १०°, और ५°, ताप विद्यमान हैं तो पानी का ताप बर्फ़ मिला कर ५° कर लिया और उस में यंत्र के तापमापक भाग को उल्टा कर इस प्रकार डुबो दिया कि सलाइयाँ पानी से बाहर रहें। अब पहली सलाई $र_1$ को सरका $अ_1$ द्विधातु की पत्ती से छुआ दिया। इस प्रकार जल का ताप क्रम १०°, १५°, और २०°, कर के क्रमश: शेष तीनों सलाइयों ($र_2, र_3, र_4$) को द्विधातु की पत्तियों $अ_2$, $अ_3$, $अ_4$ से छुआ दिया और यंत्र को जल से बाहर निकाल लिया जहाँ तापक्रम बढ़ जाने के कारण पत्तियाँ सलाइयों से दूर हो जायँगी। इस प्रकार एक पत्ती एक ही निश्चित तापक्रम पर सलाई को स्पर्श करेगी।

यंत्र को ग़ुब्बारे के साथ बाँध कर हवा में उड़ा देते हैं। जिस समय ग़ुब्बारा निश्चित तापक्रम की सतह पर पहुँचता है उस समय पत्ती सलाई को स्पर्श करती है और विद्युत् मंडल के पूरे होने से लाल मसाले में आग लग कर धुएं के मसाले में भी आग लग जाती है और बहुत सा धुआँ पैदा हो जाता है। थियोडोलाइट में यह धुआँ दृष्टिगोचर होता है और इस प्रकार उस तापक्रम की सतह की उँचाई तुरंत विदित हो जाती है। आग लगने से युरेका का महीन तार जल जाता है और विद्युत् मंडल टूट जाता है और

---

[1] Calibration.

टरी खराब नहीं होने पाती इसी प्रकार अन्य पत्तियाँ भी अपने अपने तापक्रम पर सलाइयों का स्पर्श करती हैं और धुआँ पैदा होता है इस प्रकार उच्छिन्त तापक्रमों की सतहों की उँचाइयाँ विदित हो जाती हैं।

अब उन स्वलेखक यंत्रों का वर्णन किया जायगा जो पृथ्वी की सतह पर अंतरिक्ष तत्त्वों[1] के नापने के हेतु परीक्षणालय में व्यवहार में लाए जाते हैं।

चित्र २३ बेट्स पोल हट[2] का है। यह छोटा सा घर परीक्षणालय की मुख्य इमारत से लगभग २०० फ़ीट की दूरी पर है। इस मे वायु की दिशा तथा गति मापने का स्वलेखक यंत्र लगा है। वायु के बहने से जो किसी वस्तु पर विशेष दबाव पड़ता है उसी के सिद्धांत पर यह यंत्र काम करता है।

चित्र '२३' में पृथ्वी से ६० फ़ीट की उँचाई पर एक वायु-पंख 'क' लगा हुआ है जिस का दूसरा सिरा अण्डाकार और खोखला है। वायु-पंख के वायु के साथ घूमने के कारण यह अंडाकार सिरा सदा वायु की ओर रहता है। इस कारण वायु के प्रत्येक झोंके के साथ इस में हवा भर जाती है और उस में हो कर एक लंबी नली 'ख' में चली जाती है जिस का एक सिरा खोखले अंडाकार वस्तु से और दूसरा मुख्य यंत्र से मिला है। वायु के अंदर जाने से नली के अंदर की हवा का दबाव बढ़ जाता है और इस प्रकार जितनी अधिक वायु की गति होगी उतना नली के भीतर दबाव अधिक होगा। वायु-पंख के थोड़े नीचे से एक और लंबी नली 'ग' आरंभ हुई है जिस के ऊपरी सिरे में आर पार छोटे छोटे छेद हैं। इस नली में हो कर वायु के बहने से नली के अंदर की हवा का दबाव कम हो जाता है। इस नली का संबंध भी मुख्य यंत्र से है।

चित्र २४ मुख्य यंत्र के भीतरी भाग का है जो छोटे से घर (चित्र २३) के अंदर लगा हुआ है। 'ह' गोल खोखले बर्तन का भीतरी भाग है जिस मे 'र' रेखा तक जल भरा है—जल में एक खोखला बर्तन 'फ' उल्टे मुँह तैरता

---

[1] Meteorological elements. [2] Bates Pole Hut.

है लंबी नली 'ख' (चित्र २३) इस तैरते हुए बर्तन के भीतर तक चली आई है 'फ' का संबंध एक वायु रोधक[1] छेद द्वारा एक लेखनी 'अ' से है। एक बेलन[2] 'न' पर, जो घड़ी द्वारा २४ घंटे में एक पूरा चक्कर लगाता है एक लेखाचित्र[3] या चार्ट लपेट दिया जाता है। चार्ट पर समय के चिह्न, वायु की गति और दिशा का पैमाना छपा रहता है। लेखनी 'अ' इसी चार्ट पर लिखती जाती है। क्योंकि बेलन घूमता है इसलिए उस से सटा हुआ चार्ट भी घूमेगा और 'फ' से लगी हुई अपने स्थान पर स्थिर लेखनी 'अ' वायु के वेग के अनुसार ऊपर नीचे चल कर लिखती जाती है।

दूसरी नली 'ग' (चित्र २३) का संबंध 'ह' के ऊपरी भाग 'ज' से है (चित्र २४)। हवा के बहने से 'ख' नली द्वारा 'फ' बर्तन के भीतर की हवा का दबाव बढ़ा और साथ ही साथ 'ग' नली द्वारा 'ह' के अंदर का दबाव कम हो गया। फलस्वरूप 'फ' ऊपर को सुगमता से उठ सकता है। जितनी वायु की गति अधिक होगी उतना ही अधिक 'फ' ऊपर को उठेगा और साथ में लगी हुई लेखनी भी ऊपर को उठेगी। इसी कारण चार्ट पर वायु की गति का पैमाना नीचे से ऊपर की ओर रहता है। वायु पंख का संबंध एक पतली छड़ द्वारा एक दूसरी लेखनी से कर दिया जाता है जो वायु की गति अंकित करती जाती है।

बेट्स पोल हाउस के निकट ही लगभग २० फीट नीचे एक तहखाने में दो भूचाल-लेखक यंत्र लगे हैं जो निम्नलिखित सिद्धांत पर बनाए गए हैं।

पृथ्वी के गर्भ में बड़ी बड़ी चट्टानों के टूटने अथवा बहुत सी मिट्टी के एक साथ खिसकने के कारण भूचाल आते हैं। मुख्यतः भयंकर भूचाल ज्वालामुखी पर्वतों के फटने के कारण आते हैं। भूचाल के केंद्र से चारों ओर उसी प्रकार पृथ्वी में लहरें दौड़ती हैं जिस प्रकार शांतिजल में पत्थर फेंकने से लहरें उत्पन्न हो कर चारों ओर फैलती हैं। अब यदि कोई वस्तु

---

[1] Air-tight. [2] Drum [3] Chart.

पृथ्वी में खूब गहरी गड़ी हो तो पृथ्वी के हिलने से वह वस्तु भी हिलेगी। इसी सिद्धांतानुसार यह भूचाल-लेखक यंत्र कार्य करते हैं। लगभग ४० फीट पृथ्वी के भीतर से लेकर आठ फीट ऊपर तक एक ईंट और चूने का खंभा बना हुआ है। पृथ्वी के हिलने से यह खंभा भी हिलेगा और इस के ऊपर लगा हुआ (चित्र २९) पड़ा दोलक[१] 'द' भी हिलेगा। इस दोलक की सहायता से अत्यंत निर्बल भूचाल भी २०० गुणा अभिवर्द्धित[२] हो जाते हैं। इसी दोलक में यंत्र का लेखक भाग[३] लगा दिया जाता है जिस के द्वारा भूचाल लेख अंकित होते हैं। लेखों की सहायता द्वारा यंत्र से भूचाल के केंद्र की दूरी तुरंत निकल आती है। चित्र २६ मिल्नीशा भूचाल लेखक यंत्र का है। इस यंत्र में लेख फोटो द्वारा प्राप्त होते हैं। दोलक 'द' के आगे एक छोटा सा शीशा 'स' लगा है। 'ब' से बिजली की ज्योति शीशे पर गिरती है और परिवर्तित[४] होकर 'त' लेन्स[५] में होती हुई, बेलन 'न' पर एक बिंदु के रूप में पड़ती है। बेलन पर फोटो द्वारा तस्वीर छापने का ब्रोमाइड कागज़[६] लिपटा रहता है जिसे डेवलप[७] करने से लेख प्राप्त होता है (चित्र २६)। इस प्रकार के यंत्र अत्यंत सुग्राहक[८] होते हैं। भूचाल महीने में कई बार आया करते हैं परंतु इतने निर्बल होते है कि हमें बिना यंत्र की सहायता से मालूम नहीं पड़ते।

इन यंत्रों के अतिरिक्त और भी नाना प्रकार के ताप, दबाव, आर्द्रता तथा सूर्य प्रकाश अंकित करने वाले स्वलेखक यंत्र हैं। जिन का वर्णन इस छोटे से लेख में नहीं हो सकता क्योंकि यदि यंत्रों ही के विषय में लिखा जाय तो एक बड़ा अद्भुत ग्रंथ तैयार हो सकता है। और इन यंत्रों द्वारा ज्ञात प्रकृति के नियमों का वर्णन तो बड़ा विषद आश्चर्यजनक तथा मनोरंजक होगा।

---

[१] Horizontal pendulum [२] Magnified [३] Recording part.
[४] Reflect. [५] Lens. [६] Bromide paper.
[७] Develop [८] Sensitive

अंतरिक्ष विद्या नित्य प्रति उन्नति करती जा रही है और इस विज्ञान के एक एक विषय पर पृथ्वी के सभी सभ्य देशों मे सैकड़ों वैज्ञानिक खोज कर रहे हैं। इन्हीं खोजों में सहायता देने के हेतु इन यंत्रों का आविष्कार हुआ है और नए नए प्रकार के यंत्रों का आविष्कार होता जाता है। यद्यपि अभी तक प्रकृति के बहुत से गूढ़ नियमों का पता नहीं लग सका है फिर भी अनेक अटल नियम प्रकाश मे आ चुके हैं और उन्हीं के द्वारा ऋतु भविष्यवाणी संभव हुई है। कुछ भी सही, जिस समय वैज्ञानिकों को इस विज्ञान का पूर्ण रहस्य प्रकट हो जायगा उस समय मनुष्य का साम्राज्य अंतरिक्ष पर भी कई गुणा बढ़ जायगा।

महाराष्ट्र नौ-सेना का इतिहास

[लेखक—श्रीयुत ब्रजरत्नदास, बी० ए०, एल्-एल्० बी०]

१—छत्रपति-काल

(सन् १६४८—१७०० ई०)

दक्षिणापथ का पश्चिमी किनारा मलाबार तट के नाम से सुप्रसिद्ध है। पश्चिमी घाट की पार्वत्य-माला समुद्री किनारे से कुछ पूर्व को हटती हुई खंभात की खाड़ी से रासकुमारी तक चली गई है। समुद्र तथा पहाड़ के बीच की यह जमीन कहीं कहीं एकाध ही मील और कहीं पचास साठ मील तक चौड़ी है। इसी पतली लंबी भूमि का उत्तरी अंश कोंकण कहलाता है, जो बंबई से दक्षिण गोआ तक चला गया है। इस का किनारा बहुत कटा हुआ है और कुंडलिका, सावित्री, मुछकुंडी आदि छोटी छोटी नदियाँ पहाड़ से निकल कर यहाँ समुद्र मे मिली हैं, जिन से भी इस कार्य मे सहायता मिली है। छोटे छोटे टापू भी ऐसे मुहानों पर इस प्रकार स्थित है, जिन से समुद्री पोतों की वायु और जलवेग से बहुत रक्षा होती है। इन छोटे छोटे अगणित खड्डों में जल-डाँकुओं ने प्राचीन समय से अड्डे जमा रक्खे थे और यहीं से निकल कर लूट मार करते रहते थे। ये मलाबार-जलडाँकुओं के नाम से प्रसिद्ध हो रहे थे और योरोपीय आगंतुकों को इन से बराबर कष्ट पहुँचता था। इन सब अड्डों में प्रमुख अड्डा जंजीरा के हबशियों का था, जो अफ्रिका के हब्श देश से आकर यहाँ जम गए थे। यह नाम 'जजीरा' (टापू) का भ्रष्ट रूप है। यह पहाड़ी टापू बंबई से बीस बाइस कोस दक्षिण हट कर

डंडा-राजपुरी मुहाने पर है, जिसे दृढ़ कर वे उसी में बस गए थे। इस टापू से आध मील भीतर हट कर राजपुरी तथा दो मील भीतर डंडा बस्तियाँ थी पर टापू ही एक प्रकार इन काले डाँकुओं की राजधानी थी। ये हबशी कब यहाँ आ कर बस गए इस का ठीक पता नहीं है, पर यहाँ इन की अच्छी खासी बस्ती हो गई। यद्यपि सत्रहवीं शताब्दी में इन सब ने अहमदनगर की अधीनता स्वीकार कर ली थी पर वास्तव में वे स्वतंत्र ही थे। बीजापुर के अधीनस्थ होने पर भी वे उसी प्रकार स्वतंत्र बने रहे। मुसल्मानों में ये हबशी सर्वोत्तम नाविक सिपाही थे और उन में से योग्यतम ही इन का मुखिया होता था। इन का बेड़ा बहुत ही सुसंगठित, सुदृढ़ तथा सुसज्जित था और इन का सर्दार कुछ दिन तक बीजापुर का बेड़ाध्यक्ष तथा बाद को मुगल बादशाहों का बेड़ाध्यक्ष कहलाया।

जब शिवाजी अपना राज्य-विस्तार करते हुए कोंकण में पहुँचे तब इन प्रभावशाली जलडाँकुओं से उस का सामना हुआ। अब दो ही उपाय थे जिन से वे शांत रह सकते थे। अर्थात् वे उन्हें मित्र बना कर या दमन कर शांत रख सकते थे। पहिला एक प्रकार से संभव नहीं था, इस लिए शिवाजी को दूसरे का प्रबंध करना पड़ा। ऐसा न करने से तटस्थ बस्तियाँ, बंदरगाह, व्यापारी पोत आदि कुछ भी सुरक्षित नहीं रह सकते थे। अस्तु, शिवाजी ने इन हबशियों पर, जो सीदी के नाम से विशेष विख्यात थे, चढ़ाई कर दी।

सन् १६४८ ई० में शिवाजी ने ताल, गोस्साला और रायगढ़ पर अधिकार कर लिया। ये तीनों स्थान सीदियों के अधिकार में थे। उस समय सीदियों का मुखिया यूसुफ़ खाँ था, जो सन् १६४२ से १६५५ ई० तक इस पद पर रहा। उस ने मराठों का सामना करने में विशेष तत्परता या योग्यता नहीं दिखलाई पर उस के उत्तराधिकारी फ़तह खाँ ने सन् १६५९ ई० मे, जब अफ़ज़ल खाँ शिवाजी को पकड़ने जा रहा था, ताल को घेर लिया पर उसे ले न सका। अफ़ज़ल खाँ के मारे जाने पर घेरा उठा कर वह लौट गया। दूसरे वर्ष जब बीजापुर की सेना ने शिवाजी पर चढ़ाई की और उन्हें पन्हाला में घेर लिया, तब सीदियों ने भी लड़ाई छेड़ दी और बीजापुर के जागीरदार बाड़ी

के सावंत की सहायता से कोकण विजय की तैयारी की युद्ध मे शिवाजी का सेनापति बाजीराव पसालकर सावंत को मार कर स्वयं मारा गया और मराठा सेना युद्धस्थल से लौट गई। शिवाजी ने इस हार पर रघुनाथ बल्लाल आत्रे के अधीन छ सात हज़ार सेना सीदी पर भेजी, जिस ने हबशियों को परास्त कर डंडा-राजपुरी विजय कर लिया। इस के अनंतर इन लोगों ने जंजीरा पर भी तोपें लगाईं, पर उस टापू पर इस का कुछ असर नहीं पड़ा। अंत में सीदियों ने संधि कर ली।

शिवाजी ने कोंकण का यह विजित प्रांत व्यंकोजी दत्तो के अधीन कर छ सात सहस्त्र सेना वहाँ सदा रहने के लिए नियुक्त कर दिया। इस योग्य सेनापति ने सीदियों को एक युद्ध में पूर्णतया परास्त किया, जिन्हों ने फिर युद्ध आरंभ कर लूट मार मचाना शुरू कर दिया था। इस के अनंतर डंडा-राजपुरी दुर्गों के आस पास के अन्य स्थानों पर दुर्ग बना कर उन्हें दृढ़ किया, जिस से उस प्रांत में सीदियों की लूट मार बंद हो गई। इस पर सीदियों ने, जिन के पास केवल जंजीरा का पहाड़ी टापू बच गया था, पेट पालने के लिए इस प्रांत के दक्षिण रत्नागिरि प्रांत में, जहाँ शिवाजी का अधिकार हो चुका था, लूट मार शुरू कर दिया। इस पर शिवाजी ने जहाज़ी बेड़ा तैयार करना निश्चय किया।

इस प्रकार बेड़ा सुसज्जित करने का निश्चय हो जाने पर शिवाजी ने विजय दुर्ग, सिंधु दुर्ग, कोलाबा, अंजान-वेला आदि कई स्थानों पर जहाज़ बनाने के डॉक बनवाए, जहाँ गुराब, शिबार, मछुआ आदि बहुत सी नावें बनीं और शीघ्र ही नावों का एक बेड़ा तैयार हो गया। तटस्थ बसने वाली कोली, शंगार, बघार आदि जातियाँ समुद्री कार्य में बड़ी पटु थीं और कुछ लूट-पाट भी कर लेती थीं, उन्हीं सब में से शिवाजी ने अपनी नौ-सेना तैयार की। मराठों के आंग्रे अल्ल वाले तथा कुछ मुसलमान भी भरती किए गए। सीदी मिस्री तथा दौलत खाँ इन में विशेष प्रसिद्ध थे। शिवाजी के इस बेड़े में चार सौ नावें थीं, जिन के दो भाग थे और दोनों के अध्यक्ष क्रमशः दरिया-सारंग तथा मियाँ नायक कहलाते थे।

मराठा बेड़ा भी इस प्रकार सुगठित हो जाने पर लूट मार करने निकला और अच्छी लूट एकत्र कर लाने लगा। शिवाजी व्यापार भी करने लगे और बराबर लूट आदि के माल बड़े बड़े पोतों पर फ़ारस, मोरवा आदि स्थानों को भेजते थे। इस मराठी बेड़े के उत्कर्ष से योरोपीय जातियों तथा मुसलमानों को, जिन में सीदी तथा मुग़ल बादशाह प्रधान थे, बहुत आशंका हुई। शिवाजी अपने बेड़े को प्रायः स्थल-सेना के सहायतार्थ भी भेजते थे। सन् १६६४ ई० में कनारा लूटने को यह बेड़ा भटकल गया और दूसरे वर्ष बसरोर भेजा गया। सूरत से हज्ज करने वाले बराबर जहाज़ों पर चढ़ कर मक्का जाते थे, जिन को शिवाजी ने लूटने की आज्ञा दे दी। मुग़ल बादशाहों का कोई निजी बेड़ा नहीं था, जिस से वे मराठी बेड़े को दमन करते। जब महाराज जयसिंह ने शिवाजी पर चढ़ाई की तब उन्हों ने सीदियों को भी मराठों के विरुद्ध संधि करने को लिखा था और जब शिवाजी से संधि हो गई तथा बीजापुर पर चढ़ाई शुरू हुई तब एक सीदी संबल मुग़ल पक्ष में मौजूद था। सन् १६६९ ई० मे शिवाजी ने जंजीरा पर बड़ी तैयारी के साथ चढ़ाई की। सीदी बराबर हारते गए, यहाँ तक कि दूसरे वर्ष जब कहीं से सहायता मिलने की आशा नहीं रही तब फ़तह खाँ, जो उस समय मुखिया था, जंजीरा शिवाजी को सौंपने को तैयार हो गया। परंतु उस के तीन हबशी गुलाम सीदी संबल, सीदी क़ासिम और सीदी ख़ैरियत ने टापू को काफिर को सौंपने के विरुद्ध आवाज़ उठाई तथा स्वजातियों को उभाड़ कर फ़तह खाँ को क़ैद कर लिया। इस के अनंतर उन सबों ने बीजापुर के सुलतान तथा दक्षिण के सूबेदार को सहायता के लिए लिखा। बादशाह ने इनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली, जिस पर सीदियों ने बीजापुर से संबंध-विच्छेद कर मुग़ल की अधीनता स्वीकार कर ली। सीदी संबल बेड़ाध्यक्ष हुआ और अन्य दो जंजीरा तथा उस की अधीनस्थ ज़मीन के अध्यक्ष नियत हुए। इसी के साथ बेड़ाध्यक्ष को याक़ूत खाँ की पदवी पहिले पहिल मिली।

इसी समय शिवाजी ने सूरत लूट कर भड़ोंच तक जाने के विचार से बहुत बड़ी सेना एकत्र की और पूरा बेड़ा भी सहायतार्थ तैयार किया। सूरत के

दुर्गाध्यक्ष ने दुर्ग को दे देने का वचन दिया था पर सेना तथा बेडा के रवाना हो जाने पर पता लगा कि वह धोखा दे कर शिवाजी को अपने अधिकार में लाना चाहता है। इस पर शिवाजी स्थल-सेना के साथ खानदेश तथा बरार को लूटने के लिए उधर चले गए। मराठा बेड़ा ने दमन से आगे बढ़ते समय वहाँ के एक जहाज को पकड़ लिया, जिस पर पुर्तगीज बारह मराठा नावों को पकड़ ले गए। जब तक वे लौट कर मराठी बेड़े का पीछा करें, तब तक वह दाभोल पहुँच गया।

सन् १६७१ ई० में सीदी क़ासिम ने, जो बराबर अपनी सेना तथा बेड़े की तरक्की में लगा हुआ था, डंडा-राजपुरी पर होली के अवसर पर चढ़ाई कर दी। रात्रि के समय, सीदी ख़ैरियत ने पाँच सौ सैनिकों के साथ ज़मीन की ओर से दिखाऊ शोर मचाया। दुर्ग की सारी सेना इस धोखे में आ कर उसी ओर झुक पड़ी। इधर सीदी संबल याकूत ख़ाँ चालीस पोतों के बेड़े के साथ बंदर में आ पहुँचा था। वह दुर्ग की समुद्री दीवाल को ख़ाली पा कर उधर से ऊपर चढ़ आया और उस ने घोर युद्ध के अनंतर दुर्गों पर अधिकार कर लिया। मराठा सर्दार मैगज़ीन के उड़ने से पहिले ही मर चुका था। इस के अनंतर सीदियों ने आस-पास के दुर्गों पर भी अधिकार कर लिया। शिवाजी मुगलों से युद्ध करने में उस समय इतने व्यस्त थे कि तत्काल वे कुछ सहायता न कर सके। बाद को शिवाजी डंडा-राजपुरी लेने के लिए अपने जीवन भर प्रयत्न करते रहे पर वे उसे न ले सके। शंभाजी ने भी यह प्रयत्न जारी रखा पर सफल न हो सके। उसी वर्ष शिवाजी ने अंग्रेज़ों से सहायता माँगी थी पर उन लोगों ने सहायता नहीं दिया।

सन् १६७२ ई० में औरंगज़ेब ने सूरत से छत्तीस युद्धीय जहाज़ों का एक बेड़ा सीदियों के सहायतार्थ मराठों के विरुद्ध भेजा। इस ने शिवाजी को बहुत हानि पहुँचाई। इस बेड़े ने इन के राज्य के समुद्री किनारे के बंदरों, बस्तियों आदि को लूट कर जला दिया और लगभग पाँच सौ नावों को नष्ट कर डाला। औरंगज़ेब तथा शिवाजी दोनों ही एक दूसरे के विरुद्ध अंग्रेज़ों की सहायता चाहते थे, पर वे नीति-कुशल व्यापारी किसी पक्ष को स्पष्ट उत्तर नहीं देते थे।

शिवाजी की छ लड़ाकू नावों को बंबई के बंदरगाह में अंग्रेजों ने मुगलों से यह कह कर बचा लिया था कि उन सब को उन लोगों ने स्वयं सन् १६८० ई० के राजापुर की हानि के बदले में कुर्क कर रक्खा है। इसी बीच फ्रेंच कंपनी ने शिवाजी के हाथ कुछ तोप आदि गुप्त-रूप से बेचा था। डच कॅमोडोर रीक्लौफ वौ गोएन ने भी अवसर देख कर शिवाजी को इस शर्त पर २२ जहाजों के अपने पूरे बेड़े के साथ डंडा-राजपुरी लेने मे सहायता देना स्वीकार किया कि वह उन्हें बंबई लेने में तीन सहस्र सेना के साथ सहायता दें। परंतु शिवाजी ने ऐसी शर्त स्वीकार करना उचित नहीं समझा।

सीदी संबल की अध्यक्षता में मुगल बेड़े ने मलाबार तट का दुबारा फेरा लगाया और कई मराठा नावों को लेते हुए बंबई बंदर मे पहुँचा। वहाँ से सेना की कई टुकड़ियाँ भेज कर उस ने कई गाँवों को लूट लिया। पर एक बार रायगढ़ के कुछ मराठा सैनिकों ने सीदी लुटेरों को घेर लिया और लगभग सौ को मार डाला। पर इस चाल की लड़ाई पूर्ण वेग से बराबर बहुत दिनों तक नहीं चल सकती थी। दोनो ही पक्ष त्रस्त हो गए थे, पर सीदियों का छोटा सा राज्य इस युद्ध की हानि उठाने के योग्य नहीं था, अतः उस ने अंग्रेजों को संधि करा देने के लिए लिखा पर कुछ फल नहीं निकला।

सन् १६७४ ई० मे सीदी संबल ने शिवाजी के दरिया सारंग दौलत खाँ का रत्नागिरि के मुछकुंडी क्रीक में सामना किया। युद्ध में मराठों की विजय हुई और दोनों पक्ष के अध्यक्ष घायल हुए। डंडा-राजपुरी को लेने के लिए जो मराठी सेना वहाँ पड़ी हुई थी उस के सहायतार्थ शिवाजी धन, अस्त्र-शस्त्र, आदमी आदि बराबर भेजते चले जाते थे। एक डंडा-राजपुरी को छोड़ कर और कुल कोंकण पर इन का अधिकार हो गया था। दूसरे वर्ष सीदी बेड़ा किनारे पर चक्कर काटता रहा, पर उसे कुछ लाभ न हुआ। जब ये विनगुर्ला को लूटते हुए लौटे तब मराठी बेड़ा भी युद्धार्थ समुद्र में निकला, पर सीदी भाग कर जंजीरा पहुँच गया। इस पर शिवाजी ने जंजीरा को घेर लिया पर सीदी संबल के बेड़े सहित पहुँचने पर घेरा उठा लेना पड़ा। सन् १६७६ ई० मे फिर बड़ी तैयारी के साथ जल तथा स्थल दोनों ओर से यह टापू घेरा गया पर

सीदी कासिम की अधीनता में मुगल बेड़ा के पहुँचने पर यह घेरा भी उठा लेना पड़ा

सन् १६७६ में औरंगजेब ने सीदी संबल से बेड़े की अध्यक्षता ले ली और सीदी क़ासिम को उस पद पर नियुक्त कर दिया। पर संबल ने प्रायः एक वर्ष तक बेड़ा उसे नहीं सौंपा। अंत में जब आपस में झगड़ा हो गया तब सीदी संबल ने जंजीरा त्याग दिया और अपने परिवार तथा साथियों सहित शिवाजी की सेवा में चला आया। इस के अनंतर सीदी क़ासिम कोंकण तट का चक्कर काटने लगा और तटस्थ ग्रामों को लूटता मारता रहा। वह वर्षा ऋतु बंबई बंदर में बेड़े सहित व्यतीत कर आस पास के ग्रामों को लूटता निकल गया। शिवाजी ने इस बेड़े को नष्ट करने का प्रबंध किया था पर वह पूरा नहीं पड़ सका। जंजीरा फिर घेरा गया पर कुछ काम न निकला। शिवाजी के पास बड़े लड़ाकू जहाज़ नहीं थे, इसलिए उन्हें सफलता नहीं मिलती थी। इन के अधीन कोई ऐसा बंदरगाह भी नहीं था कि जिस में बड़े जहाज़ बनाए तथा सुरक्षित रक्खे जा सकें। इस कारण इन्हों ने खंडेरी टापू को दृढ़ कर वहाँ बंदरगाह बनाने का पहिले ही से निश्चय किया था। पर यह छोटा टापू बंबई से केवल ११ मील दक्षिण है, जिस से अंग्रेजों को इस बात का अत्यंत भय हुआ कि बंबई में कोई जहाज़ खंडेरी से बिना दीखे हुए आ जा नहीं सकता था। सीदियों को भी इस दुर्ग के बनने से बड़ी आशंका हुई और अंत में सन् १६७२ ई० में अंग्रेज़ी तथा सीदी बेड़े सम्मिलित हो कर खंडेरी पहुँचे। इन के कहने पर तथा अपने में इस सम्मिलित बेड़े का सामना करने की सामर्थ्य न देख कर वहाँ के मराठा अध्यक्ष दौलत खाँ तथा मियाँ नायक टापू छोड़ कर हट गए। परंतु सन् १६७९ ई० शिवाजी ने फिर इस टापू को दृढ़ करने का निश्चय कर चौल में आदमी तथा सामान एकत्र करना आरंभ कर दिया। उसी वर्ष के अंत में टापू पर कुछ तोपें लग गईं तथा उस के चारों ओर पाँच फ़ुटी दीवाल बन गई। अंग्रेजों ने काम रोकने के लिए वहाँ के मराठों से कहा पर उन लोगों ने बिना शिवाजी की आज्ञा के ऐसा करना अस्वीकार कर दिया।

इस पर अंग्रेज़ी बेड़े ने खंडेरी पर चढ़ाई कर दी, पर १९ सितंबर के

युद्ध में वे परास्त हो गए। बड़े जहाज टापू के पास नहीं गए क्योंकि वहाँ के समुद्र की गहराई की नाप नहीं हो सकी थी। जो सिपाही जमीन पर उतरे थे उन में से कुछ मारे गए, कुछ पकड़े गए और बाक़ी किसी प्रकार बच निकले। एक शिबार पोत छिन गया। दूसरे दिन एक शिबार मराठों ने और पकड़ लिया जिस के सैनिकों ने कुछ भी युद्ध न किया।

इस के अनंतर पूरा मराठा बेड़ा अंग्रेजों से युद्ध करने खंडेरी आ पहुँचा पर १८ अक्टूबर के युद्ध में वह परास्त हो गया। केवल एक बड़े लड़ाकू पोत 'रेवेंज' ने पाँच मराठी नावों को डुबो दिया। अंत में मराठी बेड़ा बंदर में लौट गया। सीदियों की ३४ नावों का बेड़ा भी इसी समय आ पहुँचा और खंडेरी पर गोलाबारी होने लगी। पर अंग्रेजी कंपनी इस कार्य को बराबर जारी नहीं रख सकी, क्योंकि जो गोरे मारे जाते थे उन की पूर्ति शीघ्र नहीं हो सकती थी और धन भी वह उतना व्यय नहीं कर सकती थी। अंत मे बंबई तथा सूरत की रक्षा अधिक आवश्यक समझ कर वह संधि के लिए तैयार हो गई।

इधर शिवाजी ने भी अंग्रेजों द्वारा जल-युद्ध में परास्त होने पर क्रुद्ध हो चार सहस्र सेना बंबई के विरुद्ध भेजी। पुर्तगीजों के थाना की ओर से मार्ग देने पर मराठी सेना पानवेल आई। परंतु इसी बीच दोनों पक्ष में पत्र-व्यवहार होने लगा। मराठे बड़ी बड़ी तोपें 'थाल' ला कर अंग्रेजी जहाज़ पर गोले बरसाने लगे। अंत में अंग्रेजों ने अपने जहाज़ लौटा लिए। सीदी बेड़ा भी लौट गया पर सीदी सर्दार ने खंडेरी के पास के दूसरे टापू अंडेरी पर अधिकार कर लिया और मराठी बेड़े के बहुत प्रयत्न करने पर भी उसे नहीं छोड़ा। अतिम प्रयत्न में दौलत खाँ स्वयं बहुत घायल हो गया और उस के दो सौ आदमी मारे गए। सीदी की इस चाल का यही फल निकला कि दोनों टापू एक दूसरे पर गोला बरसाने के सिवा और किसी काम के नहीं रह गए।

५ अप्रैल सन् १६८० ई० को शिवाजी का शरीरांत हो गया। इस के अनंतर राजगद्दी के लिए शंभाजी के विरुद्ध उन की विमाता सूयारा बाई ने कुछ षड्यंत्र रचा था पर उस का अंत में दमन कर वे राजा बन बैठे। इस के

बाद सूयारा बाई के पितृगृह के कुछ सर्दारों ने औरंगजेब के पुत्र विद्रोही अकबर के दक्षिण पहुँचने पर पुन शंभाजी के विरुद्ध षड्यन्त्र आरंभ किया पर पता लगने पर ये सब विद्रोही मारे गए। इन सब गड़बड़ी के समय में भी जंजीरा के सीदियों तथा मराठों में बराबर कुछ न कुछ लड़ाई होती रही थी। अंग्रेजों ने मराठों के भय से भागे हुए सीदियों के बेड़े को बंबई बंदर में आने की आज्ञा दे दी थी पर मराठों से यही कह दिया था कि वे किसी का पक्ष नहीं लेंगे। सन् १६८१ ई० के मई महीने में मराठा सेना ने अंडेरी टापू पर धावा किया पर परास्त हो कर लौट गए। इस सफलता पर सीदी इतने फूल गए कि उन सब ने अंग्रेजों, मराठों तथा पुर्तगीजों के सभी स्थानों को जी भर कर लूटा। उसी वर्ष के अंत में शंभाजी स्वयं बीस सहस्र सेना तथा बड़ी तोपें ले कर जंजीरा के सामने पहुँचे। गोलों से उस की पूर्वी दीवार तोड़ी जाने लगी और टापू तक एक मार्ग मिट्टी पाट कर बनाया जाने लगा। जंजीरा का तोपखाना उड़ा देने का बीड़ा ले कर कोंडाजी फर्जंद बहाना कर वहाँ गया पर पता लग जाने पर वह मारा गया। पटता हुआ मार्ग छोड़ कर शंभाजी को मुगल सेनापति हुसैन अली खाँ को परास्त करने जाना पड़ा, जो उत्तरी कोंकण में लूट मार मचा रहा था। इस ने मुगल सेनापति को हरा कर अहमदनगर भगा दिया पर जब यह लौट कर जंजीरा के सामने पहुँचा तब तक वर्षा आ गई थी जिस से वह पटा हुआ अधूरा बाँध बह गया। शंभाजी दादाजी रघुनाथ को वहाँ का अध्यक्ष बना कर लौट गए। इस ने उस वर्षागम के समय जंजीरा टापू पर चढ़ाई की पर कई नावों के डूब जाने से इसे लौट आना पड़ा। सीदियों ने महाबालेश्वर के नीचे माहद ग्राम तक इस का पीछा कर इन का गाँव लूट लिया।

इस पराजय पर शंभाजी ने अपनी नौ-सेना को दुरुस्त करना उचित समझ कर अपने बेड़े की सब लड़ाकू नावें एकत्र कीं और सीदी मिस्री को, जो शिवाजी से आ मिला था, बेड़ाध्यक्ष नियत कर युद्ध के लिए भेजा। सीदी मिस्री अपनी अयोग्यता ही के कारण दंडित हो कर भागा था, इसलिए इस पद पर उस की नियुक्ति उपयुक्त नहीं हुई। यद्यपि इस के बेड़े में तीस पोत थे और सीदी बेड़े में इस के ठीक आधे थे पर उस का अध्यक्ष स्वयं सीदी संबल

था। युद्ध में पाँच पोत खो कर तथा स्वयं अत्यंत घायल हो कर सीदी मिस्री बंबई लौट गया और वहाँ उस की मृत्यु हो गई।

शंभाजी इस पराजय के बाद ही दूसरे कार्य में फँस गए और इस ओर विशेष ध्यान न दे सके। मुग़ल बादशाह तथा पुर्तगीज़ों में बहुत दिनों से संधि चली आ रही थी। औरंगज़ेब ने सीदियों द्वारा जंजीरा में मराठों पर इस प्रकार विजय प्राप्त करते हुए यह विचार किया कि यदि पुर्तगीज़ गोआ से मुग़ल सेना के आने जाने का मार्ग दे दें तो दक्षिण-विजय बहुत सुगम हो जाय। पुर्तगीज़ों ने यह प्रस्ताव इस शर्त पर स्वीकार कर लिया कि मराठों से वे जो भूमि केवल अपनी शक्ति से छीन लेंगे वह उन्हीं की समझी जायगी। शंभाजी ने इस संधि का समाचार सुन कर ससैन्य जा कर चौल दुर्ग घेर लिया पर उसे वे न ले सके। पुर्तगीज़ों ने इस पर फोंडा घेरा पर वे भी उसे ले न सके। और अंत मे कई सहस्र सेना कटा कर उन्हें भी लौट जाना पड़ा। शाहज़ादा अकबर ने शंभाजी की सहायता करने का प्रयत्न किया पर सफल नहीं हुआ। शंभाजी ने पुर्तगीज़ों का प्रायः सब राज्य छीन लिया। चार सहस्र सेना भेज कर उस ने टापू पर भी दख़ल कर लिया और गोआ पर भी उस का अधिकार हो जाता पर मुग़ल सेना के पहुँच जाने से शंभाजी को हट जाना पड़ा। मुग़ल सेना और पुर्तगीज़ों में भी झगड़ा हो गया जिस पर मुग़ल अध्यक्ष शाह आलम ने पुर्तगीज़ी ग्राम आदि को लूटा। युद्ध में मराठों ने मुग़ल सेना को बेतरह घेर लिया और अंत में कई सहस्र सेना खो कर तथा नई सहायक सेना के पहुँचने पर किसी प्रकार सन् १६८४ ई० के मई में वह अहमदनगर पहुँची। औरंगज़ेब ने सहायतार्थ सूरत से एक बेड़ा खाने के सामान आदि सहित भेजा था, पर मराठा बेड़े ने वह सब सामान मार्ग ही में अपना लिया।

शंभाजी ने यद्यपि मुग़ल सेना को परास्त कर भगा दिया था और पुर्तगीज़ी राज्य को भी प्रायः नष्ट ही कर चुके थे पर तब भी गोआ न ले सकने का उन को बड़ा रंज हुआ। इस के बाद वे कुछ भी न कर सके और कलश कवि के सत्संग में रहते हुए पकड़े जा कर ११ मार्च सन् १६८९ ई० को मारे गए।

शंभाजी का एक अल्पवयस्क पुत्र शिवाजी द्वितीय था पर ऐसे गड़बड़ी के समय इन के द्वारा राज्य परिचालन संभव नहीं था। अंत में शंभाजी की स्त्री रानी येशू बाई की राय से शंभाजी के छोटे भाई राजाराम शिवाजी द्वितीय के अभिभावक नियत हुए और उन्हों ने औरंगजेब के हाथ में पड़े हुए मराठा राज्य के उद्धार का कार्य आरंभ किया। येशू बाई अपने पुत्र के साथ रायगढ़ गईं, पर १९ अक्टूबर सन् १६८९ को उस दुर्ग पर मुग़लों का अधिकार हो गया और वह पुत्र सहित पकड़ ली गई। औरंगजेब ने शिवाजी द्वितीय को साहू नाम दे कर माता-सहित अपनी पुत्री जीनतुन्निसा को सौंप दिया।

साहू के क़ैद हो जाने पर मराठा साम्राज्य फिर से बिना कर्णधार का हो गया। राजाराम गद्दी पर बैठना अनुचित समझ रहे थे। मराठे सर्दारों में झगड़ा होने का भी भय था, पर येशू बाई की उदारता से यह संकट दूर हो गया। इन की आज्ञानुसार तथा जन-साधारण में यह घोषणा करके कि जब तक साहू मुग़लों के हाथ में है तभी तक के लिए मराठा-साम्राज्य का कर्णधारत्व मैं अपने हाथ में लेता हूँ, वह जिंजी में गद्दी पर बैठे। जब राजाराम जिंजी की ओर भागे तब उन का परिवार विशालगढ़ ही में रह गया, जिसे लिवा लाने की इन्हों ने आज्ञा दी। परन्तु स्थल से आने में युद्ध के कारण विशेष असुविधा देख कर जल-मार्ग से जाना निश्चय हुआ। राजाराम की तीनों रानियाँ ताराबाई, राजस बाई तथा अंबिका बाई कोंकणस्थ यशवंतगढ़ से जहाज़ पर सवार हुईं और बीसाजी प्रभु की रक्षा में रामेश्वर होते पौंडिचेरी के पास उतरीं। यहाँ से वे कुशल पूर्वक जिंजी पहुँचीं।

इस के अनंतर मुग़लों ने जिंजी को घेरा और अंत में उस पर उन का अधिकार हो गया। यहाँ से भाग कर राजाराम सन् १६९७ ई० के दिसंबर में विशालगढ़ पहुँचे। अब तक औरंगजेब की एक प्रकार विजय ही होती रही पर यह विजय-शृंखला कितनी कमज़ोर थी इस का पता भी मुग़ल-सम्राट् को लगता जाता था। जिन दुर्गों को मुग़लों ने बड़े प्रयत्न से लिया था वे सहज ही मराठों के हाथ में चले जाते थे। कोंकण में मुग़लों का

प्रायः पूरा अधिकार हो गया। मराठा नौ-सेना भी इस मुग़ल आक्रमण से छिन्न-भिन्न हो गई थी, और तटस्थ दुर्गों पर मुग़ल अधिकार हो गया था, पर मराठा सरखेल अर्थात् बेड़ाध्यक्ष सीधोजी गूजर ने, जो प्रतापराव गूजर का सुपुत्र था, सुवर्ण दुर्ग तथा विजय दुर्ग पर पुनः अधिकार कर लिया। इन सीधोजी सरखेल की मृत्यु पर कान्होजी आंग्रे सरखेल नियुक्त हुआ।

सन् १७०० ई० में राजाराम की मृत्यु हो गई। इन की दो रानियों से दो लड़के, शिवाजी और शंभाजी थे। ताराबाई ने अपने पुत्र को राजगद्दी दिलाई और दूसरी रानी को पुत्र सहित क़ैद करा दिया। पहिले ही की तरह मुग़ल-मराठा युद्ध जारी रहा। सन् १७०७ ई० में औरंगज़ेब की मृत्यु हो गई और उस के उत्तराधिकारी बहादुर शाह ने साहू को छोड़ दिया। साहू के स्वतंत्र होने पर मराठा दल में आपस में झगड़ा हो गया। अधिक लोगों ने साहू का पक्ष ग्रहण किया और अंत में वही मराठाधिपति मान लिए गए। इसी विप्लव-काल में मराठे सर्दार स्वतंत्र होने लगे, जिन में कान्होजी आंग्रे प्रधान थे। मराठा नौ-सेना का इतिहास भी अब महाराष्ट्र के मुख्य इतिहास से बिलग पड़ गया और इस बड़े इतिहास का वह एक अलग परिच्छेद मात्र रह गया।

२—आंग्रे-काल—कान्होजी आंग्रे

(सन् १७०१ ई०—सन् १७३० ई०)

कान्होजी आंग्रे के पिता का नाम तुकोजी था और इन का अल्ल संगपाल था। इस वंश का वास्तविक अल्ल यही था पर आंग्रवाड़ी के निवासी होने के कारण ये लोग आंग्रे कहलाए। तुकोजी शिवाजी के समय में सुवर्ण दुर्ग में नियुक्त हुए थे और उन्हों ने पहले नौ-सैनिक रूप ही में प्रसिद्धि प्राप्त की थी। इन के इस प्रसिद्ध पुत्र ने इसी दुर्ग में नाविक शिक्षा प्राप्त की होगी। इस वीर के विषय में पुर्तगीज़ों ने बहुत सी कहानियाँ गढ़ ली हैं पर वह सब द्वेष-बुद्धि से लिखी गई हैं और उन की विशेष सार्थकता नहीं है। सन् १६९० ई० में तुकोजी इसी एक पुत्र को छोड़ कर मर गए,

और इस की मराठा नौ-सेना में नियुक्ति हो गई। जिस समय सुवर्ण दुर्ग पर सीदी तथा अचलोजी मोहिते ने धावे किए थे तथा दुर्गाध्यक्ष दुर्ग दे देने का विचार करने लगा था, उसी समय कान्होजी ने दुर्ग-रक्षा अपने हाथ मे ली और अपनी वीरता तथा कौशल से उसे बचा लिया। इस कार्य से इन की ख्याति इन के महाराज तक पहुँची और यह क्रमशः उन्नति करते गए। शंभाजी के समय मे यह मराठा बेड़े मे ऊँचे पद पर स्थित थे। शंभाजी के मारे जाने पर सागरगढ़ के अध्यक्ष मनकोजी सूर्यवंशी, राजकोट के सुभानजी खारटे और खंडेरी के ऊदाजी पद्धल अपने अपने दुर्गों को छोड़ कर प्रभालगढ़ भाग गए। तब कान्होजी तथा कोलाबा के अध्यक्ष भीवाजी गूजर ने कुल दुर्गों को आपस मे बाँट लिया। सन् १६९७ ई० मे इन दोनों में झगड़ा हो गया और भीवाजी गूजर क़ैद हो कर मर गया। अब कान्होजी मराठा कोंकण का एकाधिपति हो गया। राजाराम की मृत्यु पर ताराबाई ने इसे बेड़ाध्यक्ष मान लिया था। साहूजी के स्वतंत्र हो कर लौटने पर जो युद्ध दोनों पक्ष में छिड़ा था उसी अनुकूल अवसर पर कान्होजी ने स्वतंत्रता का झंडा खड़ा किया था। ताराबाई की आज्ञा का बहाना कर कान्होजी ने कल्याण तथा उस के आस पास के प्रदेशों पर और भोरघाट के नीचे के विशाल दुर्ग और राजमाची तथा उस पर के लोहगढ़ दुर्गों पर अधिकार कर लिया। इस समय इस की शक्ति इतनी बढ़ गई थी कि एक पुर्तगीज़ लेखक ने इस की विख्यात बारबरोज़ा से समानता की, जिस का भूमध्य सागर में बड़ा आतंक था।

कोंकण में इन मराठों के सिवा सीदियों, अंग्रेजों तथा पुर्तगीजों के बेड़े थे, जिन मे प्रथम कान्होजी के स्वामी के पूरे शत्रु थे और इस लिए उन के पोतों का लूटना यह अपना धर्म समझते थे। अन्य दो ऐश्वर्य-शाली व्यापारियों के दल थे। इन के सिवा अन्य जातियों की भी कंपनियाँ थीं पर वे इतनी धनाढ्य नहीं थीं। कान्होजी का प्रधान स्थान कोलाबा था जिस के उत्तर में बंबई, बसीन, सूरत आदि थे और दक्षिण में चौल, जंजीरा, गोआ आदि। इस से इन स्थानों के बीच में आने जाने वाले जहाज़

इन की दृष्टि से बच कर नहीं निकल जा सकते थे। इन सब बंदरों में आने जाने वाले जहाज़ भी इन के आतंक के बाहर नहीं थे। इन का पास बिना लिए हुए कोई भी जहाज़ कुशल-पूर्वक इन बंदरों में जा आ नहीं सकता था। इस प्रकार सब ओर ख्याल रखते हुए इन्हों ने इस लूट-मार से प्राप्त धन से अपनी शक्ति बराबर बढ़ाई।

पास न लेने या इसी प्रकार के किसी कारण से कान्होजी का अंग्रेजों से मनोमालिन्य हो गया, जिस से सन् १७०२ ई० में कालीकट की एक नाव को छः अंग्रेजों सहित इन्हों ने पकड़ लिया। लिखापढ़ी का निडर कान्होजी पर कुछ भी असर नहीं हुआ। सन् १७०४ ई० में रेनाल्ड्स इन के पास यह कहने के लिए आया कि बंबई समुद्र में नावों जहाज़ों को लूटना छीन लेना नहीं सहन किया जा सकता पर कान्होजी ने इस पर अंग्रेजों पर अविश्वास का दोष लगाया और स्पष्ट कह दिया कि वह उन के नावों को जहाँ पावेगा पकड़ ले जायगा। सन् १७०७ ई० में एक अंग्रेजी लड़ाकू बोट को इन्होंने युद्ध मे नष्ट कर डाला और सन् १७१० ई० में एक दूसरे लड़ाकू जहाज़ को बंबई के पास घेरा पर उसे ले न सके। सन् १७१२ ई० मे बंबई के गवर्नर का पोत 'सैमुएल एंड मेरी' तथा एक दूसरी नाव 'द ऐन' ले लिया। इस पोत पर करवर के अध्यक्ष मि० चाउन सस्त्रीक उपस्थित थे, जो स्वयं युद्ध मे गोली लगने से मर गए। इन की पत्नी को कंपनी ने तीस सहस्र रुपया देकर छुड़ाया था। परंतु दूसरे ही वर्ष इन्हों ने अंग्रेजों से सुलह कर ली, क्योंकि इन का साहूजी से भेंट करने के लिए, नाममात्र की अधीनता स्वीकार कर लेने पर सितारा जाना आवश्यक था। यह वीर सैनिक होने के साथ साथ नीति-कुशल भी था।

पुर्तगीज़ों से कान्होजी का कुछ दिन अच्छा संबंध रहा पर बाद को इन्हों ने उन के नावों को लूटना आरंभ कर दिया। चौल से बसीन जाते हुए एक पोत को, जिस पर चौल का छूटा हुआ अध्यक्ष था, आंग्रे ने लूट लिया। इस नाव से इन को बहुत लूट मिली। किसी युद्ध मे कान्होजी ने पुर्तगीज़ों के एक मछुआ को डुबो दिया था और एक दूसरे मछुआ को पकड़ लिया था, जिस पर के सत्ताइस क़ैदी मार डाले गए थे। इस से पुर्तगीज़

डे क्रुद्ध थे और इन के सधि प्रस्तावा पर उन्हा ने बिल्कुल ध्यान नही दिया प्रतीकार मे इन लोगो ने चोल क पास क कुछ मराठा ग्रामा म बहुत उपद्रव मचाया था। पर इन की शक्ति का ह्रास होता जा रहा था। सन् १७१२ ई० मे एक भारी व्यापारिक बेड़ा दो लड़ाकू पोतो की रक्षा में यात्रा कर रहा था, जिस का अध्यक्ष पुर्तगीज लाट का भ्रातुष्पुत्र डोम लूई ड कोम्टा था। आंग्रे ने इस बेड़े को घेर लिया और पहिले मुख्य लड़ाकू पोत को बेकाम कर दिया। दूसरा भाग कर गोआ चला गया। व्यापार की चालीस नावे आंग्रे के हाथ पड़ी। इस विजय से आंग्रे की धन-प्राप्ति के साथ ऐसी धाक जम गई कि पुर्तगीज नावें भी इन का पास ले कर यात्रा करने लग गई। दूसरे वर्ष छः सात युद्धीय पोतो की रक्षा में व्यापारी नावें भेजी गई पर कान्होजी ने निर्भय चित्त हो कर इन पर भी धावा किया। यद्यपि इस से इन्हे कुछ लाभ नहीं हुआ पर इन का आतंक कम नहीं होने पाया। इन के कारण पुर्तगीजों को हानि उठानी पड़ी थी और इन लोगों ने अंग्रेजों से आंग्रे को नष्ट करने के लिए संधि करना चाहा था, पर उन लोगों ने युद्ध को नीति-विरुद्ध बतलाया। उसी वर्ष सन १७१३ ई० में कान्होजी ने युद्धीय सामान तथा सैनिक लेकर चौल जाते हुए एक पुर्तगीज फ्रिगेट पर आक्रमण किया था, जिस पर पुर्तगीजों ने एक बेड़ा कोलावा विजय करने भेजा। इस का अध्यक्ष एन्टौनियो कार्डिम फ्रोज प्रसिद्ध सेनानी था, पर इसे भी अंत में असफल हो कर लौट जाना पड़ा। पुर्तगीजों ने मुग़ल बादशाह को लिखा कि यदि सीदियों ने सहायता की होती तो वे अवश्य सफल हो जाते। मुग़ल बादशाहत उस समय आप ही अव्यवस्थित हो रही थी, इस लिए वहाँ से कुछ भी सहायता मिलना संभव नहीं था। इस के अनंतर पुर्तगीजो ने कोल्हापुर के राजा शंभाजी से आंग्रे के विरुद्ध संधि की पर उस से भी कुछ लाभ नहीं हुआ। इस के अनंतर पाँच वर्ष के बीच केवल एक युद्ध का पता चलता है, जो अंजी द्वीप के पास हुआ था। इस में पुर्तगीजों के दो लड़ाकू पोतों ने आंग्रे के चार नावों को परास्त किया था, परंतु पुर्तगीजों की व्यापारी तथा शिकारी नावे बराबर इन का पास ले लिया करती थीं।

कान्होजी आंग्रे ने ताराबाई का नाम लेकर मराठा आधिपत्य से किस प्रकार कोंकणस्थ कई दुर्ग अपने अधिकार में ला कर स्वतंत्रता स्थापित की थी, इस का उल्लेख ऊपर हो चुका है। साहूजी ने गद्दी पर बैठने के बाद सन १७१३ मे बाहिरोजी पिजले पेशवा के अधीन एक बड़ी सेना आंग्रे को दमन करने के लिए भेजी पर युद्ध में पिजले परास्त हो कर लोहगढ़ में कैद हो गया। आंग्रे ने सितारे पर चढ़ाई करने की धमकी दी जिस पर साहूजी ने बालाजी विश्वनाथ को इन पर भेजा। बालाजी बड़े नीति-कुशल पुरुष थे और उन्हों ने समय के उपयुक्त साहूजी को सम्मति दी कि अब मराठा सर्दारों को वेतनभोगी अफसर बनाए रखने का समय नहीं रह गया, इस लिए वे अब छत्रपति के मांडलिक समझे जावें, जो अपनी अधीनस्थ भूमि में बिलकुल स्वतंत्र रहेंगे। साहूजी ने यह सम्मति स्वीकार कर ली। बालाजी ने लोनवाला में आंग्रे से भेंट की और अपनी वाचालता से आंग्रे को साहूजी को अपना राजा मानने को बाध्य किया। आंग्रे को सरखेल की पदवी मिली और प्रायः उस के द्वारा विजित कुल प्रांत तथा गढ़ उसे मिल गए। बालाजी तथा आंग्रे ने अपनी सम्मिलित सेना-सहित सीदियों पर चढ़ाई की और श्रीवर्द्धन आदि कई स्थानों पर अधिकार कर लिया। बाहिरो पिजले को छुट्टी मिली और वह राजधानी लौट गया। सन् १७१८ ई० में साहूजी ने जेजुरी में अपनी विजयों के उपलक्ष में उत्सव मनाया था और निमंत्रित होने पर कान्होजी ने भी इस में योग दिया था। इन्हों ने समुद्र पार की वस्तुएँ साहूजी को भेंट में दीं और महाराज ने खिलअत में इन्हें एक जोड़ जरी का दुशाला दिया। यह होली तक वहीं रहे और वहाँ से सितारा गए जहाँ से कुछ दिन बाद यह अपने दुर्गों में लौट आए।

जेजुरी से लौटने पर कान्होजी आंग्रे तथा अंग्रेजों के बीच उस युद्ध का आरंभ हुआ, जो प्रायः अड़तीस वर्ष तक चलता रहा। १७१३ ई० में जो संधि हुई थी वह बहुत तर्क-वितर्क के बाद हुई थी और वह कई वर्ष तक दोनों पक्ष द्वारा मानी गई। २६ दिसम्बर सन् १७१५ ई० को हेज्लबी के स्थानापन्न चार्ल्स बून बम्बई के गवर्नर नियुक्त हुए। यह बड़े तेज आदमी थे और

इन्हों ने आंग्रे को नष्ट करने को दृढ प्रतिज्ञा की संधि की शर्तों को ले कर दोनों पक्ष में खूब कहा सुनी हुई और बून महाशय अवश्य ही उसी समय भिड़ गए होते पर वे तैयार नहीं थे। इसने सूरत में 'फेम' तथा 'रेवेंज' और करवर में 'ब्रिटानिया' नाम के तीन लड़ाकू बड़े जहाज़ बनवाए। बंबई के चारों ओर दीवाल खिचवा कर उस पर बड़ी बड़ी तोपें चढ़वाईं। इस के अनंतर इन तीन बड़े जहाज़ तथा छोटी छोटी नावों के एक बेड़े को तैयार कर वह युद्ध के लिए उद्यत हो गया। सन् १७१३ ई० की संधि के अनुसार केवल अंग्रेजी कंपनी या अंग्रेजों के जहाज़ आंग्रे के लूटमार से सुरक्षित हुए थे पर अंग्रेजी झंडा लगा कर दूसरे जहाज़ भी इस स्थिति से लाभ उठाने लगे थे, इस पर सन् १७१७ ई० में कान्होजी की नावों ने 'सक्सेस' नामक एक पोत पकड़ लिया, जो कंपनी के एक दलाल गोवर्द्धनदास के माल से लदा हुआ था। इस पर लिखा-पढ़ी होने लगी। कान्होजी ने अंत में वह जहाज़ कुछ घोड़े तथा रुपयों के बदले दे देना स्वीकार कर लिया, और उस पर की तोपें तथा मस्तूल उतरवा कर उसे लौटा दिया। इस कारण बून महाशय ने अपनी प्रतिज्ञा तोड़ दी और बदले में कुछ नहीं दिया। इसी वर्ष के अप्रैल में बून ने अपने तैयार किए बेड़े को विजय दुर्ग पर कप्तान बरल्यू के अधीन भेजा। जहाज़ों के तोपों के गोलों का दुर्ग पर विशेष असर नहीं हुआ और आग लगाने वाली नावें रुकावट के कारण बंदर में नहीं जा सकीं। दुर्ग पर चढ़ने के लिए जो सीढ़ियाँ लगाई गईं, वे सब छोटी हो गईं। अंत में मराठा नावें नष्ट करने के लिए कुछ सेना उतारी गई पर दल-दल के कारण वह कुछ कर न सकी। दुर्ग में केवल एक सौ सैनिक थे, जिस से वे निकल कर कुछ न कर सकते थे। अंत में बून लौट गया।

कान्होजी ने इस के बाद कंपनी की 'सूरत' नाव, बेनेट नामक एक अंग्रेज की देशी नाव 'रॉबर्ट' तथा बंगाल की नाव 'औटर' को क्रमशः ले लिया, जिस पर अंग्रेजों ने त्र्यंबकजी मेग्गी की 'खंडेराव' नामक शिबार माहिम के पास गिरफ़्तार कर लिया। तात्पर्य यह कि दोनों पक्ष वाले इस प्रकार एक दूसरे को हानि पहुँचाते जाते थे और खूब पत्र-व्यवहार करते हुए एक दूसरे पर दोषारोपण भी करते जाते थे। उस समय के इतिहास के जो साधन

प्रस्तुत हैं वह सब प्रायः एकांगी हैं और इसलिए उन पर पूर्णतया विश्वास भी नहीं किया जा सकता। हाँ, यह अवश्य विचारणीय है कि अंग्रेजी कंपनी की उन्नति तथा धनोपार्जन में आंग्रे कंटक जरूर था और उस का दमन करना उन के व्यापार के लिए अत्यावश्यक था। इस कारण यह सब झगड़े केवल दिखाऊ थे और वास्तव में आंग्रे को दमन करना उस समय उन की नीति हो रही थी।

बून ने आंग्रे के विरुद्ध पुर्तगीज़ों तथा कोल्हापुर के शंभाजी से संधि करने का प्रयत्न किया परंतु पुर्तगीजों ने इस ख्याल से कि अंग्रेजों ने आंग्रे के हाथ तोप, गोला आदि उस समय बेंचा था जब कि उन लोगों से और आंग्रे से युद्ध हो रहा था, उन के इस प्रस्ताव को सत्य नहीं माना और उस समय कोई संधि इन दोनों यूरोपीय जातियों में मराठों के विरुद्ध नहीं हो सकी। कोल्हापुर वालों से भी बातचीत हो रही थी कि दोनों पक्ष युद्ध के लिए तैयार हो गए। सन् १७१८ ई० के मई में कान्होजी ने बंबई के गवर्नर को जो कुछ लिख भेजा, उस का तात्पर्य यही था कि आपस की संधि टूट गई। इस के अनंतर कान्होजी ने कई अंग्रेजी नावों को, जो ईंधन के लिए इन की नदियों मे आ गई थीं, पकड़ लिया। इस पर बंबई से बीस गैलिवाटों का एक बेड़ा इन नावों को लड़ कर लौटा लाने को भेजा गया पर कई स्थानों पर इस बेड़े के नाविकों ने उतर कर ग्राम आदि लूटने के सिवा कुछ और नहीं किया। जुलाई मे बंबई के पास एक टापू को दृढ़ करने के लिए एक बेड़ा कप्तान स्टैंटन के अधीन भेजा गया पर वह असफल लौट गए। उसी वर्ष नवंबर में बून स्वयं अपने निरीक्षण में इंगलिश कंपनी की पूर्ण शक्ति एकत्र कर खंडेरी लेने चले। इधर सितंबर में तीन ब्रिटिश जहाज—'एडिसन', 'स्टैनहोप' और 'डार्टमाउथ'—तीन सौ गोरी सेना के साथ बंबई आ पहुँचे थे। इन के सिवा 'विक्टोरिया' फ्रिगेट, 'रेवेंज' और 'डिफाएन्स' ग्रैब, 'फेम' गैली, 'हंटर' केच, दो अग्नि-बोट और अड़तालिस गैलिवाट थे। एक अन्य जहाज़ 'मैरिस' के भी इस युद्ध में योग देने का पता मिलता है। इस ज़बरदस्त बेड़े पर ढाई सहस्र सैनिक भी थे। इस बेड़े का अध्यक्ष मैनुएल ड कैस्ट्रो पुर्तगीज़ था, जो पहिले आंग्रे के बेड़े में

नौकर था इस नियुक्ति से अग्रज कप्तान नाराज़ हो गए थे पर गवर्नर बून ने स्वयं नवंबर मे 'एडिसन' पर अपना झंडा फहरा दिया था इस से वे चुप हो रहे। ३० नवंबर को इस बेड़े ने खंडेरी के दक्षिण पहुँच कर लंगर डाला। दूसरे दिन छोटी छोटी नावों ने दुर्ग की देख भाल की। ५ नवंबर को उस दुर्ग पर गोले उतारे जाने लगे और दोनों ओर से खूब अग्नि-वर्षा हुई। संध्या होते होते दुर्ग की तोपों का मुँह बंद हो गया। बून को इस से बड़ी आशा तथा प्रसन्नता हुई और उस ने ड कैस्ट्रो को मुहाने पर स्थित रह कर मराठा बेड़े को बाहर न निकलने देने की आज्ञा दी, पर इस ने रात्रि में मराठों को बून के विचार बतला दिए और सामान लादी हुई पाँच नावों को बेड़े में से हो कर निकल जाने दिया। इस का पता लग जाने पर भी ७ नवंबर को सिपाहियों से लदी नावें दो स्थानों से दुर्ग पर धावा करने को भेजी गईं, जिन पर मराठों ने गोले बरसाए। साठ सैनिक मारे गए पर सेना पेंशन तथा इनाम की लालच से दुर्ग के फाटक तक पहुँच गई। स्टील नामक सिपाही ने फाटक के छड़ों को परशु से काट डाला था पर समय पर सहायता नहीं पहुँच सकी। एक कप्तान ने नाव से उतरना ही अस्वीकार कर दिया, दूसरे उतर कर गए और अपना पिस्तौल फाटक के ताले पर छोड़ा, जिस से छटक कर गोली इन के नाक पर आ लगी। इतने ही से इनका साहस छूट गया और यह अपनी टुकड़ी के साथ नाव पर भाग गए। क्लिमेंट डाउनिंग् के अधीन जो सेना फाटक पर थी वह मराठा गोलियों से प्रायः नष्ट हो गई और बचे हुए लोग भाग आए।

आंग्रे के जहाज सामान आदि दुर्ग को बराबर सहायता पहुँचाते रहते थे। इस से अंत में बून ने खंडेरी पर अधिकार पाना संभव न देख कर बेड़े सहित कोलाबा पर कुछ गोले फेंके और लौट गया। इस असफलता का इसे बड़ा दुःख हुआ। ड कैस्ट्रो को सेंट हेलेना टापू में आजन्म दास हो कर रहने की सजा दी गई। वह वहाँ से भागा और फिर लौट कर उस ने आंग्रे के यहाँ नौकरी कर ली। इस के सिवा बून ने अपना क्रोध निर्दोष रामजी कामठी

पर निकालते हुए उसे आजन्म कारावास की सजा दी जिस पत्र पर यह दण्ड दिया गया था वह बाद को जाली साबित हो गया।

इस असफलता के बाद बून ने बेड़े को आंग्रे की नावों को नष्ट करने के लिए घेरिया भेजा। एक अंग्रेजी फायरशिप मराठा नाव के गोले से जल कर नष्ट हो गया जिस पर चार छोटी छोटी मराठा नावें छीन कर अंग्रेजी बेड़ा लौट गया। इन सब का कान्होजी आंग्रे पर कुछ भी असर नहीं पड़ा और सन् १७१९ ई० की जनवरी ही में यह बेड़े सहित बम्बई पहुँचे, जिससे एक बड़े जहाज को इन के डर से कई बार अपनी यात्रा रोकनी पड़ी। इस के बाद एकाएक कान्होजी ने संधि का प्रस्ताव किया। अंग्रेजों ने इस पर बड़ी प्रसन्नता प्रकट की और कप्तान जौन माइल्स को कान्होजी के पास पत्र-सहित भेजा। कान्होजी ने पत्रोत्तर देकर माइल्स को लौटा दिया और संदेश भेजा कि क़ैदी बाद को भेजे जायँगे। कान्होजी को यह समाचार मिला था कि अंग्रेज तथा पुर्तगीजों में उस के विरुद्ध संधि-प्रस्ताव चल रहा है और उस की यह नीति थी कि एक साथ दो दुश्मनों से न लड़ना चाहिए, इस लिए उस ने अंग्रेजों से संधि का प्रस्ताव कर दिया था पर जब उसे निश्चय हो गया कि पुर्तगीज संधि करने से इन्कार कर चुके तब वह भी संधि से पीछे हट गया।

प्रायः सन् १७१९ ई० का पूरा वर्ष शांति के साथ बीत गया पर सन् १७२० ई० में कान्होजी को तीन शत्रुओं का एक साथ सामना करना पड़ा। पुर्तगीजों ने यद्यपि अंग्रेजों का साथ नहीं दिया था पर आंग्रे के कारण उन लोगों को जो हानि पहुँच रही थी उसे वे अच्छी तरह जानते थे। इन लोगों ने इस वर्ष कोलाबा पर अचानक धावा कर उसे लेने का प्रयत्न किया था, पर सतर्क कान्होजी के प्रबंध के कारण वे कुछ भी सफलता न प्राप्त कर सके। इन का दूसरा प्रयत्न खंडेरी बंदरगाह के मराठा बेड़े को नष्ट कर देना था पर उस में भी इन्हें असफलता मिली। मराठा बेड़ा बंदर से बाहर निकल गया और कुछ दूर पीछा करने पर भी ये उसे न पा सके। पुर्तगीजों ने पीछा करने से लौटने पर घेरिया को अंग्रेजों द्वारा घिरा पाया, जिस से इन्हें कोरे ही लौट जाना पड़ा।

सन् १७२० ई० के सितंबर महीने मे अंग्रेजी बेडा फिर से खंडेरी विजय करने भेजा गया इस बेड़े मे पहिले जहाजों के सिवा 'चाडौस' और 'पेलहम' दो नए युद्धीय पोत थे तथा एक पोत 'प्राम' नामी था, जो कुछ भिन्न रूप का बनवाया गया था। पहिली हार के बाद बून ने इस बड़े जहाज को, जिस का पेंदा चिपटा चौकोर था और जिस पर बारह बड़ी बड़ी तोपें चढ़ाई गई थीं, तटस्थ मराठी दुर्गों पर गोले उतारने ही के लिए बनवाया था। इस तैरते हुए दुर्ग की दीवालें भी बड़ी दृढ़ बनवाई गई थीं, जिन पर गोली का कुछ भी असर नहीं होता था। इस बेड़े का मुख्य अध्यक्ष वाल्टर ब्राउन सिविलियन था, जिस ने कभी युद्ध में योग नहीं दिया था। सैनिकों तथा नाविकों मे यह कुछ भी ठीक प्रबंध न रख सका और इस के ऊपर उन्हे खुश रखने के लिए शराब की मात्रा उन को अधिक देने की आज्ञा दे दी। इस से लाभ के बदले हानि ही अधिक हुई और अधिक विशृंखलता फैली। पूरे एक सप्ताह घेरिया के सामने यह बेड़ा बेकार पड़ा रहा।

सावंत वाड़ी के फोंड सावंत द्वितीय से कान्होजी से एक शिबार के बारे में कुछ झगड़ा हो गया, जिसमें प्रबल कान्होजी ने उसकी नावों को नष्ट कर दिया तथा विनगुर्ला के पास के कई ग्रामों को लूट लिया था। इन कारणों से सावंत ने अंग्रेजी बेड़ा को सहायतार्थ बुलाया। ब्राउन महोदय बेड़ा-सहित देवगढ़ पहुँचे पर अपने सहायक का रुख बदला हुआ देखकर देवगढ़ पर गोले-बारी करना आरंभ किया पर कुछ लाभ न हुआ। जब यह बेड़ा लौट रहा था तब मार्ग में यूरोपीय डाँकुओं के दो जहाज मिले। ये दोनों डाँकू अंग्रेज थे, जिन में एक का नाम 'इंगलैंड' तथा दूसरे का 'टेलर' था। ये दोनों 'कैसेड्रा' तथा 'विक्टरी' नामक दो जहाजों पर अधिकार कर डाके डालते फिरते थे। इन को देख कर मारे भय के 'प्राम' नामक बड़े पोत को जलाकर कुल अंग्रेजी बेड़ा बंबई की ओर भाग गया।

इन सब असफलताओं से उकता कर अंग्रेज तथा पुर्तगीज दोनों जातियों ने मिलकर युद्ध करना अब उचित समझा और आपस के मनो-मालिन्य को मिटाकर संधि का प्रस्ताव किया। दिसंबर सन् १७२० ई० में

अंग्रेजों की ओर से रॉबर्ट कोवाँ गोआ भेजा गया पर लगभग आठ महीने इस बातचीत में लग गए। अंत में २० अगस्त सन् १७२१ ई० को संधि हो गई, जिस की प्रायः कुल शर्तें यही थी कि आंग्रे को नष्ट कर उस की कुल सपत्ति किसी प्रकार बाँटी जाय। उधर कंपनी के डाइरेक्टरों ने इन पराजयों तथा हानियों से हताश हो कर इंगलैंड के राजा से सहायतार्थ चार युद्धीय बड़े जहाज़ उधार लिए—कप्तान रीडिश के अधीन ५० तोपों वाला 'लियौ', कप्तान कौकबर्न के अधीन ४० तोपों वाला 'सैलिसबरी', सर राबर्ट जौनसन के अधीन ५० तोपों वाला 'एकजेटर' और कप्तान मेन के अधीन २० तोपों वाला 'शोरहम'। इस बेड़े का अध्यक्ष कमोडोर टॉमस मैथ्यूज़ था, जो बहुत ही घमंडी और चिड़चिड़ा स्वभाव का था। इस बेड़े के आ जाने से बून तथा अंग्रेजी कंपनी वालों का उत्साह बहुत बढ़ गया था और वे भावी विजय की आशा में बड़े प्रसन्न हो रहे थे।

कमोडोर मैथ्यूज़ ने बंबई पहुँचते ही बड़ा रंग गाँठा। रॉयल नेवी के उच्चपदस्थ अधिकारी होने के कारण वह अपने को बून महाशय से अधिक प्रतिष्ठित समझता था और इस कारण बिना सलामी दगे हुए उस ने जहाज़ से उतरना अस्वीकार कर दिया। बून महाशय विचार करते थे कि बादशाह इंगलैंड ने उसे प्रेसिडेंट नियुक्त किया है, इसलिए वह पद में कमोडोर से ऊँचा है पर अंत में उसे ही सलामी देना पड़ा। कमोडोर तथा उस के साथ के अफ़सर कंपनी के अफ़सरों को कितनी तुच्छ दृष्टि से देखते थे, यह इन लोगों ने उतरते ही प्रकट कर दिया। वे गवर्नर के सिवा और किसी छोटे आदमी से बोलना भी अपनी अप्रतिष्ठा समझते थे। ऐसा ही कोई दिन बीतता था कि वे आपस में एक दो द्वंद्व युद्ध न करें। अंत में काउंसिल ने युद्ध का प्लैन तैयार कर लिया और बंबई के गवर्नर ने अंग्रेजी सेना का निरीक्षण कर उसे मिस्टर काउइंग के अधीन चौल भेज दिया, जहाँ पुर्तगीज़ सेना संमिलित होने के लिए तैयार थी।

कुल संमिलित सेना पाँच सहस्र से अधिक थी और २४ तोपें साथ में थीं। यह सेना आंग्रे का कुल राज्य आत्मसात् कर लेने के लिए काफ़ी थी।

.र इस के सेनापति काउइंग को युद्ध का कुछ भी अनुभव नहीं था। कमो-डोर मैथ्यूज़ में उद्धतपन अधिक था और जो कुछ युद्धीय अनुभव उन में था वह केवल जलयुद्ध का था। पुर्तगीज और अंग्रेज़ यद्यपि मराठों के विरुद्ध मिल गए थे पर उन का आपस का मनोमालिन्य, जो एक शताब्दि से अधिक प्राचीन था, उन लोगों के हृदय में खटकता रहता था। कान्होजी भी सतर्क तथा दूरदर्शी थे। अंग्रेज़ों तथा पुर्तगीज़ों की संधि होने के पहिले ही ७ अगस्त को इन्हों ने पुर्तगोजों से स्वयं संधि करने का प्रस्ताव कर दिया, जो अस्वीकृत हो गया। जब तक शत्रु तैयार हों तब तक इन्हों ने अपने सभी तटस्थ दुर्गों को पूरी तरह सुसज्जित कर दिया और सेना का भी प्रबंध ठीक कर लिया।

२९ दिसंबर को संमिलित बेड़े ने अलीबाग दुर्ग पर गोला उतारना आरंभ कर दिया। कप्तान मेन ने दुर्ग पर गोले बरसाने की जल्दी में अपने पोत को चट्टान पर टकरा कर बेकाम कर दिया। मैथ्यूज़ जहाज़ से उतर कर दुर्ग का निरीक्षण करते हुए शत्रु के अधिक पास पहुँच गए, जिस पर एक सवार ने इन के जंघे मे भाला मार कर इन्हें घायल कर दिया। इस पर इन्हों ने घोड़ा दौड़ा कर उस का पीछा किया और दो पिस्तौल छोड़े पर उस में गोलियाँ भरी ही नहीं थीं। औद्धत्य का यह तमाशा दिखला कर अंत में यह जहाज़ पर लौट आए। गोआ के वाइसराय भी बीमारी का कारण बतला कर अपने जहाज़ में चले आए। काउइंग ने आक्रमण करने में देर करना अनुचित समझ कर दूसरे ही दिन दुर्ग पर धावा कर दिया। अंग्रेज़ी सेना इस के अधीन थी और पुर्तगीज़ सेना 'जनरल आव द नौर्थ' के अधीन थी। नाविक सेना बेलामी के अधीन सीढ़ी लगाकर दुर्ग पर चढ़ गई और संमिलित सेना भी दीवाल तक पहुँच गई। परंतु कान्होजी के सुप्रबंध से वह कुछ भी न कर सकी। दुर्ग में काफी सेना थी जिस ने नाविकों को रोक कर दुर्ग के नीचे भगा दिया और साथ ही हाथियों सहित मराठा सेना ने पुर्तगीज सेना पर बराल से धावा कर दिया। पुर्तगीज इन हाथियों से घबड़ा कर भाग खड़े हुए। अंग्रेज़ी सेना कुछ देर युद्ध कर तथा कई तोपें और तोपखाना का कुल सामान छोड़ कर पड़ाव की तरफ़ भाग गई। पराजितों का सौभाग्य था कि मराठों ने उन का पीछा नहीं किया। मैथ्यूज़ महाशय ने अपने

औद्धत्य का पूर्ण परिचय 'जेनरल आव द नौर्थ' को इस प्रकार दिया कि उन्हों ने पुर्तगीज़ों पर धोखा देने का दोष लगाया और उस का समर्थन करने के लिए अपनी बेंत जेनरल साहब के मुख में ठूंस दी। गोआ के वाइसराय के भी साथ आपने कुछ ऐसा ही व्यवहार किया जिस से पुर्तगीज़ अलग हो कर चौल लौट गए। संधि के अनुसार पुर्तगीज़ अंग्रेज़ों को छोड़ कर कान्होजी से संधि नहीं कर सकते थे इस लिए बाजीराव के साथ संधि की बातचीत करना आरंभ किया, जो कान्होजी के सहायतार्थ पास आ पहुँचे थे। १२ जनवरी सन् १७२२ को अंत में साहूजी छत्रपति के साथ संधि हो गई, जिन के कान्होजी एक मांडलिक थे।

इस प्रकार पुर्तगीज़ों के हट जाने पर अंग्रेज़ी सेना और बेड़ा दोनों बंबई लौट गए। कान्होजी से युद्ध करने का बून महाशय का उत्साह अब बिलकुल मंद हो गया। इधर उधर नावों तथा जहाज़ों की लड़ाई फुटफाट होती रहती थी। 'विक्टोरिया' तथा 'रवेंज' नाम के दो अंग्रेज़ी जहाज़ों ने आंग्रे के चार गुराबों को परास्त कर दिया पर दूसरे ही महीने आंग्रे की नावों ने 'हंटर' नामक युद्धीय पोत को नष्ट कर दिया और दूसरा पोत 'ईगल' टूट फाट कर भी किसी प्रकार बच कर बसीन निकल गया। इन के भय से एक दो युद्धीय पोत अपनी रक्षा में व्यापारिक नावों को ले जाना स्वीकार ही नहीं करते थे। कान्होजी की भी हानि हो रही थी। इन का एक पोत अंडेरी के पास पकड़ गया। नवंबर मे बरसोवा के पास युद्ध में इन का मुख्य पोत छिन गया। इस पर भी यह बेड़े सहित समुद्र मे निर्भय हो कर विचरण कर रहे थे, जिस से अंग्रेज़ों के व्यापार मे बड़ा घाटा हुआ। २० अक्तूबर सन् १७२३ ई० को आंग्रे की बारह नावों ने बंबई के सामने ही दो युद्धीय पोतों को तथा उन की रक्षा मे जाते हुए दो माल की नावों को अपने अधिकार में कर लिया। इस प्रकार यह युद्ध सन् १७२४ ई० तक चलता रहा, जिस में कभी एक पक्ष और कभी दूसरा पक्ष हारता था। इसी वर्ष कान्होजी ने अंग्रेज़ों से संधि का प्रस्ताव किया। इस प्रकार एकाएक संधि का प्रस्ताव करने का क्या कारण था यह स्पष्ट नहीं कहा जा सकता। इसी

वर्ष डच लोगों ने आंग्रे के विजय दुर्ग को नौयुद्धीय जहाजों तथा सेना के साथ घेर लिया था पर वे भी सफल-प्रयत्न न हो कर लौट गए। सन् १७२३ ई० में जब कान्होजी साहूजी का दरबार करने गए थे तब अवसर पाकर वाड़ी के सावंत ने इन के राज्य पर आक्रमण किया था पर परास्त हो कर लौट गया था। इस ने पुर्तगीजों से सहायता माँगी थी पर उन लोगों ने गुप्त रूप से कुछ सहायता करने के सिवा कुछ अधिक मदद नहीं दिया। सन् १७२५ ई० में राजपुरी के सीदी अपना बेड़ा लेकर कोलाबा पहुँचे पर कुछ दे दिला कर आंग्रे ने उन से पीछा छुड़ाया।

बंबई के गवर्नर बून के स्थानापन्न फ़िप्स ने आंग्रे के संधि-प्रस्ताव पर केवल कटूक्तियों से काम लिया, पर इस कार्य में भी वे आंग्रे का मुख बंद न कर सके। अंत में संधि तो न हो सकी पर कर्जेन्न बेन नामक एक व्यापारी की मध्यस्थता में कैदियों का परिवर्तन हो गया। अंग्रेजों ने नाविक शक्ति बढ़ा कर व्यापारिक नावों की रक्षा का विशेष प्रबंध किया तिस पर भी सन् १७२७ ई० मे 'डार्बी' और दूसरे वर्ष बंबई के पास ही 'शार्क' नामक जहाजों को मराठे पकड़ ले गए। इस प्रकार केवल अपनी ही स्वतंत्र शक्ति से अंग्रेज, पुर्तगीज, डच, सीदी आदि जातियों से परास्त ही न हो कर प्रत्युत् उन सब पर अपनी धाक जमाए हुए यह उद्भट वीर २० जून सन् १७२९ ई० को इहलोक छोड़ कर वरुण लोक को सिधारा। इन की मृत्यु के विषय में इस्माइल ग्रेशियास के 'ओ अल्टिमोस सिंको जेनरेज डो नोर्टे' में लिखा गया है कि वह सन् १७३१ ई० में हुई थी।

२—आंग्रे-काल—शेखोजी आंग्रे—अंत

(सन् १७३०—सन् १७५६)

कान्होजी आंग्रे की विवाहिता स्त्री से शेखोजी तथा शंभाजी नामक दो पुत्र और अविवाहिताओं से वयानुक्रमानुसार येसाजी, मानाजी, तूलाजी तथा ढोंढाजी चार पुत्र थे। कान्होजी की पत्नियों मे मथुराबाई तथा लक्ष्मीबाई मुख्य थीं, क्योंकि ये ब्रह्मेंद्र स्वामी तथा बाजीराव से पत्र-

व्यवहार रखती थीं। कान्होजी की मृत्यु पर शेखोजी उस के स्थानापन्न हुए और अंग्रेजों से उन्हों ने युद्ध आरंभ कर दिया। सन् १७२९ ई० के नवंबर मे दाभोल के पास मराठा बेड़े ने 'विलियम' पोत ले लिया। इस पर कंपनी ने व्यापार के रक्षार्थ पाँच छः जहाजों का एक बेड़ा कोलाबा के पास मराठा बेड़े पर दृष्टि रखने के लिए नियुक्त किया। सन् १७३० ई० के सितंबर में अंग्रेजों ने आंग्रे की तीन नावें पकड़ ली थीं। इस पर उसी वर्ष नवबंर में शेखोजी कोलाबा के पास स्थित बेड़े को युद्ध में पराजित कर कई नाव पकड़ ले गए। इंगलिश कंपनी ने वाड़ी के सावंत के साथ शेखोजी आंग्रे के विरुद्ध संधि की पर उस से कुछ फल न निकला।

कान्होजी आंग्रे तथा सीदियों में बहुत दिनों तक संधि रही पर उस की मृत्यु पर शेखोजी ने, जो पहिले ही से सीदियों के विरोधी थे इन से युद्ध की ठानी। ब्रह्मेंद्र स्वामी के बनाए हुए परशुरामेश्वर महादेव के मंदिर को एक हाथी के कारण सीदियों ने शिवरात्रि के दिन नष्ट कर डाला, जिस पर स्वामी जी अत्यंत क्रुद्ध हुए और उन्हों ने इन सीदियों को नष्ट करने के लिए बाजीराव को उभाड़ा। प्रधान सीदी रसूल याकूत खाँ की सन् १७३३ ई० में मृत्यु हो गई और उस के अनेक पुत्रों में झगड़ा खड़ा हो गया। मराठा सेना ने सीदी राज्य मे पहुँच कर प्रथम युद्ध में सीदी रैहान तथा उस के एक सौ सैनिकों को मार डाला और उस के बाद ताल तथा गोस्साला दुर्गों को विजय कर राजपुरी, नागोथना आदि बस्तियों को लूट लिया। इसी समय शेखोजी के भाई मानाजी आंग्रे ने जंजीरा के पास सीदी बेड़े को कड़ी परास्त दी। ८ जून को रायगढ़ पर बाजीराव ने अधिकार कर लिया, जिसे औरंगजेब ने सन् १६८९ ई० में सीदियों को दे दिया था। शेखोजी ने थाल और रावल दुर्गों पर अधिकार कर लिया। सीदियों के पास अब केवल जंजीरा, अंजानवेल, गोवालकोट और विजय दुर्ग बच गए थे। सीदी अब्दुल्ला के मारे जाने से, जो मराठों से मिला हुआ था, सीदियों ने बड़ी वीरता तथा दृढ़ता से इन दुर्गों की रक्षा करना शुरू किया पर बाहरी

सहायता न पाने से व असहाय हो रहे थे इसलिए डच तथा अंग्रेज़ दोनों को सहायता के लिए लिखा।

अंग्रेज़ मराठों की इन सफलताओं से और मुख्यतः थाल ले लेने से बड़े चिंतित हो रहे थे और उन्हें सीदियों के अंडेरी दुर्ग की रक्षा करने की इस कारण बड़ी चिंता थी कि यदि मराठों ने उस पर अधिकार कर लिया तो बंबई उन का मुखापेक्षी मात्र रह जायगा। इसी बीच शेखोजी ने 'रोज़' नामक इंगलिश कंपनी का एक पोत पकड़ लिया और ७६०३ रु० ले कर छोड़ा, जिस से वे और भी चिढ़ गए। इस प्रकार इस सुअवसर को नीति-कुशल गवर्नर ने जाने नहीं दिया और सीदियों को सहायता देने का वचन दे कर तथा समझा बुझा कर अंडेरी पर १६ जूलाई सन् १७३३ ई० को अपना झंडा फहरा दिया। मराठों ने खंडेरी दुर्ग से तथा स्थल की ओट से उस पर गोले उतारे पर कुछ लाभ न हुआ और वह अंग्रेजों ही के हाथ में रह गया।

मराठा सर्दारों के आपस के मनोमालिन्य तथा ढिलाई के कारण कोंकणस्थ मराठा सेना दो बार पराजित हो गई और उसे सहायता नहीं पहुँच सकी। इधर सीदियों के सहायतार्थ अंग्रेजों के सिवा पुर्तगीजों तथा सूरत के सीदी मसऊद ने, जो मुग़ल बेड़ाध्यक्ष था, तैयारी की और इस प्रकार शेखोजी आंग्रे के विरुद्ध चार विदेशीय जल-शक्तियाँ संमिलित हो गईं। शेखोजी अपने पिता के योग्य पुत्र थे और वे शत्रुओं के इस संमिलन तथा संगठन से ज़रा भी विचलित न हो कर पूरा समाचार प्राप्त करते हुए युद्ध की तैयारी करने लगे। इन्हों ने शत्रुओं का छक्का छुड़ाने के लिए एक अत्यंत साहस का कार्य करना विचारा अर्थात् बंबई पर अधिकार कर लेने की तैयारी की, क्योंकि वह इन शत्रुओं में अंग्रेजों ही को प्रधान समझते थे। परंतु इस के साथ ही साहूजी के द्वारा अंग्रेजों से संधि करने की बातचीत भी चलवाई पर स्वार्थ-विरुद्ध होने से यह प्रस्ताव स्वीकृत नहीं हुआ। शेखोजी आंग्रे युद्ध की तैयारी में लगे हुए थे। दुर्गों में घेरे के उपयुक्त कुल सामान एकत्र कर उन्हें दृढ़ कराया और अपने बेड़े के सभी जहाज़ों तथा नावों की पूरी मरम्मत कराकर सुसज्जित करा

दिया। इसी कार्य के बीच में वे अस्वस्थ हो गए और दस बारह दिन की बीमारी के बाद यह रणकुशल वीर २८ अगस्त सन् १७३३ ई० को सदा के लिए सो गया। कहा जाता है कि यह घोड़े पर सवार ही सवार वीर-लोक सिधारे थे। मराठा नौ-सेना में ये दोनों पिता-पुत्र अद्वितीय हो गए है और वास्तव में इन्हीं दो के साथ मराठा नौ-सेना का पूर्ण उत्थान हुआ था। इस के बाद इसके पतन का इतिहास आरंभ होता है।

यद्यपि मराठा नौ-सेना की संस्थापना छत्रपति शिवाजी ने ही की थी पर उन की मृत्यु के बाद वह प्राय: नहीं के बराबर हो गई थी, जब कि कान्होजी आंग्रे ने उसका प्रबंध स्वयं अपने हाथ में लिया। क्रमश: उन्हों ने अपनी शक्ति कहाँ तक बढ़ाई इस का उल्लेख किया जा चुका है। उन को कुछ विदेशीय इतिहासज्ञ जल-डाँकू के नाम से संबोधित करते हैं पर वे स्वयं ठंढे दिल से कुछ विचार करें तो देखेंगे कि उस समय उस तट पर सभी इसी कार्य में लगे हुए थे। स्पष्ट ही वह इस विचार के पुरुष थे कि मनुष्य को अपनी उन्नति तथा राज्य-विस्तार में सर्वदा दत्तचित्त रहना चाहिए। कान्होजी ने साहू के मराठाधिपति हो जाने पर उन की अधीनता स्वीकार कर ली थी और मराठा-साम्राज्य की उन्नति में किसी प्रकार की बाधा नहीं डाली। इन के सुपुत्र शेखोजी केवल चार वर्ष ही पिता के बाद जीवित रहे पर इसी बीच इन्हों ने अपने रण-कौशल, वीरता तथा साहस की धाक शत्रुओं के हृदयों पर जमा दी थी। स्थल-नीति में यह बराबर बाजीराव की संमति ले लेते थे। इन के अधीन गृह-कलह पनपने नहीं पाया और इसी सुमति के कारण बाहर वाले इन से डरते थे। इनकी मृत्यु पर इन के भाइयों शंभाजी तथा मानाजी में अनबन हो गई और आंग्रे वंश की अवनति का बीजारोपण हो गया।

बाजीराव पेशवा ने शेखोजी की मृत्यु पर सीदियों से युद्ध करना उचित न समझ कर संधि कर ली जिस से मराठों को वे सब दुर्ग मिल गए, जिन पर उन का अधिकार हो चुका था। इस संधि से ब्रह्मेंद्र स्वामी तथा परशुरामेश्वर को नष्ट करने वाला सत सीदी दोनों ही नाराज थे और इस संधि के होते भी सन् १७३६ ई० के आरंभ में उस ने सागरगढ़ लेने का प्रयास

किया चिमनाजी आप्पा ने वहाँ पहुँच कर युद्ध में सीदी सत को पूर्णतया परास्त कर मार डाला इसी युद्ध में अंडरी का अध्यक्ष भी ग्यारह सहस्र सेना सहित मारा गया। इस पराजय से सीदियों का सदा के लिए हौसला टूट गया और ब्रह्मेंद्र स्वामी भी संतुष्ट हो गए।

सन् १७३४ ई० में शंभाजी आंग्रे ने सीदियों से आनजान-वेल लेने के लिए यात्रा किया और मानाजी को सुवर्ण दुर्ग के बेड़े का अध्यक्ष बना कर छोड़ गए। इस ने पुर्तगीजों से भाई के विरुद्ध सहायता माँगी जिसे उन्हों ने स्वीकार कर लिया। इस पर मानाजी ने अपने भाई येसाजी को अंधा कर कैद कर लिया और स्वतंत्रता की घोषणा कर दी। शंभाजी बेड़े सहित इस का प्रतीकार करने आए पर पुर्तगीज़ों की सहायता के कारण हार कर लौट गए। मानाजी के संधि की शर्त पूरी न करने पर पुर्तगीज़ लौट गए तब शंभाजी ने फिर चढ़ाई की पर उस ने बाजीराव को मध्यस्थ बनाया। बाजीराव आंग्रे की शक्ति का ह्रास चाहते थे। इसलिए घर की फूट शांत करने के बजाय उसे और बढ़ाया अर्थात् मानाजी को पैतृक भाग के रूप में कोलाबा देने की राय दी। अब शंभाजी ने पुर्तगीज़ों को सहायतार्थ निमंत्रित किया और कोलाबा घेर लिया। मानाजी ने कोथल और राजमाची दुर्गों को बाजीराव को सौंप कर उन्हें सहायतार्थ बुलाया, जिन्हों ने ससैन्य पहुँच कर कोलाबा का घेरा उठा दिया। इस के अनंतर बाजीराव ने पुर्तगीजों के विरुद्ध युद्ध आरंभ करने की घोषणा की पर गोआ के वाइसराय के संधि-प्रस्ताव करने पर इन्हों ने उसे स्वीकार कर लिया।

उक्त संधि की एक शर्त को न मानने से सन् १७३७ ई० में मराठा-पुर्तगीज़ युद्ध आरंभ हुआ, जिस में दो वर्ष के भीतर मराठों ने गोआ को छोड़ कर पुर्तगीजों के प्रायः सब स्थानों पर अधिकार कर लिया। अंत में अंग्रेजों द्वारा मराठों को चौल दुर्ग दे कर पुर्तगीजों ने संधि कर ली, जिसे मानाजी को सौंप कर मराठा सेना लौट गई। इस के बाद शंभाजी आंग्रे ने मानाजी पर चढ़ाई कर चौल तथा अलीबाग छीन लिया पर बालाजी बाजीराव तथा चिमनाजी आप्पा ने ससैन्य पहुँच कर शंभाजी को परास्त कर सुवर्ण

दुर्ग में भगा दिया। इस प्रकार जो आंग्रे शक्ति स्वतः ह्रास को प्राप्त होती जा रही थी, वह दो भागों में बँट गई। एक कोलाबा में तथा दूसरी सुवर्ण दुर्ग में स्थापित हुई।

सन् १७३८ ई० में डच लोगों ने घेरिया को घेरा, पर हार कर उन्हें हट जाना पड़ा। सन् १७४० ई० मे शंभाजी ने चीन से लौटते हुए चार जहाजों को परास्त किया। सन् १७४३ ई० मे शंभाजी की मृत्यु हो गई, जिस के उत्तराधिकारी तूलाजी आंग्रे हुए। इन्हों ने घेरिया अर्थात् विजिया दुर्ग को अपनी राजधानी बनाया। इन्हों ने लूटमार का कार्य बड़े जोर-शोर से शुरू किया। इन की शक्ति भी काफी बढ़ गई थी। सन् १७५४ ई० में तीन बड़े युद्धीय डच पोतों से युद्ध कर दो को नष्ट कर डाला और एक को पकड़ ले गए। अंत में पेशवा तथा अंग्रेजों ने मिल कर तूलाजी पर चढ़ाई की।

सन् १७५५ ई० में रामाजी के अधीन मराठों की पूरी स्थल सेना तथा अंग्रेजों का कमोडोर जेम्स के अधीन ४४ तोपों वाला 'प्रोटेक्टर' और तीन अन्य छोटे जहाज तथा मराठों के सात ग्रैब और साठ गैलिवाट का बेड़ा सुवर्ण दुर्ग भेजा गया। इस तैयारी पर भी आंग्रे नाम की ऐसी धाक थी कि बंबई के गवर्नर ने कमोडोर को आज्ञा दे रक्खी थी कि वे दुर्ग पर आक्रमण न कर केवल उसे घेरे रहें। आंग्रे बेड़ा इस संमिलित बेड़े के पहुँचने के पहिले ही बंदर से निकल गया, जिस का कुछ देर तक पीछा कर कमोडोर सुवर्ण दुर्ग लौट आए। मराठा सेना ने स्थल की ओर से तथा बेड़े ने जल की ओर से दुर्ग पर गोले उतारना आरंभ कर दिया। एक ही दिन की गोलेबारी से दुर्ग वालों ने सुलह का झंडा दिखला दिया। इस के अनंतर बनकोट का भी यही हाल हुआ। मराठों ने इस सलफता पर दाभोल भी लेने की कमोडोर को सलाह दी। उस ने गवर्नर की आज्ञा बिना आगे बढ़ना अनुचित समझा और इस लिए कुल बेड़ा वहीं छोड़ कर बंबई लौटा। गवर्नर ने कमोडोर को रोक लिया क्योंकि एडमिरल वॉटसन तथा कर्नल क्लाइव पूरी सहायता के साथ इसी युद्ध के लिए आ रहे थे।

इन दोनो के पहुँचने पर कमांडर जेम्स घेरिया दुर्ग का निरीक्षण कर इस बात की रिपार्ट करने के लिए भेजे गए कि वह दुर्ग किस प्रकार लिया जा सकता है। सन् १७५५ ई० के अंत में कमोडोर अपनी रिपोर्ट ठीक कर लौट आए और इस के डेढ़ महीने बाद उस पर चढ़ाई करने की तैयारी हुई। सेना की तैयारी में यह समय नहीं व्यतीत हुआ था प्रत्युत् लूट बाँटने की बातचीत में यह समय बीत गया। मराठों से यह निश्चय हुआ था कि बनकोट तथा उस के अधीनस्थ पाँच गाँव अंग्रेजों को मिलेंगे और यदि घेरिया विजय हो जायगा तो यह मराठों को मिलेगा। इस के सिवा घेरिया में मिली हुई लूट का बँटवारा किस प्रकार होगा, इस की बहस में मराठों का बिलकुल ख्याल ही न कर जिन दस अफ़सरों की कमिटी स्थापित हुई उन सबों ने आपस ही मे कुल लूट बाँटने का प्रबंध कर लिया। इस बँटवारे मे स्थल तथा जल-सेना के अफ़सरों में भी कुछ झगड़ा हुआ था पर एडमिरल वॉटसन ने, जिन्हें सब से बड़ी रक़म मिलने को थी, अपने पास से क्लाइव की कमी की पूर्ति करने का वादा कर इस टंटे को वहीं खतम कर दिया। सर जॉन मैलकॅम को क्लाइव के जीवन-चरित्र में (जिल्द १ पृ० १३५ पर) पक्षपात करते हुए भी उन अफ़सरों के उस भाव की निंदा करनी ही पड़ी थी जिस का 'सेना के कुल विभागों में लूट हज़म करने तथा शीघ्रातिशीघ्र धन एकत्र करने का' दौरदौरा था।

अंततः यह सब तै हो जाने पर चौदह जहाजों का बेड़ा ८०० गोरे और एक सहस्र तिलंगों को ले कर घेरिया के पास पहुँचा। रामाजी पंत भी सेना-सहित वहाँ पहुँच गए। तूलाजी इन सब तैयारियों को देख कर डर गया और दुर्ग की रक्षा अपने भाई को सौंप कर वह मराठा कैंप में संधि-प्रस्ताव ले कर गया। पर रामाजी पंत बिना अंग्रेजों की राय के कुछ भी स्वीकार करना अनुचित समझते थे। अंग्रेजी सेनानियों ने यह सोच कर कि यदि तूलाजी ने दुर्ग को मराठों को सौंप दिया तो उस के लूट का एक भी तृण इन मराठा लुटेरों से न बच जायगा। उन लोगों के हृदय में यह भी खटका हुआ होगा कि

जिस प्रकार हम लोगों ने मराठों का अंश आत्मसात् करना तै कर लिया है, उसी प्रकार वे भी दुर्ग पर इस तरह अधिकार कर हम लोगों को निराश न कर दें। ऐसा विचार उठते ही बेड़े ने दुर्ग से ५० गज़ पर से—क्योंकि दुर्ग वाले लड़ने को तैयार ही नहीं थे—१५१ तोपों से आग उगलना शुरू कर दिया। आंग्रे बेड़े में भी जो बंदरगाह में फँसा हुआ था आग लगा दी गई और वह प्रायः कुल नष्ट हो गया। दूसरे दिन दुर्ग सौंपने का तै हो गया था, इस लिए दुर्ग तक पहुँचने का जो एक मात्र मार्ग स्थल की ओर से था, उसे बंद करने के लिए क्लाइव ने कप्तान बुचनन को सेना सहित वहाँ भेज दिया। इस प्रकार मार्ग का अवरोध हो जाने पर मराठे बहुत बिगड़े, क्योंकि वह दुर्ग उन्हें ही संधि के अनुसार मिलने वाला था पर उस का कुछ भी असर न हुआ। इस पर बुचनन को अस्सी हज़ार रुपयों की हुंडी, नक़द नहीं, घूस में देने का प्रस्ताव किया गया पर उस ने स्वीकार नहीं किया। हो सकता है, कि उस अफसर ने सोचा हो कि लूट का जो भाग उसे मिलने वाला है, वह इस से कहीं अधिक हो, क्योंकि घेरिया में प्रायः पचासों वर्ष से माल एकत्र हो रहा था। डफ़-कृत 'मराठों का इतिहास' (भाग २ पृ० ९९१ में) लिखा है कि 'तत्कालीन समय का भाव समझने के लिए यह घटना विचारणीय है कि इस साधारण सुविचार को भी बंबई की सरकार ने ऐसा असाधारण समझा कि उस ने कप्तान बुचनन को उन के इस अभूतपूर्व कार्य के लिए सुवर्ण-पदक प्रदान किया।'

उसी दिन अंग्रेजों का दुर्ग पर अधिकार हो गया, जिस में युद्धीय सामानों के सिवा बारह लाख नक़द तथा अन्य वस्तुएँ मिलीं। बंबई में जिस प्रकार विचार हो चुका था उसी प्रकार यह अंतिम अंश आपस में बँट गया और जब मराठों ने इस पर आपत्ति की तब उन्हें उत्तर मिला कि उन का जो कुछ हक़ था वह बुचनन को घूस देने के प्रयास के कारण मिट गया। इस कोरे उत्तर के सिवा घेरिया पर उन्हें अधिकार देने में आनाकानी होने लगी और गवर्नर बूरचिएट ने ऐसा न करने के लिए तुच्छ बहाने पेश किए। परंतु अंत में अपनी कमज़ोरी को समझ कर उन्हों ने घेरिया मराठों को सौंप

दिया इस प्रकार आंग्रे अर्थात् मराठा नौ-सेना का अंत मराठों ही की सहायता से हो गया।*

---

*टिप्पणी—इस लेख के लिखने में मुख्यत: जिन ग्रंथों तथा लेखों से सहायता ली गई है, वह निम्न-लिखित हैं—

१. इंडियन शिपिंग एंड मेरीटाइम एक्टिविटी—राधाकुमुद मुकर्जी, एम० ए०, पी-एच्० डी०

२. ए कॉम्प्रिहेंसिव हिस्टरी ऑव इंडिया—हेनरी बेवरिज

३. शिवाजी—सर यदुनाथ सरकार, एम० ए०

४. हिस्टरी ऑव द मराठा पीपुल—सी० ए० किनकेड और डी० बी० पारसनीस (भाग ३)

५. इंडियन हिस्टौरिकल रिव्यू—१९३२ में 'मराठा नेवी इन द सिक्सटीन्थ सेनचुरी' शीर्षक लेख

हिंदू चित्रकला

[लेखक—श्रीयुत नानालाल चमनलाल मेहता, आई० सी० एस्०]

मुग़ल शासन भारतीय सभ्यता के इतिहास का एक ज्वलंत उदाहरण है। इस काल में पुरानी परंपराओं का जीर्णोद्धार एवं परिष्कार हुआ। परंतु फिर भी लोकजीवन से शाही कला भिन्न रही।

प्रांतीय कला

औरंगजेब की मृत्यु के बाद शाही चित्रकारों की दशा गिर गई, और उन्हों ने प्रांतीय दरबारो मे आश्रय ढूँढ़ा। इन चित्रकारों ने हिंदू चित्रकला की परपरा को फिर से सजीव किया। जो मुसव्वर अभी तक आखेट के, राजदरबारों के, शाही तमाशों के दृश्यों का आलेखन करते रहे, उन्हों ने श्रीमद्‌भागवत, रामायण, महाभारत, नल-दमयंती आख्यान, मंझन कृत (१५०९-१५३८) मधुमालती, सुंदर शृंगार, बिहारी सतसई, मतिराम का रसराज, केशव की रसिकप्रिया, जयदेव का गीत-गोविंद, देवी-माहात्म्य, हमीरहठ, इत्यादि अनेक लोकप्रिय ग्रंथों के चित्रित अनुवाद किए। इस कला में लोकजीवन का सच्चा प्रतिबिंब था। चित्रकारों ने एक तरह से अपने ही जीवन के भाव कला द्वारा व्यक्त किए। इस कला का ध्येय और उस की प्रणाली मुग़ल कला से निराली थी। मुग़ल दरबार के प्रचुर साधन, एवं ऐश्वर्य छोटे छोटे दरबारों मे उपलब्ध नहीं थे। वसलीगर, नक़्श-नवीस, ख़ुशनवीस आदि अन्यान्य व्यक्तियों के लिए इस प्रांतीय कला में बहुत स्थान नहीं था। इसी कारण यह १८ वीं और १९ वीं शताब्दी के मध्य तक की कला बाह्याडंबर से एक प्रकार से विमुक्त सी रही। इस कला की परंपरा १६ वीं शताब्दी के अंत से तो बराबर मिलती है। इस समय के चित्र अधिक-

तर रागमालाओं के मिलते हैं कुछ चित्र १७ वीं शताब्दी के भी प्राप्त हुए हैं किन्तु हिंदू चित्रकला का पूरा विकास तो १८ वीं शताब्दी के मध्य से लेकर १९ वीं शताब्दी के प्रारंभ में हुआ। इस चित्रकला का नाम डा० आनंद कुमार-स्वामी ने पहले पहल राजपूत कला रक्खा था। इसी नाम से आज भी राजपूताने के, बुंदेलखंड के, पंजाब के, एवं काश्मीर के चित्र जाने जाते हैं। यह नाम एक तरह से उपयुक्त नहीं है, क्योंकि इन सब प्रांतीय कलाओं में अनेक विभिन्नताएँ पाई जाती हैं, और फिर केवल राजपूत राजाओं के आश्रय के कारण इस कला का नाम राजपूत कला रखना भी उचित नहीं है। यह तो सर्वमान्य बात है कि यह कला प्राचीन हिंदू कला की परंपरा के अनुसार रही। इस कारण मेरा मत तो यह है कि इस कला को हिंदू कला के नाम से ही संबोधित करना चाहिए। हिंदू प्रणाली के इतिहास में मुग़ल कला एक पृथक् प्रकरण रूप ही रही और इस को मुग़ल कला के नाम से संबोधित करना यथार्थ है। 'हिंदू' शब्द के मुक़ाबले में 'मुसलिम' शब्द का व्यवहार बिलकुल ही असंगत है, क्योंकि मुसलिम संस्कृति कोई स्वतंत्र अथवा पूर्णतया विदेशी वस्तु नहीं थी, वरन् हिंदू संस्कृति का एक दूसरा स्वरूप वा रूपांतर मात्र थी। जैसे कुशान शिल्प भारतीय शिल्प का अविच्छिन्न अंग है, वैसे ही मुग़लकालीन आलेखन भी भारतीय चित्रकला के इतिहास में एक अपरिहार्य प्रकरण है। भारतीय सभ्यता की पाचन शक्ति आरंभ से ही कुछ अनोखी रही। इसी कारण नई सभ्यताओं का विशिष्ट असर चिरस्थायी नहीं रहा। देशकाल के अनुसार जो अंश ग्राह्य थे वे भारतीय सभ्यता में घुल मिल गए। जैसे मौर्य शिल्प से, गांधार कला के असर के होते हुए भी, कुशान शिल्प का क्रमानुक्रम संबंध है, वैसे ही ईरानी उस्तादों के मौजूद रहते भी मुग़ल काल में भी भारतीय चित्रकला की शृंखला टूटी नहीं। अकबर के ही काल में २५ वर्षों के ही भीतर मुग़ल काल की शाही कला की विजातीयता मिटकर भारतीय बन गई। मुग़ल काल के मुसव्वरों में तीन चौथाई कलाकार हिंदू जाति के थे। मुग़ल कला का विशेष स्थान उस की विशेषताओं

हिंदू कला

पर, उस के रंग-विधान पर, उस के ऐतिहासिक महत्त्व पर, और उस के संकुचित विषय-क्षेत्र पर अवलंबित है। इन्हीं कारणों से मुग़ल चित्र हिंदू चित्र से कुछ अलग पड़ता है, और थोड़े ही अनुभव के बाद एक को दूसरे से पहिचानने में किसी तरह की कठिनाई नहीं होती। मुग़ल चित्रकारों ने जब रागमालाओं के चित्र बनाए तब भी उन में वह कोमलता और मार्दव नहीं आया, जो ठेठ हिंदू चित्रों में पाया जाता है। इस का कारण यह नहीं था कि चित्रकार के मानस में कुछ विभिन्नता थी। बात केवल यह थी कि ज़माने का तर्ज़ ही कुछ दूसरा था। जैसे एक ही गायक ध्रुपद और ख़्याल दोनों गाता है, परंतु रुचि के अनुसार किसी एक प्रणाली में पारंगत होता है, वैसे ही मुग़ल-चित्रकारों ने प्रतिबिंब चित्र बनाने में अद्भुत नैपुण्य प्राप्त किया। अपने संकुचित क्षेत्र में उन्हों ने अद्वितीय काम दिखाया। फिर भी ये सब चित्रकार आख़िर भारतीय सभ्यता के रंग में रँगे हुए थे। ईरान के सुंदर वर्ण-वैचित्र्य से मुग्ध हुए बादशाहों को ख़ुश करने के लिए बहुत ही मनोरम रंगीन चित्र मुग़ल काल में बने। परंतु आसन, मुद्रा, भाव इन सभी विषयों में पुराने शिल्प-शास्त्रों के असर का प्राधान्य रहा। चित्रसूत्रकार ने शबीह के लिए नौ प्रकार के 'स्थानों' का वर्णन किया है—

हिंदू कला के लक्षण

(१) ऋज्वागत
(२) अनृजु
(३) साचीकृतशरीर
(४) अर्द्धविलोचन
(५) पार्श्वागत
(६) परावृत्त
(७) पृष्ठागत
(८) परिवृत्त
(९) समानत

'चित्रसूत्र' की भाँति 'शिल्परत्न' में भी श्रीकुमार ने नौ ही 'स्थानों' का

र्णन किया है। भारतीय चित्रों मे प्राय 'अर्द्धविलोचन' अथवा 'एक चश्म' तस्वीर ही मिलती है, और इसी आसन म शरार का तीन चोथाई हिस्सा चित्रकार दिखा सकता है। प्राचीन परिपाटी का यह एक नियम था कि व्यक्तियों के शरीर का अधिक से अधिक हिस्सा यथासंभव दिखाना चाहिए। इसी कारण संमुख-चित्र बहुत कम और प्राय: नीरस से मिलते हैं। संमुख चित्रों मे केवल आधा ही शरीर प्रेक्षक देख सकता है। 'डेढ़ चश्म' तस्वीर जिसे अंग्रेजी मे 'थ्री कार्टर्स प्रोफील' कहते हैं, उस का भी काफ़ी प्रचार रहा। परंतु अकबर और जहाँगीर के समय के बाद एक चश्म तस्वीरों का ही ज्यादा रिवाज देखने में आता है। इवान शुकिन ने बहुत अच्छी तरह से सिद्ध किया है कि मुग़ल एवं हिंदू चित्रकला पुराने शिल्प-शास्त्रों के नियमों से ओत-प्रोत है, अर्थात् मुग़ल और हिंदू कला की विभिन्नताएं युग धर्म की विशेष परिस्थिति की ही द्योतक हैं। आदर्शों अथवा उद्देश्यों का भेद नहीं था। केवल मुग़ल बादशाहों का रिझान सांसारिक विलासवस्तुओं, आमोद प्रमोद के साधनों को तरफ़ अधिक था। पर प्रांतीय हिंदू राजाओं का दृष्टिकोण दूसरा था। समकालीन साहित्य से उन के जीवन का घनिष्ट संबंध था। इस कारण हिंदू कला के विषय प्राचीन सभ्यता के रंग में रँगे हुए हैं। पुराने भित्ति-चित्रों का प्रबल असर इन चित्रों में दिखाई पड़ता है। अनोखा रंग-विधान इन की ख़ास विशेषता नहीं। इन का प्रधान गुण तो इन की बहुत ही अनोखी, भाववाही रेखाओं मे है। चित्र का विषय कुछ भी हो, फिर भी इन चित्रों के पात्र चित्रकारों को बचपन से परिचित थे। इसी कारण इन चित्रों में एक तरह की अजीब कोमलता और सुकुमारता पाई जाती है। जैसे ग्राम्य-गीतों में कल्पना की ऊँची उड़ान न होते हुए भी, भाव को शुद्ध सरलता मिलती है, वैसे ही साधारण कोटि के भी हिंदू-चित्रों में एक किस्म की सचाई और सात्विकता नजर आती है। इन चित्रों की ख़ास ख़ूबी इन के अव्यक्त अर्थ में, इन की गहरी भाव-व्यंजना में और इन के व्यंग में है। जिस प्रकार ध्रुपद की रचना एक ही ठाठ पर हुआ करती है उसी तरह एक ही भाव को लेकर हिंदू चित्रों का आलेखन किया जाता है। जब कृष्ण की बाँसुरी बजती है तब जल थल

सभी मुग्ध होकर उस में लीन हो जाते है तमाम सृष्टि का रंगमंच एक ही भाव से आप्लुत रहता है। इन चित्रों का प्रधान रस शृंगार है। शृंगार ही तो वाणी और सौंदर्य का सार है—

सवैया

देव सबै सुखदायक संपति संपति दंपति दंपति जोरी।
दंपति सोई जु प्रेम प्रतीति प्रतीति कि रीति सनेह निचोरी॥
प्रीति महागुन गीत विचार विचार कि बानी सुधारस बोरी।
बानी को सार बखान्यो सिंगार सिंगार को सार किसोर किशोरी॥

और शृंगार में भी 'किसोर किशोरी' की प्रेम-लीलाओं का प्राधान्य है। राधाकृष्ण केवल देव-युगल नहीं, वरन् जन-समाज की गहरी भावनाओं के, प्रेरणाओं के, प्रतिबिंब-रूप आदर्श व्यक्ति हैं। आदर्श प्रेम की चरम परिणति इसी पुराण-कल्पित युगल-मूर्त्ति में कवियों ने एवं चित्रकारों ने पाई है—

सवैया

स्याम सरूप घटा ज्यों अनूपम नीलपटा तन राधे के झूमै।
राधे के अंग के रंग रंग्यो पट बीजुरी ज्यौं घन सो तन भूमै॥
है प्रति मूरति दोऊ दुहू की विधो प्रतिबिंब वही वह दूमै।
एकहि देह दुदेव दुदेहरे देह दुधा यक देव दुहू मै॥

[देवकृत प्रेमचंद्रिका]

हिंदी साहित्य का पूरा जोड़ इस समय की हिंदू कला में मिलता है। बल्कि यह कहने मे जरा भी अतिशयोक्ति न होगी कि इस समय के चित्र चित्रित-साहित्य के अजीब नमूने हैं। ये भी साहित्य के ही अंग हैं। केवल साधन निराले हैं। इन चितेरों को मुग़ल मुसव्वरों की भाँति शबीहों से बहुत अनुराग नहीं था। इन की जो शबीहें मिलती हैं, वह साहश्य-चित्र नहीं हैं, प्रजा के आदर्श व्यक्तियों के एक क़िस्म के ख़ाके हैं। उन में परिचित लक्षणों का सूचन है, व्यक्ति विशेषों का चित्रण नहीं है। पंजाब, राज-

थान एवं अनेक प्रांतीय केंद्रों में बनी हुई इस काल की तस्वीर, बतौर शबीह, मुगल चित्रों की श्रेणि का नहीं है इस चन में तो मुगल चित्रकार हिंदुस्तान की एवं एशिया की तवारीख में अद्वितीय है।

आकार और रचना के दृष्टि-कोण से मुगल और हिंदू कला में कोई भेद नहीं हैं बल्कि इवान शुकिन ने बहुत अच्छी तरह से उदाहरण द्वारा दिखाया है कि मध्यकालीन कल्पसूत्रों में प्राप्त श्री महावीर भगवान के केशलुंचन की तस्वीर पंजाब की कृष्णलीला की तस्वीरों से रेखा-विधान में मिलती है। कहने का तात्पर्य केवल इतना है कि मुगल एवं तत्पश्चाद् हिंदू काल में प्राचीन परंपरा से विभिन्न कोई कारीगरी उत्पन्न नहीं हुई।

रागमाला और ऋतुचित्र

मुगल काल में चित्रकारों ने एक नवीन शैली धारण की। नायक, नायिका के चित्र तो बनते ही थे। भरत नाट्यशास्त्र के जमाने से अलंकार शास्त्रों के ग्रंथ नायक और नायिका के भेदों के विवेचन से भरे हुए हैं। अमरु-शतक जैसे सुंदर काव्य भी नायक-नायिका के दृष्टांत-रूप बने हैं। इस प्रणाली का एक दूसरा रूप रागमाला और बारामासा के चित्रों में दिखाई पड़ता है, क्योंकि रागों का ध्यान किसी प्राचीन संस्कृत ग्रंथ में नहीं मिलता। भरत के नाट्यशास्त्र में स्वरों के वर्ण और उन के अधिदेवताओं का वर्णन है और यह भी बताया गया है कि किस रस में किस स्वर को उपयुक्त करना चाहिए—

वर्ण—श्यामो भवेत्तु शृङ्गारः सितो हास्यः प्रकीर्तितः।
कपोतः करुणश्चैव रक्तो रौद्रः प्रकीर्तितः ॥४२॥
गौरो वीरस्तु विज्ञेयः कृष्णश्चापि भयानकः।
नीलवर्णस्तु बीभत्सः पीतश्चैवाद्भुतः स्मृतः ॥४३॥

अधिदेवता—शृङ्गारो विष्णुदैवत्यो हास्यः प्रमथदैवतः।
रौद्रो रुद्राधिदेवश्च करुणो यमदैवतः ॥४४॥
बीभत्सस्य महाकालः कालदेवो भयानकः।
वीरो महेंद्रदेवः स्यादद्भुतो ब्रह्मदैवतः ॥४५॥

किस रस मे किस स्वर को उपयुक्त करना चाहिए इस के विषय मे लिखा है कि—

हास्यशृङ्गारयोः कार्यौ स्वरौ मध्यमपञ्चमौ ।
षड्जर्षभौ तथा चैव वीररौद्राद्भुतेषु तु ॥२८॥
गांधारश्च निषादश्च कर्तव्यौ करुणे रसे ।
धैवतश्चैव कर्तव्यो बीभत्से सभयानके ॥२९॥

भरतनाट्यशास्त्र, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, अ० १९

इसी तरह का वर्णन शार्ङ्गदेव के प्रसिद्ध ग्रंथ 'संगीतरत्नाकर' में मिलता है ।

श्यामः सितो धूसरश्च रक्तो गौरोऽसितस्तथा ॥
नीलः पीतस्ततः श्वेतो रसवर्णाः क्रमादि मे ॥१३८७॥
विष्णुमन्मथकीनाशरुद्रेन्द्राः कालसंज्ञकः ॥
महाकालः क्रमाद्ब्रह्मा बुद्धश्च रसदेवताः ॥
शृङ्गारे देवतामाहुरपरे मकरध्वजम् ॥१३८८॥

अ० ७

नृत्य और चित्रकला का घनिष्ठ संबंध तो पुराने कलाकोविदों को मालूम ही था। आंतरिक उल्लास, भाव और आवेश को तालबद्ध गति से—पादांगुलि-विन्यास से व्यक्त करना तो नृत्य है। चित्रकला का भी उद्देश्य बहुत भिन्न नहीं था। साधन भेद अवश्य है। नृत्य के मानो स्तंभित क्षणों का आलेख नहीं हिंदू चित्रकला का परमोत्कृष्ट विषय है। शार्ङ्गदेव ने भी एक जगह लिखा है कि—

कलासे वाद्यघातं च कुर्युः साम्येन वादकाः ॥
कलासेषु भवेत्पात्रं लीनं चित्रार्पितं यथा ॥

जिल्द २, पृ० ८०५, श्लो० १२०२

कहते हैं कि वाद्यारंभ होते ही नट को चित्रांकित सा लीन हो जाना चाहिए। यह विचारणीय बात है कि अभी तक रागमाला और बारामासा के चित्र अकबर के काल से प्रथम के प्राप्त नहीं हुए। संभव है कि इसी समय में इन चित्रों का जन्म हुआ हो। यह समय हिंदुस्तान की संस्कृति के लिए बड़े महत्त्व का था। मुग़ल शानोशौकत के साथ भारतीय संस्कृति भी खिल उठी। साहित्य, स्थापत्य और जनसाधारण का जीवन, सभी कुछ पल्लवित हुआ। हिंदी

साहित्य के लिए तो यह स्वर्णयुग था फिर क्या आश्चर्य है जो ऐसे ज़माने में रागमालाओं और बारामासा का कविता और चित्र द्वारा वर्णन हुआ? सब से प्राचीन चित्र अभी मैंने आक्सफोर्ड के प्रसिद्ध पुस्तकालय बॉडलियन लाइब्रेरी में देखे। मुग़ल चित्रकला का सब से प्राचीन मुरक्का (अलबम पुस्तिका) आर्कबिशप लॉड का ई० सन् १६४० का भेंट किया हुआ है। ३०० वर्ष तक इस पुस्तिका के चित्र कलाविदों को प्रायः अपरिचित रहे। बल्कि जब मैं बॉडलियन पुस्तकालय में गया तब क्यूरेटर पॅरी महोदय ने पुस्तिका देते हुए मुझ से कहा कि इस के चित्र कुछ महत्त्व के नहीं। जब मैंने चित्रों के पन्ने फेरे तब तुरंत ही मालूम हुआ कि सब से पुरानी रागमाला के चित्र यहाँ विद्यमान हैं। नीचे लिखे रागों के चित्र इस पुस्तिका में बने हैं—

रागिनी गुनकली, विहाग, मालकोश, मल्हार, कान्हरा, भैरव, आसावरी, धनाश्री, हिंडोल, बरारी, भैरवी, देवकली, बिलावल, वसंत पंचम, श्यामगुर्जरी, नट। ये सभी चित्र मध्यकालीन गुर्जर अथवा जैन चित्रों से मिलते जुलते हैं। फ़ारसी शैली का ज़रा भी असर नहीं। रागों के नाम की फ़ारसी लिपि में लिखी हुई चिटें कोनों पर चिपकी हुई हैं। रागों के ध्यान भी १८ वीं और १९ वीं शताब्दी के रागों के ध्यान से कुछ भिन्न है। मल्हार राग के ध्यानों के चित्र में तत्कालीन जामा पहने, मुकुट लटकाए, ढोलक के ताल पर नाचता हुआ आदमी दिखाया है। हिंडोल राग का ध्यान सर्व-परिचित है। कृष्ण और गोपी झूले में झूल रहे हैं।*

सब से अच्छा चित्र रागिनी गुर्जरी का है।

आर्कबिशप की पुस्तिका ई० स० १६४० से बॉडलियन पुस्तकालय में है, इस से अनुमान किया जा सकता है कि ये चित्र १६ वीं शताब्दी के अंत के

---

*(Ivan Tschoukine) इवान शुकीन ने लॉड पुस्तिका के तीन चित्र रागिनी बिलावल, पंचम और कान्हरा अपनी पुस्तक में (चित्र नं० ७२, ७३) प्रकाशित किया है। किंतु इन चित्रों के महत्त्व की ओर उन का ध्यान आकर्षित नहीं मालूम पड़ता है।

बने होंगे। इस के पहले के चित्र अभी तक उपलब्ध नहीं हुए। डा० आनंद कुमारस्वामी ने कुछ रागमाला के चित्र प्रकाशित किए हैं जिन पर गुजराती कवित्त लिखे हैं। ऐसे ही चित्र भारत-कला-भवन के भंडार में भी हैं। लॉर्ड पुस्तिका के चित्र और डा० आनंद कुमारस्वामी के प्रकाशित किए चित्रों का मध्यकालीन गुर्जर जैन कला के साथ साम्य देख कर मेरा यह अनुमान है कि इन चित्रों की उत्पत्ति गुजरात में—प्राचीन लाट देश में हुई हो। क्योंकि १६ वीं शताब्दी के प्रसिद्ध तिब्बती लेखक तारानाथ ने हिंदुस्तान के प्राचीन पाश्चात्य चित्रकारों की आश्चर्यजनक कृतियों का वर्णन अपने ग्रंथ में किया है। ६ ठीं शताब्दी के प्रख्यात तामिल पद्यग्रंथ 'मणिमेखलई' में भी बर्द्धमानपुरी के प्रसिद्ध शिल्पकारों का उल्लेख पाया जाता है। यह वर्द्धमानपुरी आधुनिक बढ़वाण (काठियावाड़) है। १० वीं शताब्दी के सोमदेव के रस-प्रद ग्रंथ 'कथा-सरित्सागर' में भी गुर्जर शिल्पकारों का कई जगह उल्लेख मिलता है। लाट, मालव और राजस्थान इन तीनों ही प्रदेशों का पुराने समय मे बड़ा ही घनिष्ट संबंध रहा और इन प्रदेशों मे चित्रकला और संगीत का बड़ा ही उत्कर्ष हुआ। 'कथासरित्सागर' के लेखक ने उल्लेख किया है कि उज्जैन के राज-प्रासादों की दीवारों पर पूरे रामचरित के चित्र खींचे गए थे। (१६ वां तरंग, लावणक लंबक) 'संगीत-रत्नाकर' के भी निम्नलिखित श्लोक बहुत महत्त्व के हैं—

नाट्यवेदं ददौ पूर्वं भरताय चतुर्मुखः॥
ततश्च भरतः सार्धं गन्धर्वाप्सरसांगणैः॥
नाट्यनृत्यं तथा नृत्तमग्रे शंभोः प्रयुक्तवान्॥ ४॥
प्रयोगमुद्धतं स्मृत्वा स्वप्रयुक्तं ततो हरः॥
तण्डुना स्वगणाग्रण्या भरतायन्यदीदिशत्॥ ५॥
लास्यमस्याग्रतः प्रीत्या पार्वत्या समदीदिशत्॥
बुद्ध्वाऽथ ताण्डवं तण्डोर्मर्त्येभ्यो मुनयोऽवदन्॥ ६॥
पार्वतीत्यनुशास्ति स्म लास्यं बाणात्मजामुषाम्॥
तथा द्वारवतीगोप्यस्ताभिः सौराष्ट्रयोषितः॥ ७॥

ताभिस्तु शिक्षिता नार्यो ॥
एवं परम्पराप्राप्तमेतल्लोके प्रतिष्ठितम् ॥ ८ ॥
पृष्ठ ६२४

पार्वती ने बाण की कन्या और अनुरुद्ध-पत्नी उषा को लास्य सिखाया ('लास्यं तु सुकुमाराङ्गमकरध्वजवर्धनम्' । श्लो० ३२ ।) उषा से द्वारका की गोपियों ने ये सुंदर नृत्यप्रयोग सीखे और उन्हों ने भारत के नाना प्रदेश की स्त्रियों को सिखाया ।

मुग़ल कला में माँडू के सुलतान बाजबहादुर और उस को प्रियतमा रूपमती नाम्नी वाराङ्गना के चित्र बहुत ही प्रसिद्ध हैं । कहा जाता है कि बाजबहादुर बड़ा ही संगीत-निपुण और ध्रुपद का बड़ा प्रसिद्ध गायक था । और उस के दरबार मे गुजरात के कई कुशल गायक थे । अबुलफ़जल के अकबरनामा मे भी गुजराती गायकों और चित्रकारों के अनेक नाम मिलते हैं और सभी नामों के आगे गुजराती शब्द लिखा है; जैसे, केशव गुजराती, सूर गुजराती, माधो गुजराती, भीम गुजराती । गुजरात की स्वाधीनता के नाश होते ही इस भारतीय कला के केंद्र का भी ह्रास हुआ । उस की विभूतियों का वास मुग़ल दरबार में जाकर हुआ । अधिक अन्वेषण करने से मेरी धारणा है कि काठियावाड़ के कई राज्यों में पुराने रागमाला के चित्र मिलेंगे ।

रागमाला के अधिकतर चित्र प्रायः १८ वीं और १९ वीं शताब्दी के आरंभ के मिलते है । उन के ध्यान का वर्णन अधिकतर हिंदी छंदों में दिया गया है । रामपुर के नवाब साहब के पुस्तकालय में एक रागमाला है, जिस का वर्णन फ़ारसी शेरों में किया हुआ है । कई रागमालाएँ पंजाब से भी प्राप्त हुई हैं, इन में एक विशेष बात यह है कि कई रागों के नाम ऐसे हैं जो आधुनिक संगीत-शास्त्र के लिए बिलकुल ही नए हैं । रागमाला के चित्रों का ख़ास शौक राजस्थान के और बुंदेलखंड के राजाओं को रहा । सहस्रों की संख्या में ये चित्र बनाए गए । साधारणतः रागों के चित्र थोड़े ही होते है । अधिकतर चित्र एक तरह से नायक नायिका भेद के ही चित्र समझना चाहिए । जैसे देव ने अष्टयाम में हर राग के लिए एक एक 'याम' निश्चित किया,

वैसे ही चित्रकारों ने भी छत्तीसों राग रागिनियों के चित्र बनाए किंतु मल्हार राग के चित्र और वर्षा ऋतु के चित्रों में कोई ख़ास अंतर नहीं पाया जाता, क्योंकि राग और ऋतु का भी इस में पहले से ही कार्य-कारण संबंध है। प्रत्येक राग और रागिनी के लिए समय और ऋतु निश्चित है। इसी कारण रागमाला के और ऋतु के चित्रों में स्वाभाविक संबंध चला आता है।

यूरोपीय कला में भी—ख़ास कर फ़्लॉरेंस की १५ वीं शताब्दी, की कला में—ऋतु-चित्र पाए जाते हैं। किंतु इन ऋतु-चित्रों और हमारे ऋतु-चित्रों में बड़ा भारी अंतर है। ऋतु-चित्रों में यूरोपीय चित्रकार ऋतु के विशेष गुणों का आलेखन करता है। शीत-काल के चित्र में अंगीठी के पास तापते हुए लोग दिखलाए गए हैं। हमारे यहाँ ऋतु-चित्रों में कालिदास के 'ऋतु-संहार' का अनुसरण कर के ऋतुओं के उपयुक्त प्रेम-लीलाओं का ही सिर्फ़ आलेखन है। आसावरी, टोड़ी, दीपक, हिंडोल, भैरवी, ककुभ, मधु-माधवी ऐसे पाँच सात रागों को छोड़ कर के बाक़ी रागमाला के चित्रों में कल्पना या रचना की कोई ख़ास विशेषता नहीं पाई जाती। किंतु टोड़ी, आसावरी, ककुभ की तस्वीरों में संगीत, आलेखन और कविता का बड़ा ही सुंदर समन्वय किया हुआ है। संगीत से जिस कल्पना-सृष्टि का निर्माण होता है उसी का आलेखन करने का चित्रकार का यह मौलिक प्रयास है। सुगमता के लिए चित्रों पर चित्र के लक्षण कविता द्वारा भी प्रकट किए जाते हैं। ऋतु-चित्रों में फाल्गुन, श्रावण और भाद्रपद के चित्रों का विधान सुंदर पाया जाता है। किंतु साधारणतः कला-दृष्टि से इन चित्रों में कोई विशेष चमत्कार नहीं दिखलाई पड़ता।

देव के 'राग-रत्नाकर' में हर राग की ६ भार्या बताई गई हैं, जिन में से एक नायिका विरहिणी भी है जैसे भैरव की रागिनी सिंधवी, मालकोश की रागिनी गुणकरी, हिंडोल की रागिनी पट्टमंजरी, दीपक की रागिनी कमोद, श्री की रागिनी धनाश्री और मेघ की रागिनी टंक—ये सभी विरहिणी नायिकाएँ हैं। इन सबों का वर्णन देव के 'राग-रत्नाकर' के सुंदर पद्य में मौजूद है। हिंदी कवियों ने छहों ऋतुओं के उपयुक्त प्रेम-लीला का बहुत ही विस्तार से वर्णन किया है।

द्व ने तो इस से भी आगे बढ़ कर दिन के आठों प्रहरों के उपयुक्त प्रेम-क्रीडाओं का विधान किया है कभी कभी तो रागों की समय-सूची में औचित्य और अनौचित्य का जरा भी ख्याल किया गया नहीं मालूम होता। उदाहरणतः दीपक गाने का समय ग्रीष्म ऋतु में दोपहर में है, और वह भी जलते हुए प्रदीपों के बीच में! 'राग-रत्नाकर' में दीपक का इस तरह से वर्णन है—

दोहा

पुरुष प्रात सूरज बरन, सूरज सूलु सभाग।
ग्रीषम ऋतु मध्याह्न में, दीपत दीपक राग॥

सवैया

सूरज के उदै सूरजराव चढ़्यो गजराज प्रभा परिवेख्यो।
दूसरो सूर ज्यों सूरज जोति किरीट त्यों सूरज भूषन भेख्यो॥
कामिनी संग सुरंग मैं ग्योधनी ग्रीषम घोस मध्यान बिसेख्यो।
दीपनि दीप ज्यों दीपत दीपक राग महीपति दीपक देख्यो॥

इसी विधान के अनुसार तानसेन ने जो दीपक सचमुच ही गाया हो और उस को जलन पैदा हुई हो तो इस में आश्चर्य नहीं। स्मरण इतना रखना चाहिए कि उस जलन की संगीत के चमत्कार के बजाय ऋतु के प्रभाव और दीपों के असर से पैदा होने की अधिक संभावना है।

जैनों ने भी अपने अलग रागमाला के गीत बनाए। जैसे वैष्णव-साहित्य के, संगीत के, और सभ्यता के अधिनायक कृष्णचंद्र और राधिका हैं वैसे ही जैन प्रेम-कथाओं के अधिदेवता नेमिनाथ और उन की सहचरी राजीमती हैं। जैनों ने ऋतु-गीत भी अपने अलग बनाए। और उन में स्थूलीभद्र और उन की कोशा नायिका के प्रेम-गीत गाए। ये स्थूलीभद्र नवम नंद सम्राट् के अमात्य पुत्र थे। हमारे प्राचीन लेखकों की कुछ ऐसी धारणा रही होगी कि यौवन-काल में विलास-मय जीवन बिताने से संत-पद अथवा अर्हत्त्व शीघ्रतर और सुलभ होता है।

इन ऋतु-गीतों की एक विशेषता यह है कि पति वियोग से पत्नी को ही अधिक दुःख अनुभव होता है। हमारे प्रेम-काव्य की अधिदेवी नायिका ही होती है इस का प्रधान कारण संभवतः यही है कि कविताकार स्त्रियाँ नहीं थीं, बरन् पुरुष थे। अथवा चारित्र्य-दोष नायिकाओं की अपेक्षा लेखकों में ज्यादा था। लेखकों ने स्त्री को ही प्रेम-प्रतीक बना कर सदियों तक कविता लिखी। ११वीं १२वीं शताब्दी में ये ऋतु-गीत बंगाल, गुजरात और राजस्थान में प्रचलित थे। किंतु राजस्थान के गीतों में प्रेम का वर्णन नहीं था। उन का संबंध ऋतु-वर्णन से और शूरवीरता के प्रसंगों से था, और भाषा भी जानदार डिंगल थी, जिस के द्वारा चारणों ने अनेक वीरों को प्रोत्साहित किया।

बंगला और गुजराती ऋतु-गीत कृष्ण और राधा को संबोधित कर के ही बने हैं, परंतु हिंदी-साहित्य में राम और सीता को निर्देश कर के कई सुंदर और करुण लोक-गीत बने हुए हैं। उन के कुछ उदाहरण पं० रामनरेश त्रिपाठी की 'कविता-कौमुदी' के ५ वें भाग में दिए गए हैं। बुंदेलखंड में भी राम और सीता को लेकर अनेक सुंदर ऋतु-गीत प्रचलित हैं। हिंदी साहित्य की यह विशेषता संभवतः तुलसी रामायण की आभारी है। रामकथा का सब से अधिक प्रचार तो जनता में तुलसी रामायण ने ही किया।

जैनों के रागगीत और ऋतु-गीत तो बहुत मिलते हैं। किंतु अभी तक जैन शैली के अथवा जैन विषयों के आधारभूत रागमाला और ऋतुगीतों के चित्र उपलब्ध नहीं हुए। जैन श्रेष्ठियों ने ज्यादातर धार्मिक ग्रंथों के ही चित्र बनवाए। चित्रित 'कल्पसूत्र' और 'कालकाचार्य-कथानक' के जोड़ के और कोई जैन ग्रंथ भंडारों में अभी तक प्राप्त नहीं हुए। रागमालाओं के बहुत ही सुंदर चित्र, जो अभी तक प्रकाशित नहीं हैं, और शायद १९ वीं शताब्दी के आरंभ के बने हैं, मैंने ब्रिटिश म्यूज़ियम की पुस्तिका नं० $\frac{\text{OR57b}}{21934}$ में देखे हैं। कुछ चित्रों पर 'अमल शीतलदास', (शीतलदास की कलम से बने); कुछ पर 'अमल गिरिधारी लाल' और कुछ पर 'अमल बहादुर सिंह' लिखा है। इन चित्रों पर कई सुंदर कवित्त लिखे हैं जो नीचे उद्धृत किए जाते हैं—

मणिन जटित तन भूषण विराजमान
वसन विचित्रवर पैन्हें चुनि चारु है।
नाचत नवीन गति भेद जे संगीतन के
सुघर हिय आनन्द अपार है।
गोरी मन भोरी थोरी वैस मुख पान खात
अधर ललाई सोहै आछे हिय हार है।
प्यारे रंग लालजू को संग लै अनंग वस
पंचमी सी बाल करे विपिन बिहार है।
—अमल सीतलदास

नीलमणि ऐसो जाको साँवरो सलौनो गात
सोहत तिलोतमा लौं सुषमा सुहाग री।
मेद मुसकाती मुख सुन्दर लसत अति
भाग भरी गोरी सीस कल गुण आगरी।
नीर औ समीर पानदान वाली आली गन
सेवत विविध भाँति जानी बड़े भाग री।
परम प्रवीन रस लीन है बजावे बीन
प्रीतम नवीन रंग लाल अनुराग री।
—अमल गिरधारी

रतन जटित खंभ, डोरी लाल पाट की है,
पटिका कनक मणि खचित बनाव सौं।
झूलत हिंडौरे हिल मिल नारिन सौं,
कौतुक करत राग रंग रति भाव सौं।
उरुक उरुक झूम, घूम झुकि परै, भूमि,
विवस हिंडौले मिस; रस ही के दाव सौं।
हाहाकरलीन्होंज्यौंहीअंकभरिप्यारीदोऊ,
करैं हँसि रंग लाल प्यारे प्रेम चाव सौं।
—अमल बहादुरसिंह

श्याम घन रंग अंग दामिनी दमक पट,

जरकसी चीरा सरपेच मणि गण को।

कुंडल श्रवन मुक्ताहल चमक चारु

इन्द्रधनु भौंह छवि, पिया है नयन को।

आसन विचित्र पाक शासन से सोभावंत

रंगलाल प्यारे पति, रसिक जनन को।

पावस में राग रस बरसावे बार बार

देसु री मलार से उदार तन मन को।

—अमल सीतलदास

परम प्रवीन पुन, राग रस रंग लीन,

प्रेम मदमाती जागी, चारों जाम जामिनी।

भानु के उदय हूँ लौं, केलि के भवन करै,

कौतुक अनेक भाँति, भाँति वर कामिनी।

नवलकिशोरी एरी, रागिनी गंधारिका लौं,

पहिरे विचित्र चीर सोहती ज्यों दामिनी।

प्यारे रंगलाल जू के, अंक में मयंक मुखी,

मुदित बजावे वीन नाचै ब्रज-भामिनी।

—अमल सीतलदास

सुन्दर सुघर चारु, भूषण वसन धरै,

उज्ज्वल वरन तन, अति सुकुमार है।

कर में कमल फुल, फेरत फिरत मंजु,

मंजुल निकुंज वन, करत विहार है।

चुनि चुनि ल्यावे सहचरी गुणगान करि,

विविध प्रसून को रचत उर हार है।

साँझ समय आली आज प्यारे रंगलाल

जू को निरख्यो श्रीराग तैं, परम उदार है।

—अमल बहादुरसिंह

ऊपर के सब कवित्त किसी एक ही कवि की रचना जान पड़ते हैं उन की शैली एक सी है सब कवित्तो के चौथे चरण मे रंगलाल पद आया है। संभव है यह किसी कवि का नाम हो।

चित्रों पर फ़ारसी लिपि में चित्रकार का नाम सुर्ख़ या सुनहरी स्याही में लिखा है। हाशिया भी बहुत ही सुंदर है। एक १८ वीं शताब्दी के अंत का 'भैरव का राग' का चित्र दूसरी पुस्तिका नं० OR56C में है। उस पर लिखा सवैया नीचे उद्धृत किया जाता है—

फूले जहाँ पुंडरीक इंदीवर ऐसे सरोवर मध्य सुहावे।
सुंदर रूप सिंगार किये यह गावत ताल बजावत भावे॥
प्रेम सों ध्यान धरे शिव को फल से कछु नाइक हाथ लगावे।
या विधि भाव बखानिये भैरों की रागिनि भैरव नाम कहावे॥

इस पुस्तिका में ३५ तस्वीरें हैं, जिन में से एक भी प्रकाशित नहीं है। ब्रिटिश म्यूज़ियम के संग्रहालय में भारत के चित्रों का दुनिया में सर्वश्रेष्ठ संग्रह है। शोक का विषय है कि इन में से अधिकांश से अभी तक कला-कोविद बिलकुल ही अपरिचित हैं।*

---

* हिंदुस्तानी एकेडेमी की ओर से शीघ्र प्रकाशित होने वाली 'भारतीय चित्रकला' शीर्षक पुस्तक से।

शेरशाह सूर की जन्म-तिथि की समस्या

[लेखक—श्रीयुत परमात्माशरण, एम्० ए०]

पठान बादशाह शेरशाह सूर की जन्म-तिथि अभी तक आधुनिक इतिहास-लेखकों को मालूम नहीं है; परंतु इस प्रश्न से शेरशाह के जीवन और और तत्कलीन घटनाओं का बड़ा संबंध है। पहिले पहल जिन यूरोपीय विद्वानों ने भारतीय इतिहास का अध्ययन किया, उन्हों ने शेरशाह के महत्त्व को भली-भाँति अनुभव तो किया; पर उन में से किसी को उस के जीवन और कार्यों को पूरी तरह विवेचना-पूर्वक अध्ययन करने का अवसर न मिला। शेरशाह के इतिहास के संबंध में जो सामग्री उन्हे मिली, उस में उस को जन्म-तिथि का कोई उल्लेख न पा कर उन्हों ने, भी इस का ज़िक्र नहीं किया।

सब से प्रथम प्रो० क़ानूनगो ने शेरशाह के जीवन का पूर्ण-रूप से अध्ययन कर के उस पर एक पुस्तक लिखी। उन को भी कहीं शेरशाह की जन्म-तिथि का पता न लगा। विवश हो कर उन्हें एक कल्पित तिथि मान कर चलना पड़ा। अपनी पुस्तक के पृष्ठ तीन पर प्रो० क़ानूनगो लिखते है—"फरीद हिसार फ़ीरोज़ा नगर में पैदा हुआ था; जिसे उपकारी बादशाह फ़ीरोज़ तुग़लक़ ने बसाया था। (मख़ज़ने-अफ़ग़ाना, पृष्ठ २०४ ब)। उस की जन्म-तिथि किसी लेखक ने नहीं दी है। अब्बास सरवानी (ईलियट, पृ० ३०८) कहता है कि वह सुल्तान बहलोल के जीवन-काल में,

जिस की मृत्यु स० १४८८ ई० में हुई, पैदा हुआ था। सम्भवतः १४८६ ई० में उस का जन्म हुआ हो।"[1]

प्रो० क़ानूनगो ने इसी कल्पित तिथि से शेरशाह की आयु लगाई है, परंतु यह तिथि उस की वास्तविक जन्म-तिथि से कम से कम १२, १४ वर्ष पीछे है। इस का पता हमें अब्बास सरवानी की पुस्तकों को तनिक ध्यान से पढ़ने से साफ़ लग जाता है।

प्रो० क़ानूनगो को एक और भी इतना ही निराधार भ्रम यह हुआ कि फ़रीद (शेरशाह का पुराना नाम) का दादा इब्राहीम ख़ाँ भारतवर्ष में सुल्तान बहलोल लोदी के राज्य-काल के अंतिम दिनों में आया।[2] जान पड़ता है इसी भ्रम के कारण उन्होंने उस की जन्म-तिथि के बारे में इतनी भूल की है। सबसे पहिले प्रो० क़ानूनगो की इसी स्थापना का विवेचन करना आवश्यक है।

सं० १५५१ ई० में सुल्तान बहलोल तख़्त पर बैठा। उसी साल मुल्तान के प्रांताधिकारी शेख़ यूसुफ़ को लंगाह-वंशीय सरदार ने वहाँ से मार कर निकाल दिया था। यूसुफ ने देहली आकर सुल्तान से फ़रियाद की; जिस पर वह सेना लेकर मुल्तान की तरफ़ चला। अभी वह दीपालपुर ही पहुँचा था कि उसे ख़बर मिली कि देहली के कतिपय सरदारों के बुलाने पर जौनपुर का शरक़ी सुल्तान महमूद देहली पर चढ़ आया है। इस लिए बहलोल दीपालपुर से तुरंत वापस लौट पड़ा। देहली के पास आकर उस ने अपने साथियों के परामर्श से अफ़गानिस्तान के स्वजातीय पठानों को (पठान सरदारों को) न्यौता भेजा कि इस कड़े समय में उस की सहायता करें।

बुलावा पाते ही वे लोग अपनी सेना ले कर आए, और उन की सहायता से बहलोल ने महमूद को मार भगाया। तब उन के प्रति कृतज्ञता प्रकाश करने के लिए उस ने उन्हें जागीरें इत्यादि दीं और एक फ़रमान अपने

---

[1] 'शेरशाह', (के० आर० क़ानूनगो रचित)—संस्करण १९२१, पृ० ३

[2] 'शेरशाह', पृ० २

सब सरदारों के नाम घुमा दिया कि जब कभी कोई भी पठान पश्चिम से भारत मे आवे; तो वे सब उस का पूरी तरह सत्कार करें और उसे जागीर इत्यादि दे और किसी प्रकार का कष्ट न होने दें। 'सुल्तान की इस उदारता के समय मे शेरशाह का दादा इब्राहीम खाँ सूर, अपने लड़के हसन खाँ सूर के साथ भारत वर्ष में आया।'[1] इस से यह बात स्पष्ट है कि इब्राहीम सूर सुल्तान बहलोल के राज्य के पूर्वार्द्ध में ही आया था, उत्तरार्द्ध में नहीं। इब्राहीम के भारत मे आने के उल्लेख के बाद अब्बास सरवानी ने जो उस के और उस के परिवार का हाल लिखा है—उस में निम्न घटनाएं विचारणीय हैं।[2]

(१) भारत में आते ही इब्राहीम और उस का बेटा, हसन मुहब्बत खाँ सूर के यहाँ, जो पंजाब में हरियाना इत्यादि परगनों का जागीरदार था, नौकर हो जाते हैं और बजवाड़ा में रहने लगते हैं।

(२) शेरशाह पैदा होता है और नाम फ़रीद रक्खा जाता है।

(३) कुछ समय बाद इब्राहीम मुहब्बत खाँ की नौकरी छोड़ कर हिसार फ़ीरोज़ा के जागीरदार जमाल खाँ सारंगखानी की नौकरी कर लेता है। जमाल खाँ उसे परगना नारनौल जागीर में दे देता है।

(४) उस का बेटा हसन मसनदे-आली उमर खाँ सरवानी (जो खाने-आज़म कहलाता था और सरहिंद, भटनूर, शाहाबाद, पायलपुर इत्यादि सरकारों में जिस की जागीर थी) के यहाँ नौकरी कर लेता है।

(५) उमर खाँ हसन को शाहाबाद मे कई गाँव जागीर में देता है।

(६) इस अवकाश में फ़रीद इतना बड़ा हो जाता है कि एक दिन अपने बाप हसन से यह प्रार्थना करता है कि मुझे मसनदे-आली उमर खाँ के पास ले चलो। मैं उस से नौकरी की याचना करूँगा। उस की छोटी उम्र के कारण वह उसे ले जाने से इनकार कर देता है। तब फ़रीद अपनी माँ से सिफ़ारिश करता है और उस के कहने पर हसन फ़रीद को मसनदे-आली के पास ले

---

[1] ईलियट, ४. पृ०, ३०८।

[2] ईलियट, ४. पृ० ३०८-१०।

जाता है। मसनदे-आली उस से खुश हो कर एक छोटा सा गाँव जागीर मे देता है

(७) इस के कई वर्ष बाद इब्राहीम की मृत्यु हो जाती है। हसन अपने स्वामी उमर खाँ के पास नारनौल जाने के लिए आज्ञा माँगने जाता है। उमर खाँ इस समय सुल्तान बहलोल की सेना के साथ था;—अर्थात् सुल्तान बहलोल अभी तक जीवित था। उमर खाँ हसन के साथ बड़ी दया और उदारता का व्यवहार करता है। उसे छुट्टी ही नहीं देता; किंतु इस बात की आज्ञा देता है कि अपने बाप की जागीर को, जो उस की जागीर से कहीं बड़ी थी, ले ले। और जमाल खाँ को बुला कर सिफ़ारिश करता है कि हसन को और गाँव भी जागीर में दे।

(८) इस के कुछ काल पीछे सुल्तान बहलोल की मृत्यु होती है और उस का बेटा सिकंदर लोदी सुल्तान होता है। (स० १४८९ ई०)। इस समय उस का भाई बारबक, जो जौनपुर का शासक था, बलवा कर देता है। और अंत में सुल्तान सिकंदर को विवश हो स० १४९३ ई० में उसे जौनपुर से निकाल देना पड़ता है। इस के बाद सिकंदर जमाल खाँ को पंजाब से बदल कर जौनपुर का सूबा उस के सुपुर्द करता है। जमाल खाँ हसन सूर को भी अपने साथ ले जाता है और उसे वहाँ सहसराम, टाँडा, हाजीपुर इत्यादि परगनों की जागीर पर नियुक्त करता है (स० १४९३ ई०)।

ऊपर के वर्णन में पहिली बात तो ध्यान देने योग्य यह है कि फ़रीद की पैदायश का ज़िक्र इब्राहीम के आने के बाद ही है। इस घटना और बहलोल की मृत्यु के बीच में इतनी और बातें हो चुकी थीं कि उस समय फ़रीद की आयु केवल दो वर्ष की नहीं हो सकती; जैसा कि प्रो० क़ानूनगो की कल्पना के अनुसार होनी चाहिए। इस के अतिरिक्त यह साफ़ ही लिखा है कि इब्राहीम के मरने के पहिले ही फ़रीद इतना बड़ा हो चुका था कि उस ने अपने पिता से मसनदे-आली के पास जा कर नौकरी करने की प्रार्थना करने को कहा। उस समय फ़रीद की उम्र कम से कम ८ और १२ वर्ष के बीच रही होगी। फिर इस के कई वर्ष बाद इब्राहीम को और फिर कुछ काल पीछे सुल्तान बहलोल

की मृत्यु होती है। (जूलाई १४८९ ई०)। इस से साफ विदित होता है कि फ़रीद की आयु इस समय १२ से १५ वर्ष तक होगी। और लगभग ५ वर्ष बाद जब कि १४९३ ई० के अंत में जमाल खाँ के जौनपुर जाने पर उस के पिता हसन खाँ को सहसराम की जागीर मिली, उस की आयु २० वर्ष से कम नहीं हो सकती।

हमारी इस स्थापना की सिद्ध दो पुस्तकों के आधार पर पूरी तरह हो जाती है; जिन मे शेरशाह की जन्म-तिथि दी हुई है। इन मे से एक तो सर सैयद अहमद खाँ-रचित 'आसार-अस्सनादीद' है जो उर्दू भाषा मे है।[1] और दूसरी का नाम 'नक़शाये-जामे-जम' है; जो फ़ारसी में लिखी हुई एक हस्त-लिखित पुस्तक है।[2] इस पुस्तक और 'आसार-अस्सना-दीद' मे शेरशाह के

---

[1] 'आसार-अस्सना-दीद' तीसरा संस्करण, १९०४. 'नामी प्रेस' कानपुर द्वारा प्रकाशित। पहिले पहल इस पुस्तक को सर सैयद ने सं० १८४६ ई० में लिखा और प्रकाशित किया। फिर इस का दूसरा संशोधित और परिवर्द्धित संस्करण एक ही वर्ष बाद (सं० १८४७ ई० में) छपवाया। फिर १९०४ में मु० मुहम्मद रहमतुल्ला राँद ने पिछले दोनों संस्करणों की सामग्री के आधार पर इसका तीसरा संस्करण संकलित और प्रकाशित किया। इसका मुख्य विषय तो देहली की मुसलमानी वास्तु-कला और भवनों का वर्णन है; परंतु इस में अन्य ऐतिहासिक विषयों पर भी छोटे छोटे अध्याय हैं। जिन मे से देहली के राजाओं की एक सूची अत्युत्तम है। इस सूची में महाभारत महाराज युधिष्ठिर से लगातार महारानी विक्टोरिया तक के नाम, जन्म, राजतिलक एवं मृत्यु इत्यादि की तिथियाँ एक चित्र द्वारा दी हुई हैं। इस सूची के पृ० ३६ पर शेरशाह संबंधी तिथियां दी हुई हैं।

[2] 'नक़शाए-जामे-जम' एक उसी प्रकार की तालिका; जैसी उपर्युक्त पुस्तक में दी हुई है; लेकिन उससे बहुत बड़ी देहली के मुसलमान शासकों की एक सूची है। इस में भी उन के जीवन की मुख्य मुख्य घटनाओं की तिथियाँ और स्थान इत्यादि एक चित्र द्वारा दिए हुए हैं। इसके आरंभ में एक आठ पृष्ठ की प्रस्तावना और अंत में एक और अध्याय दिया है; जिस मे पुस्तक की सामग्री इत्यादि कहाँ से ली गई है,

न्म, मृत्यु इत्यादि की तिथियो मे ठीक एक वर्ष का अतर बराबर चला गया
। इन में से 'आसार' की तिथिया ठोक हैं और 'नकशाए-जामे जम' मे एक
र्ष बढ़ा कर लिखा है। इस से तिथि केवल एक वर्ष की गड़बड़ हो गई है।
परंतु शेरशाह की आयु में कोई अंतर नहीं आया है। शेरशाह की मृत्यु की
तिथि हमें ठीक ठीक ज्ञात है। उस मे से उस की उम्र को घटाने से जो तिथि
आती है। उस के अनुसार 'आसार' की तिथियां ठीक हैं। परंतु अन्य बाद-
शाहों की तिथियों में ऐसी भूल नहीं है। इस से विदित होता है कि शेरशाह
को जन्म-तिथि में भूल से लेखक एक वर्ष अधिक जोड़ गया और फिर उसी के
आधार पर अन्य सब में भी एक वर्ष की भूल करता चला गया।

शेरशाह का जन्म स० ८७२ हि० मास रजब, (दिसम्बर सन् १४७२ ई०) में हुआ था और मृत्यु १२ रबी-उल-अव्वल, ९५२ हि० (२५ मई सन् १५४५ ई०) को। इस के अनुसार उस को आयु ७४ चांद्र वर्ष या कोई ७२ ½ सौर वर्ष होती है।

इस प्रकार फ़रीद जब अपने पिता के साथ सहसराम आया (स० १४९२ ई०) तो उस की आयु पूरो २० वर्ष की हो चुकी थी न कि केवल ७ वर्ष की, जो प्रो० क़ानूनगो को कल्पना के अनुसार होती। इस भूल के कारण प्रो० क़ानूनगो ने एक और भ्रमात्मक निर्णय किया है, वह भी उतनो ही निराधार है और परस्पर विरोध के दोष से भी ख़ाली नहीं।

हसन ख़ाँ के फ़रीद की मा और उन दोनों भाइयों के साथ बुरे बर्ताव करने का बयान अब्बास ने उस के सहसराम की जागीर पर आजाने के बाद किया है। और उस के अगले बयान से पता चलता है कि इन घटनाओं

इत्यादि बातों का बयान है। इस की तिथियाँ इत्यादि लगभग सब ठीक हैं। कहीं कहीं दिनों की संख्या में कुछ भेद है। इस से जान पड़ता है कि लेखक ने पुस्तक के निर्माण में काफ़ी परिश्रम किया है। अंतिम मुग़ल बादशाह बहादुरशाह सानी के समय में (स० १८३९ से १८४७ ई० तक) यह लिखी गई। यह पुस्तक मुझे बनारस के एक पुराने पुस्तकालय से प्राप्त हुई है। मुझे अभी तक ज्ञात नहीं है कि इसकी कोई और प्रति-लिपि भी कहीं पर है या नहीं।

का यही क्रम ठीक भी है—अर्थात् हसन खाँ और फ़रीद का झगड़ा उन के सहसराम आने के बाद हुआ था न कि पहिले। इस घटना का अब्बास सरवानी इस प्रकार बयान करता है—

"हसन फरीद की माता से स्नेह नहीं करता था और उस के साथ बड़ा रूखापन दिखलाता था। हसन और फरीद में प्रायः गरम वाद-विवाद हो जाता था। जब जागीर बाँटने का समय आया तो हसन ने फरीद की माँ को उस की हैसियत के अनुसार काफ़ी जागीर न दी। इस से असंतुष्ट होकर फ़रीद भाग कर जौनपुर चला गया।"[1]

इस उद्धरण से साफ़ विदित हो जाता है कि सहसराम आने के बाद ही फ़रीद से उस के बाप का झगड़ा हुआ था। अब्बास सरवानी कहीं इस बात का संकेत भी नहीं करता कि सहसराम आने के पहिले उन का कोई वैमनस्य हो गया था। हम यह जानते भी है कि नारनौल में हसन का फ़रीद और उस की माता से बड़ा अच्छा व्यवहार था और उस से बड़ा स्नेह रखता और उस का मान करता था क्योंकि जहाँ अब्बास ने बालक फ़रीद के मसनदे-आली के पास जाने वाली कथा बयान की है, वहाँ वह साफ कहता है कि मियाँ हसन फ़रीद और उस की माँ को ख़ुश करने के लिए उसे मसनदे-आली के पास ले गया।[2]

---

[1] 'ईलियट', ४, पृ० २१०-११ में कुछ पाठ-भेद है। उस में लिखा है कि जब जागीर बाँटी गई तो फ़रीद को इतनी जागीर न मिली जिस से उसे संतोष होता। प्रो० क़ानूनगो की लिपि में जो पाठ है, उस का ठीक अनुवाद ऊपर उद्धृत किया गया है; क्योंकि जैसा प्रो० क़ानूनगो ने लिखा है वही पाठ ठीक जान पड़ता है। उस समय घराने के सब व्यक्तियों को जागीरें 'मददे-माश' (आजीविका) के रूप में देने की प्रथा थी। इस लिए फ़रीद की मा को जागीर मिलनी आवश्यक थी कि वह अपना और अपने बेटों का व्यय चला सके। फरीद को उस की कोई आवश्यकता न थी।

[2] ईलियट, ४, पृ० ३०९

प्रो० कानूनगो ने घटनाओं के इस क्रम को बिल्कुल उलटा कर दिया है। उपरोक्त घटना, जिस मे हसन ने फरीद और उस की माँ के साथ इतने स्नेह का प्रदर्शन किया है, उन की निगाह से चूक गई जान पड़ती है। परंतु यदि यह मान भी लिया जावे कि सहसराम आने से पहिले ही बाप-बेटे में वैमनस्य हो चुका था, और जैसा प्रो० क़ानूनगो ने लिखा है, फरीद और निज़ाम दोनों भाई और उन की माँ शिवाजी और उस की माता जीजा बाई की तरह शुरू ही से हसन के उदासीनता और कठोर वर्ताव के भागी हो चुके थे, तो यह संगत नहीं जान पड़ता कि हसन खाँ ७-८ वर्ष के बालक फ़रीद और उस के छोटे भाई से लड़ने लगा होगा। फिर यह भी ठीक नहीं जान पड़ता कि जब फ़रीद उस का ज्येष्ठतम पुत्र ७ ही वर्ष का या उस से भी छोटा था तभी उस की माँ की शारीरिक कांति ऐसी चीण हो गई कि हसन ने उसे त्याग दिया। अतएव उपर्युक्त विवेचना से हम इन परिणामों पर पहुँचते हैं—

(१) प्रो० क़ानूनगो की शेरशाह के जन्म की काल्पनिक-तिथि (१४८६ ई०) सर्वथा भ्रमात्मक और अशुद्ध है। उस को वास्तविक जन्म-तिथि रजब ८७७ हि० अर्थात् दिसम्बर स० १४७२ ई० थी जैसा कि अब्बास के बयान से ही स्पष्ट है और उपरोक्त दो पुस्तकों से प्रमाणित होता है।

(२) प्रो० क़ानूनगो की यह स्थापना कि हसन ख़ाँ फ़रीद और निज़ाम तथा उस की माता से शुरू ही से उदासीनता का वर्ताव करता था और इन दोनों भाइयों का बचपन इसी प्रकार कटा था, सर्वथा निर्मूल है। हाँ, यह संभव जान पड़ता है कि उन में परस्पर वैमनस्य सहसराम आने के कुछ काल पहिले हो, इब्राहीम की मृत्यु के बाद से शुरू हो गया हो; क्योंकि उस समय तक दोनों भाई तरुणावस्था को प्राप्त हो चुके थे।

(३) सहसराम आने के समय फ़रीद केवल सात वर्ष का बालक नहीं; किंतु पूरा २० वर्ष का युवक हो चुका था। इसी प्रकार जिस समय वह १५४० ई० में देहली का बादशाह बना; वह पूरा ६८ वर्ष का प्रौढ़ हो चुका था।

'जुब्दतुत्तवारीख़' के लेखक नूरुल्हक़[1] ने लिखा है कि शेरशाह ने एक बार आईने में अपना चेहरा देख कर बड़े दुःख से कहा कि 'अफ़सोस है कि मेरे बूढ़े हो जाने पर मुझे बादशाहत प्राप्त हुई है, जब कि सायंकाल की प्रार्थना का समय निकट आ गया है। यदि ऐसा न होता तो मैं संसार को दिखला देता कि मैं क्या कर सकता हूँ ?' शेरशाह का यह कथन तब ही संगत जान पड़ेगा, जब उस की इतनी अवस्था हो गई हो। उस समय जब कि शारीरिक शक्ति और स्वास्थ्य आज कल से कहीं उत्तम और आयु भी आज कल से बहुत अधिक होती थी, शेरशाह जैसे वीर योद्धा—आत्म-विश्वासी, राज्याकांक्षी, की कौन कहे, कोई साधारण वीर भी इस प्रकार की हतोत्साह-पूर्ण बातें न कहता।

ऊपर की स्थापनाओं के सिद्ध हो जाने से यह आवश्यक हो जाता है कि फ़रीद के जौनपुर पहिली बार भाग जाने का समय फिर से निर्णय किया जावे एवं उस के बादशाह बनने के पहिले की सभी घटनाओं पर पुनर्विचार किया जावे।

उस के पहिली बार जौनपुर भाग जाने का समय प्रो० कानूनगो को सन् १५०१ ई० के लगभग इस लिए मानना पड़ा है कि उन की कल्पना के अनुसार इस समय फ़रीद की आयु केवल १५ वर्ष की होनी चाहिए और इस से छोटी अवस्था में उस का पिता से लड़ना और भागना संभव नहीं जान पड़ता है। परंतु उस के भागने का जो कारण अब्बास ने दिया है उस से यही जान पड़ेगा कि वह सहसराम आने के एक ही दो वर्ष के भीतर वहाँ से भाग निकला। उस के असंतोष का कारण था हसन का उस की माँ को पर्याप्त जागीर न देना, जैसा हम ऊपर देख आए हैं। उस समय की रीति थी कि जागीरदार अपने घराने के सब लोगों को छोटी छोटी जागीरें अलग दे दिया करते थे। इस लिए यह ठीक नहीं जान पड़ता कि हसन ने सहसराम आने के ८ वर्ष बाद तक जागीरें न बाँटी हों। इस देरी का कोई कारण नहीं था। इस

[1] इलियट, ६, पृ० १८९

लिए यह मानना पड़ेगा कि जागीर बाँटने का मामला उन के सहसराम आने के एक ही वर्ष के भीतर भीतर अर्थात् स० १४९४ ई० मे हो गया होगा, जिस के कारण फ़रीद असंतुष्ट हो कर जौनपुर चला गया। इस को मानने में अब वह कठिनाई भी नहीं पड़ती है, जिस के कारण प्रो० क़ानूनगो को इस घटना का समय १० वर्ष पीछे हटाना पड़ा; क्योंकि फ़रीद की आयु काफी हो चुकी थी।

शेरशाह के प्रारंभिक जीवन-संबंधी उपयुक्त-तिथियों के पूरी तरह निर्णय हो जाने से हमें उस के भावी-जीवन और घटनाओं की भी कई तिथियों के ठीक निर्णय करने में सहायता मिलती है, जिन के विषय में भी प्रो० क़ानूनगो की कल्पनाएँ वैसी ही भ्रमात्मक हैं।

इन में सब से महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि फ़रीद कितने दिन तक जौनपूर ठहरा। इस विषय में अब्बास कहता है कि जब मियाँ हसन को मालूम हुआ कि फ़रीद जौनपूर चला गया है तो उस ने जमाल ख़ाँ से प्रार्थना की कि 'या तो आप उसे वापस लौटा दें और यदि वह आने से इनकार कर दे तो उसे अपनी रक्षा में रख लें क्योंकि मैं (हसन) उसे धार्मिक तथा दरबारी शिष्टाचार की शिक्षा देना चाहता हूँ।' जमाल ख़ाँ ने फ़रीद से लौट जाने को कहा परंतु फ़रीद ने वापस जाने से इनकार किया और कहा कि यदि मेरा पिता मुझे शिक्षा देना चाहता है तो इस कार्य के लिए सहसराम की अपेक्षा जौनपूर बहुत उपयुक्त स्थान है, मै यहीं रह कर विद्योपार्जन करूँगा। जमाल ख़ाँ इस पर चुप हो गया और फ़रीद अरबी पुस्तकों तथा व्याकरण आदि के पढ़ने मे दत्तचित्त हुआ। उस ने सिकंदरनामा, गुलिस्ताँ, बोस्ताँ इत्यादि फ़ारसी के विख्यात ग्रंथों का और अन्य दार्शनिकों के ग्रंथों का भी अध्ययन किया। इस के अतिरिक्त उस ने सांसारिक अनुभव और सामाजिक व राजनीतिक मामलों के समझने, तत्कालीन सामाजिक व राजनैतिक अवस्था को ध्यानपूर्वक देखने और तत्संबंधी समस्याओं पर विचार करने में इतनी चतुरता और बुद्धिमत्ता का परिचय दिया कि जौनपूर में जितने उस के रिश्तेदार और परिवार के लोग थे उन सब पर उस की बड़ी धाक बैठ गई।

जब अब्बास सरवानी के लेखानुसार "कुछ वर्ष बाद" हसन जमाल ख़ाँ के दरबार में जौनपूर आया तो सूर-वंशीय बड़े बड़े लोगों ने उसे बहुत धिक्कारा और कहा कि तुमने एक ऐसे होनहार लड़के को, जैसा फ़रीद है, केवल एक गुलाम लौंडो के कारण घर से निकाल कर बहुत बुरा किया है। इस पर हसन फ़रीद से बड़ा प्रसन्न हो गया और तुरंत सहसराम की जागीर का प्रबंध उसे सौंप दिया। अब देखना यह है कि अब्बास तो कहता है (जैसा कि वह सदा ऐसे अवसरों पर करता चला आया है) कि हसन "कुछ वर्ष बाद" जौनपूर आया, और निज़ामुद्दीन, फ़रिश्ता व मख़ज़ने-अफ़गाना में लिखा है, "दो या तीन वर्ष बाद जब हसन जौनपूर आया.........इत्यादि।" इन के इस कथन को (अर्थात् दो या तीन वर्ष को) प्रो० क़ानूनगो ने अशुद्ध माना है। उक्त प्रोफ़ेसर साहब का मत है कि यह बुद्धि और संभाव्यता के प्रतिकूल है। उन्हें यह संभव नहीं जान पड़ता कि इतने थोड़े से अवकाश में १५ वर्ष का बालक फ़रीद (क्योंकि उन की कल्पना के अनुसार तो फ़रीद की आयु जौनपूर आने के समय १५ वर्ष ही थी) किस प्रकार इतना विस्तृत विद्योपार्जन तथा सांसारिक वा राजनैतिक मामलों का अनुभव कर लेता। इस के प्रतिकूल उन की राय में इतनी योग्यता प्राप्त करने के लिए कम से कम १० वर्ष का अवकाश चाहिए था अतएव वे निज़ामुद्दीन इत्यादि सब लेखकों का "दो या तीन वर्ष" वाला कथन अशुद्ध मान कर अब्बास के "कुछ वर्ष" का अवकाश १० वर्ष निर्णय करते हैं।

इतनी बड़ी अवधि उन को स्वयं उन के ही कथनानुसार इस लिए माननी पड़ती है कि उस समय फ़रीद की आयु बहुत कम थी। परंतु जब हमें यह पता चल जाता है कि फ़रीद १५ वर्ष के बजाय २१ वर्ष का था जब वह जौनपूर आया, तब इतना लंबा अवकाश मानने की आवश्यकता नहीं रह जाती। दूसरे प्रो० क़ानूनगो ने यह अनुमान कर लिया जान पड़ता है कि फ़रीद जौनपूर आने के समय बहुत ही कम पढ़ा लिखा था और उसने सारा ज्ञान वहीं प्राप्त किया। परंतु मूल लेख में कहीं ऐसा निर्देश नहीं है जिस से हम ऐसा अनुमान कर सकें। उस में स्पष्ट लिखा है कि उस का पिता उसे धार्मिक

तथा दरबारी शिष्टाचार की शिक्षा देना चाहता था। दूसरे यह कि फ़रीद ने अरबी भाषा व व्याकरण पढ़ना शुरू किया और फ़ारसी के मुख्य मुख्य ग्रंथ तथा दर्शन ग्रंथ पढ़ डाले। इस से स्पष्ट है कि फ़रीद को जौनपुर आने के समय ही फ़ारसी इत्यादि का बहुत अच्छा ज्ञान था वह केवल धर्म-पुस्तकों तथा अरबी भाषा को काफ़ी नहीं जानता था। इन का अध्ययन उस ने वहाँ पर कर डाला। और यह किसी प्रकार असंभाव्य नहीं जान पड़ता कि एक ऐसे बुद्धिमान, चतुर और मेधावी युवक ने, जैसा फ़रीद था, तीन वर्ष के समय में धार्मिक व दर्शन ग्रंथों का अध्ययन कर डाला हो और अपनी स्वाभाविक तीव्रता, विवेक तथा रुचि के कारण राजनैतिक मामलों को भी खूब अनुभूत कर लिया हो। ऐसी अवस्था में निज़ामुद्दीन, फ़रिश्ता व मख़ज़ने-अफ़ग़ाना के कथन अर्थात् "जब हसन दो तीन वर्ष बाद जौनपूर आया" को अशुद्ध कह देना बड़ा अनुचित जान पड़ता है, जब तक कि हमारे पास कोई वास्तविक प्रमाण इस के विरुद्ध न हो जिस से इस कथन की अशुद्धता स्पष्ट विदित होती हो। उन के इस कथन पर कुछ संशय हम उस अवस्था में भी कर सकते है जब कि हमें यह ज्ञात हो कि ये लेखक प्रायः इसी प्रकार की अशुद्धियाँ किया करते हैं। परंतु हमें उन के विरुद्ध कोई ऐसा भी प्रमाण मालूम नहीं है। अतएव न तो यह (दो या तीन वर्ष का) अवकाश कुछ असंभाव्य ही है, और तीन लेखकों ने इस का स्पष्ट उल्लेख किया है। दूसरे अब्बास के "कुछ वर्ष" का अर्थ दो या तीन या चार वर्ष अधिक न्याययुक्त जान पड़ता है, न कि १० वर्ष। ऐसी अवस्था में प्रो० क़ानूनगो की १० वर्ष वाली कल्पना सर्वथा अप्रामाणिक और निराधार ही माननी पड़ेगी। इस स्थापना के अनुसार फ़रीद जौनपूर में कोई तीन या अधिकाधिक चार वर्ष रहा होगा और १४९७ के लगभग (१५११ ई० में नहीं जैसा कि प्रो० क़ानूनगो ने माना है) वह अपने पिता की जागीर का शासक बन कर, कोई २५ वर्ष की आयु में वापस सहसराम लौटा। उस की आयु प्रो० क़ानूनगो की कल्पना के अनुसार भी उस के सहसराम लौटते समय, अर्थात् १५११ ई० में २५ वर्ष के लगभग आती है क्योंकि उन्हों ने उसे वास्तविक से १४ वर्ष कम कल्पना कर लिया है।

हिंदुस्तानी एकेडेमी द्वारा प्रकाशित ग्रंथ

(१) मध्यकालीन भारत की सामाजिक अवस्था—लेखक, मिस्टर अब्दुल्लाह यूसुफ़ अली, एम्० ए०, एल्-एल्० एम्० । मूल्य १।)

(२) मध्यकालीन भारतीय संस्कृति—लेखक, राय बहादुर महामहोपाध्याय पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा । सचित्र । मूल्य ३)

(३) कवि-रहस्य—लेखक, डा० गंगानाथ झा । मूल्य १।)

(४) अरब और भारत के संबंध—लेखक, मौलाना सैयद सुलैमान साहब नदवी । अनुवादक, बाबू रामचंद्र वर्मा । मूल्य ४)

(५) हिंदुस्तान की पुरानी सभ्यता—लेखक, डाक्टर बेनीप्रसाद, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, डी० एस्-सी० । मूल्य ६)

(६) जन्तु-जगत—लेखक, बाबू ब्रजेश बहादुर, बी० ए०, एल्-एल्० बी० । सचित्र । मूल्य ६॥)

(७) गोस्वामी तुलसीदास—लेखक, रायसाहब बाबू श्यामसुन्दरदास और श्रीयुत पीतांबरदत्त बड़थ्वाल । सचित्र । मूल्य ३)

(८) सतसई-सप्तक—संग्रहकर्ता, रायसाहब बाबू श्यामसुन्दरदास । मूल्य ६)

(९) चर्म बनाने के सिद्धांत—लेखक, बाबू देवीदत्त अरोरा, बी० एस-सी० मूल्य ३)

(१०) हिंदी सर्वे कमेटी की रिपोर्ट—संपादक, रायबहादुर लाला सीताराम, बी० ए० । मूल्य १॥)

(११) सौर परिवार—लेखक, डाक्टर गोरखप्रसाद, डी० एस्-सी०, एफ्० आर० ए० एस्० । सचित्र । मूल्य १२)

(१२) अयोध्या का इतिहास—लेखक रायबहादुर लाला सीताराम, बी० ए० । सचित्र । मूल्य ३)

(१३) घाघ और भड्डरी—संपादक, पंडित रामनरेश त्रिपाठी । मूल्य ३)

(१४) वेलि क्रिसन रुकमणी री—संपादक, ठाकुर रामसिंह, एम्० ए० और सूर्यकरण पारीक, एम्० ए० । मूल्य ६)

(१५) चंद्रगुप्त विक्रमादित्य—लेखक, श्रीयुत गंगाप्रसाद गुप्त, एम्० ए० । सचित्र । मूल्य ३)

(१६) भोजराज—लेखक, श्रीयुत विश्वेश्वरनाथ रेउ । मूल्य ३॥) सजिल्द ३) बिना जिल्द ।

(१७) हिंदी उर्दू या हिंदुस्तानी—लेखक, श्रीयुत पंडित पद्मसिंह शर्मा । मूल्य सजिल्द १॥), बिना जिल्द १)

(१८) नातन—लेसिंग के जर्मन नाटक का अनुवाद । अनुवादक—मिर्ज़ा अबुलफ़ज़्ल । मूल्य १।)

हिंदुस्तानी

तिमाही पत्रिका

की पहिले दो वर्ष की कुछ फ़ाइलें अभी प्राप्त हो सकती हैं । मूल्य पहिले वर्ष का ८) तथा दूसरे वर्ष का ५) ।

प्रकाशक

हिंदुस्तानी एकेडेमी

संयुक्तप्रांत, इलाहाबाद

सोल एजेंट

इंडियन प्रेस लिमिटेड, इलाहाबाद

// हिंदुस्तानी

हिंदुस्तानी एकेडेमी की तिमाही पत्रिका

भाग ३ } जूलाई, १९३३ { अंक ३

कबीर साहब की पदावली

[लेखक—श्रीयुत परशुराम चतुर्वेदी, एम्० ए०, एल-एल्० बी०]

कबीर साहब के पद, उन की रचनाओं में, कदाचित् सब से अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। इन में उन के गूढ़ से गूढ़ सिद्धांतों का विशद विवेचन है और ये, अपने भावगांभीर्य एवं रहस्यमयता के कारण, उन के 'निर्गुणगान' के नाम से भी प्रचलित हैं, तथा अधिकतर इन पदों में ही हमें उन की वे रचनायें भी मिलती हैं जिन्हे, विचित्र वर्णन-शैली के कारण, उल्टबाँसी कहा जाता है। कबीर साहब के पद बहुत से संग्रह-ग्रंथों में केवल 'शब्द' नाम से भी संगृहीत हैं और संतमत के प्रायः सभी अनुयायियों के पद आजकल इसी नाम से प्रकाशित पाए जाते हैं। परंतु 'पद' और 'शब्द' ये दोनों, वास्तव में, समानार्थवाची नहीं हैं। कबीर साहब के ही पदों के सब से प्राचीन और प्रामाणिक समझे जाने वाले संग्रह की प्रतिलिपि 'कबीर-ग्रंथावली' के देखने से पता चलता है कि ऐसे पदों के लिए पहले केवल 'पद' एवं 'गीत' शब्द ही व्यवहृत होते थे और 'शब्द' शब्द का प्रयोग उस समय अधिकतर 'वचन' और 'उपदेश' के अर्थ में होता था। जैसे—

पद गाएँ मन हरषिया, साषी कह्यां अनंद।
सो तत नांव न जांणियां, गल मैं पड़िया फंध[1] ॥ ३७२, साखी।

तथा

तुम्ह जिनि जानौं गीत है, यहु निज ब्रह्म विचार।
केवल कहि समझाइया, आतम साधन सार रे[2] ॥ इत्यादि। ५, पद।

में क्रमशः 'पद' एवं 'गीत' शब्द ही पाए जाते हैं। और

अणी सुहेली सेल की, पड़तां लेइ उसास।
चोट सहारै सबद की तास गुरू मै दास[3] ॥ ६०६, साखी।

तथा

रे तैं जोग जुगति जान्यां नहीं,
तैं गुर का सबद मान्यां नहीं[4] ॥ इत्यादि। २९, पद।

में 'शब्द' के लिए जो 'सबद' शब्द प्रयुक्त है वह क्रमशः 'वचन' और 'उपदेश' के लिए ही आया है।

इन प्रयोगों पर अधिक विचार करने से यह भी विदित होता है कि 'पद' शब्द का प्रयोग पहले ऐसी रचनाओं के गेय होने के कारण होता था और इसी संबंध से ये उस समय गीत भी कहलाती थीं। कबीर साहब के पूर्ववर्त्ती अथवा समसामयिक कवियों में से संस्कृत कवि जयदेव के प्रसिद्ध गीतों को बहुधा पद भी कहा करते हैं और बँगला कवि चंडिदास तथा मैथिली कवि विद्यापति की रचनाओं के संग्रह 'पदावली' कर के ही विख्यात हैं तथा हिंदी कवि गोरखनाथ, नामदेव अथवा रैदास की भी इस प्रकार की रचनाएँ 'गोरख-

---

[1] 'कबीर-ग्रंथावली' (काशी नागरी-प्रचारिणी सभा), पृ० ३८।
[2] वही, पृष्ठ ८९।
[3] वही, पृ० ६२।
[4] वही, पृ० ९७।

नाथ के पद[1]', 'नामदेव के पद[2]', 'रागसोरठ के पद[2]' एवं रैदास के पद[3] के रूप में ही पाई गई हैं। इन पुराने संग्रहों में रचनाओं का संगीत शास्त्रानुसार भिन्न भिन्न रागों के अंतर्गत क्रमबद्ध पाया जाना भी इसी बात को सूचित करता है। परंतु कबीर साहब के पदों के पिछले संग्रह जैसे 'बीजक' अथवा 'आदि ग्रंथ' में पदों के लिए कहीं कहीं 'शब्द' शब्द के भी प्रयोग मिलते हैं। जैसे—

साखी सब्दहिं गावत भूले आतम खबरि न जाना[4] ॥इत्यादि। ४, शब्द।

तथा

साखी सबद सुरति नहीं उपजै खिंच तेज सब लीना[5] ॥इत्यादि। ५७, पद।

मे क्रमशः 'सब्द' तथा 'सबद' शब्द पाए जाते हैं जिस से यह भी अनुमान किया जा सकता है कि पदों को, अधिकतर उपदेशमय होने के कारण, शब्द कहना भी प्रायः उसी समय से आरंभ हो गया था। तत्पश्चात् सूरदास, हितहरिवंश आदि भक्त-कवियों के पदों को केवल उन की संगीत-प्रधानता के कारण पद तथा नानक, दादू आदि संतकवियों के लगभग वैसे ही पदों को, उन के उपदेश-प्रधान भी होने के कारण, 'शब्द' कहने की परंपरा चल पड़ी और अंत में कबीर साहब के प्राचीन पदों को भी इसी प्रथानुसार आज कल 'शब्दावली' के ही रूप में प्रकाशित होना पड़ता है। ये शब्दावली नाम के संग्रह विशेष कर उपदेश-प्रिय सांप्रदायिक लोगों द्वारा ही प्रकाशित भी हुए हैं।

---

[1] 'हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण' (काशी नागरी प्रचारिणी सभा), पहला भाग, पृ० २९।

[2] वही, पृ० ७९।

[3] वही, पृ० १४८।

[4] 'बीजक' (बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग), पृ० ३३।

[5] 'कबीर-ग्रंथावली' (का० ना० प्र० सभा) के परिशिष्ट प्रकरण, पृ० २८१ में उद्धृत।

कबीर साहब के पदों के संग्रह मुद्रित और हस्तलिखित इन दोनों रूपों में पाए जाते हैं मुद्रित संग्रहों में से 'कबीर ग्रंथावली' का उल्लेख ऊपर हो चुका है। यह संग्रह संवत् १५६१ और संवत १८८१ की दो प्राचीन एवं प्रामाणिक हस्तलिखित प्रतियों के पाठों का मिलान कर के 'काशी नागरी-प्रचारिणी सभा' द्वारा प्रकाशित किया गया है। इस के मूल अंश में कुल ४०३ पद संगृहीत हैं और टिप्पणी में नीचे ४ और पद भी दिए है जिन का केवल संवत् १८८१ वाली हस्तलिखित प्रति में ही पाया जाना बतलाया जाता है। 'कबीर-ग्रंथावली' में ही परिशिष्ट अंश के अंतर्गत २२२ ऐसे पद भी संगृहीत हैं जो सिक्खों के 'गुरु ग्रंथ साहब' में तो आते हैं परंतु उपरोक्त दोनों प्रतियों में से किसी में नहीं आते। इन २२२ पदों के सिवाय 'गुरु ग्रंथ साहब' में कबीर साहब के ५ और पद आए हैं जो 'कबीर-ग्रंथावली' के मूल अंश में भी आ चुके है और जिन्हें ले कर 'गुरु ग्रंथ साहब' में संगृहीत पदों की संख्या कुल २२७ हो जाती है। इन दो संग्रहों के अतिरिक्त कबीर साहब के पदों का एक वह प्रसिद्ध संग्रह भी है जिसे 'बीजक' कहते हैं। इस ग्रंथ के भी कई संस्करण हो चुके है जिन में से प्रत्येक में पदों की संख्या एक ही नहीं पाई जाती। प्रसिद्ध महाराजा विश्वनाथसिंह रीवाँ-नरेश द्वारा संपादित सब से पुराने अर्थात् सन् १८६८ ई० वाले मुद्रित संस्करण में कदाचित् एक भी पद प्रकाशित नहीं था, परंतु उसी ग्रंथ के 'नवलकिशोर प्रेस' वाले संस्करण में ११२ 'शब्द' भी आ गए और यह संख्या रेवरेंड प्रेमचंद तथा साधु हनुमानदास द्वारा संपादित संस्करणों में भी स्वीकृत रही। इस के विपरीत साधु पूरनदास, रेवरेंड अहमदशाह, 'बेलवेडियर प्रेस' अथवा साधु विचारदास वाले संस्करणों में यह संख्या ११५ तक दीख पड़ती है। 'बेलवेडियर प्रेस', प्रयाग द्वारा प्रकाशित 'कबीर साहब की शब्दावली' नामक संग्रह, चार भागों में प्रकाशित है जिन में कुल मिला कर ६१२ शब्द आए हैं। इसी प्रकार पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय द्वारा संपादित 'कबीरवचनावली' में २२८ पद आए हैं और डाक्टर रवींद्रनाथ ठाकुर ने अपने 'शांतिनिकेतन' से प्रकाशित क्षितिमोहन सेन के बँगला संस्करण, 'कबीर' से एक सौ पद चुन कर उन का

'वन हंड्रेड पोयम्स आफ़ कबीर' नामक अंग्रेज़ी अनुवाद प्रकाशित किया है। इन तथा अन्य ऐसे ही छोटे मोटे मुद्रित संग्रहों के अतिरिक्त कबीर साहब के पदों के अनेक संग्रह हस्तलिखित प्रतियों के रूप में भी पाए जाते हैं। ऐसे संग्रहों में से 'काशी नागरी-प्रचारिणी सभा' द्वारा प्रकाशित 'हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण' नामक ग्रंथ के पहले भाग में[1] 'मंगल शब्द', 'शब्द अलाधुक', 'शब्द राग गौरी और भैरव', 'शब्द काफी और फगुआ', 'शब्द वंशावली', 'शब्दावली', 'कबीर जी का पद' तथा 'राग सोरठ के पद' का उल्लेख है और 'हिंदी नवरत्न'[2] में मिश्रबंधुओं ने उपरोक्त ग्रंथों के सिवा 'बसंत', 'होली' तथा 'शब्द पारखा' के भी नाम दिए हैं। इन में से कबीर पंथ के सांप्रदायिक 'खास ग्रंथ' में गिनी जाने वाली 'शब्दावली' में शब्दों की संख्या एक हजार कही जाती है[3]।

कबीर साहब के पदों के इन उपरोक्त संग्रहों में से, हस्त लिखित प्रतियों को छोड़ कर, यदि केवल मुद्रित संस्करणों के ही पद आपस में मिलान कर के देखे जायँ तो भी यह शीघ्र बतला देना कठिन है कि वास्तव में कुल कितने ऐसे पद हैं जिन्हें हम कबीरकृत समझा करते हैं। 'कबीर-ग्रंथावली' में आए हुए उपरोक्त ४०७ पदों में से केवल ५ ऐसे हैं जो 'गुरु ग्रंथ साहब' में, २० 'शब्दावली' (चारों भाग) में तथा ३३ 'बीजक' में पाए जाते हैं और डा० रवींद्रनाथ ठाकुर के 'वन हंड्रेड पोयम्स आफ़ कबीर' में इन में से केवल दो का पता चलता है। 'बीजक' के कुल ११५ पदों में से 'कबीर-ग्रंथावली' में आए हुए उक्त ३३ की ही भाँति 'शब्दावली' (चारों भाग) में केवल १७ तथा रवि बाबू के उक्त 'पोयम्स' और सिक्खों के उक्त 'गुरु ग्रंथ साहब' में से प्रत्येक में केवल ३ पद ही दीख पड़ते हैं। इसी प्रकार 'शब्दावली' (चारों भाग) के

---

[1] 'हस्त-लिखित हिंदी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण' (का० ना० प्र० सभा), पहला भाग, पृ० १९।

[2] 'हिंदी-नवरत्न' (गंगापुस्तकमाला कार्यालय, लखनऊ), पृ० ४५२।

[3] 'संप्रदाय'—ले० प्रो० वी० वी० राय (मिशन प्रेस, लुधियाना), पृ० ६४।

लगभग ८७-८८ पदों का हम रवि बाबू की 'पोयम्स' में पूर्णरूप से अथवा अंशतः अनुवादित पाते हैं। रवि बाबू की ये १०० 'पोयम्स' वास्तव में, उपरोक्त बँगला संस्करण के अधिकतर अनुवाद मात्र पर ही आश्रित होने के कारण, बहुत कुछ विकृत रूप में दिखलाई पड़ती हैं और कहीं कहीं तो मूल पदों के वास्तविक भाव का पता तक नहीं चलता। तो भी इन में से प्रायः ९२ में हमें उपरोक्त संग्रहों के पदों का आंशिक अथवा विकृत रूप प्रतिबिंबित हो ही जाता है। इस प्रकार की तुलना करने पर हम यह भी देखते हैं कि 'कबीर-ग्रंथावली' के केवल दो पद अर्थात् पद संख्या १६५ व २२६ ही ऐसे हैं जो 'बीजक', 'शब्दावली (चारों भाग)' तथा 'वन हंड्रेड पोयम्स आफ़ कबीर' नामक उपरोक्त तीन अन्य संग्रहों में भी आते हैं और केवल ६ पद अर्थात् पद सं० १३, ४०, ८९, १६५, २०५ व २२६ ऐसे हैं जो 'बीजक' व 'शब्दावली' (चारों भाग) में ही आते हैं। इन ६ पदों में से कोई भी 'गुरु ग्रंथ साहब' में नहीं आता। परंतु इस मिलान द्वारा भी यह नहीं कहा जा सकता कि इन उपरोक्त छः पदों के भी पाठ प्रत्येक संग्रह में ठीक एक ही प्रकार के हैं। इसके सिवा, केवल प्राप्त सामग्रियों के ही आधार पर यह भी निर्धारित करना बहुत कठिन है कि उपरोक्त संग्रहों में आए हुए कौन कौन से पद वास्तव में कबीर-कृत हैं तथा कबीर-कृत माने गए पदों में से भी किन किन को हम उन के मूल रूप में ही देखते हैं। इस के लिए अनेक प्राचीन प्रामाणिक हस्तलिखित प्रतियों के पाठों का आपस में तथा वर्तमान संग्रहों के पाठों से तुलना करते हुए, सावधानी के साथ, पूरा मिलान करना अपेक्षित है, जो संतोषपूर्वक कदाचित् अभी तक नहीं किया जा सका है। भाषा तथा कतिपय अन्य आवश्यक बातों को ध्यान में रखते हुए 'कबीर-ग्रंथावली' के पद कुछ अधिक प्रामाणिक अवश्य जँचते हैं किंतु इस के अंतर्गत न पाए जाने वाले कुल संगृहीत पदों को एकदम कबीर-कृत न मानना भी साहस का काम है।

इन उपरोक्त संग्रहों में से 'कबीर-ग्रंथावली', 'बीजक' अथवा 'गुरु ग्रंथ साहब' में आए हुए पदों का कोई विषय-संबंधी शीर्षक नहीं दिया गया है बल्कि भिन्न भिन्न विषयों के पद जहाँ के तहाँ रख दिए गए हैं। 'कबीर-ग्रंथा-

वली' और 'गुरु ग्रंथ साहब' में पदों का वर्गीकरण उन के रागों के अनुसार है किंतु 'बीजक' में यह भी नहीं किया गया जान पड़ता। 'कबीर-ग्रंथावली' के पद केवल १६ रागों के अंतर्गत विभक्त हैं और 'गुरु ग्रंथ साहब' में आए हुए रागों की भी संख्या १६ ही होती है। परंतु दोनों में आए हुए कुल राग ठीक एक ही नहीं हैं और न एक में आए हुए अमुक रागवाले पद दूसरे में उसी के अतर्गत मिल सकते हैं। किंतु इन दोनों संग्रहों में राग गौड़ी की प्रधानता प्रायः एक ही प्रकार की है। 'कबीर-ग्रंथावली' मे दिए गए रागों के अंतर्गत आए हुए भिन्न भिन्न पदों पर ध्यान-पूर्वक विचार करने पर यह भी विदित होता है कि यद्यपि इन के विषय-संबंधी कोई भी शीर्षक नहीं तो भी इसी संग्रह-ग्रंथ में संगृहीत रमैनियों की भाँति इन का भी, अपने विषयानुसार कुछ न कुछ क्रम अवश्य ढूँढ़ा जा सकता है, तथा जिस प्रकार भिन्न भिन्न रमैनियों में भिन्न भिन्न विषयों की प्रधानता है उसी प्रकार यहाँ भी यदि किसी राग मे कोई विषय प्रधान रूप में आया है तो किसी में कोई। जैसे, 'राग गौड़ी' एवं 'राग बसंत' के पदों के मुख्य विषय यदि सांसारिक प्रपंच और सांप्रदायिक कल्पनाएँ हैं तो 'राग रामकली', 'राग सोरठि' तथा 'राग बिलावल' में संसार की नश्वरता पर ही विशेष योग दिया गया है और इसी प्रकार यदि 'राग असावरी तथा 'राग भैरू' के मुख्य विषय क्रमशः योग तथा ईश्वर-संबंधी बातें हैं तो 'राग केदारौ', 'राग मारू', 'राग ललित', 'राग माली गौड़ी', 'राग कल्यान', 'राग मलार' तथा 'राग धनाश्री' के मुख्य विषय उपदेशमय सिद्धांत और उसी भाँति, 'राग टोड़ी' तथा 'राग सारंग' के विनयपूर्ण भजन है। परंतु तो भी कोई शीर्षक न रहने एवं एक राग के ही अंतर्गत भिन्न भिन्न विषयों के आ जाने से यह स्पष्ट है कि इन पदों का संग्रह करते समय इन के विषयानुसार क्रम पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया किंतु, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, केवल इन की संगीत-प्रधानता पर ही विचार हुआ। 'बीजक' के पदों का न तो विषय-संबंधी शीर्षक है और न राग-संबंधी ही। इन का कोई क्रम ही निश्चित नहीं। कुल पद कदाचित् सांप्रदायिक आवश्यकताओं की दृष्टि से चुन कर अपने ढंग से रख दिए गए है। इधर हाल में प्रकाशित 'बीजक' के एक

संस्करण[1] में इन पदों का कुछ क्रम बाँधने की चेष्टा की गई अवश्य जान पड़ती है, परंतु वह क्रम भी संभवत उस के संपादक के निजी विचारों पर ही अवलंबित है। 'शब्दावली' (चारों भाग) में संगृहीत पदों को भिन्न भिन्न शीर्षकों के अंतर्गत रक्खा गया है, परंतु ये शीर्षक विषय तथा राग इन दोनों प्रकार के हैं और, कुल भागों को मिला कर, कई एक से अधिक बार भी आए हैं तथा बहुत से पद उस में ऐसे भी हैं जिन्हें मिश्रित नामक एक भिन्न शीर्षक के नीचे रख दिया गया है जिस से उन का वर्गीकरण उचित नहीं जान पड़ता। रवि बाबू के 'वन हंड्रेड पोयम्स आफ कबीर' में कोई विषय अथवा राग-संबंधी शीर्षक नहीं है बल्कि मूल पदों के आरंभ का अंश थोड़ा थोड़ा सा दे दिया है। 'कबीर-वचनावली' के शीर्षक विषयानुसार है।

(२)

कबीर साहब के पदों के उपरोक्त मुख्य चार संग्रह-ग्रंथ अर्थात् 'कबीर-ग्रंथावली', 'बीजक', 'गुरु ग्रंथ साहब', तथा 'शब्दावली' (चार भाग) में से उन में संगृहीत पदों की संख्या की दृष्टि से, 'कबीर-ग्रंथावली' का मुख्य विषय विषयादि की अनित्यता, जीवन की क्षणभंगुरता अथवा संसार की नश्वरता के ही भावों में केंद्रित सा जान पड़ता है। सांप्रदायिक कल्पनाएँ, उन के भ्रमात्मक आधार अथवा उन के निराकरण का उपदेश आदि इस के अनंतर आते हैं। परंतु अन्य तीन में आए हुए पदों की संख्या की दशा ठीक इसी प्रकार की नहीं है। उन में ऐहलौकिक अस्थिरता-प्रदर्शक पदों के प्रायः समान ही संख्या उन की भी है जो कबीर साहब के निजी अनुभव, उन के मुख्य मुख्य सिद्धांत तथा साधन एवं उपदेश से संबंध रखते हैं। सांप्रदायिक विवादादि, खंडनात्मक विचारों के साथ ही साथ इन के उपरांत आते हैं। इन संग्रहों में तत्कालीन सांप्रदायिक मतों के सिंहावलोकन से अधिक सिद्धांतों पर ही योग देना यह सूचित करता है कि इन के संपादन के समय कबीर पंथ के महत्त्वपूर्ण

---

[1] 'बीजक' (तृतीय से द्वादश प्रकरण पर्यंत), सम्पादक साधु हनुमानदास मु० फतुहा ज़ि० पटना।

सिद्धांत स्थिर होने लगे थे अथवा हो चुके थे और अन्य मतों के पर्यालोचन की अपेक्षा अपने सिद्धांत-संबंधी पदों को ही अधिक संख्या में स्थान देना उपयोगी जान पड़ता था। इसी प्रकार यदि 'कबीर-ग्रंथावली' में संगृहीत पदों को, उन के संग्रह-काल अर्थात् सन् १५०४ ई० तक की सभी रचनाओं का समुदाय मान लें तो यह भी कह सकते हैं कि उक्त समय तक कबीर साहब ने अपनी अधिकांश रचनाएँ ईश्वर के प्रति शुद्ध भक्ति-भावना तथा मानव समाज के प्रति पूर्ण सहानुभूति से प्रेरित हो कर ही की थीं और उन के व्यंग एवं उपहासपूर्ण पद अधिकतर इस काल के उपरांत रचे गए। 'कबीर-ग्रंथावली' को छोड़ कर अन्य तीन संग्रहों को हम ऐसी दशा में केवल चुने हुए पदों के भी संग्रह कह सकते हैं क्योंकि इन में उक्त संग्रह से केवल कुछ थोड़े थोड़े से पदों को लेकर उनके साथ अपने अपने उद्देश्यानुसार दूसरे नवीन पद भी रख लिए गए हैं। परिणामतः कोई भी संग्रह पूर्ण नही है और इन में आए हुए पदों की दृष्टि से एक ही कबीर साहब को 'कबीर-ग्रंथावली', 'बीजक', 'गुरु ग्रंथ साहब' एवं 'शब्दावली' (चारों भाग) के अनुसार हम यदि पृथक् पृथक् कर समझने का प्रयत्न करें तो क्रमशः वे सच्चे भक्त, सुधारक, संत एवं सद्गुरु के रूप मे हमे दीख पड़ेंगे। परंतु इन उपरोक्त विभिन्नताओ के होते हुए भी कबीर साहब का मुख्य विषय, अर्थात् संसार की वास्तविक स्थिति एवं आत्मज्ञान के अनुभव बिना, माया के वशीभूत हो भ्रम के कारण, विविध विडंबनाओं के फेर में पड़ कर सदा दुख उठाते रहने वाले, संसारी जीवों को सचेत करके उन्हे सच्चे मार्ग पर लाने का प्रयत्न करना, इन उपरोक्त चारों संग्रहों का मुख्य सिद्धांत बन कर सब में प्रायः एक समान ही वर्तमान है।

विषयादि की सारहीनता एवं अनस्थिरता सब के ही दैनिक अनुभव का विषय है किंतु अपनी आँखों के समक्ष सब कुछ देखते हुए भी मनुष्य उन की अनुपयोगिता स्वीकार नहीं करते बल्कि उन की प्राप्ति के लिए ईश्वर से प्रार्थना किया करते हैं। कबीर साहब को यह बात मूर्खतापूर्ण जान पड़ती है, और इस माँगने की व्यर्थता को स्पष्ट करते हुए अपने लिए वे इस प्रकार कहते हैं—

२९

का मांगू कछ थिर न रहाई

देखत नैन चल्या जग जाई[1] ॥ इत्यादि । पद, ९८ ।

और इसे पूर्ण वैभवशाली रावण के दृष्टांत द्वारा उदाहृत करते है । रावण के पास सभी कुछ था। उस के समान सुरक्षित राज्य किस का था ? उस की लंका में दुर्ग ही दुर्ग थे जो चारों ओर समुद्र के समान गहरी एवं विस्तृत खाई से घिरे थे और जिन की रखवाली के लिए स्वयं रावण के ही अनेक पुत्र पौत्र सदा सन्नद्ध रहा करते थे । परन्तु उस रावण के घर मे अब 'दीवा बाती' तक का ठिकाना नहीं है और न उस का कोई पता ही बतला सकता है । उस का भी अंत में नाश हो गया । जिस राज्य को प्राप्त करने के लिए उस ने सैकड़ों युद्ध किए थे और तत्कालीन सभी बड़े बड़े लोगों से वैर मोल लिया था वह वैभव भी अंत को क्षणिक ही निकला। इस लिए कहते हैं कि—

राम थोरे दिन कौं का धन करनां,

धंधा बहुत निहाइति मरना[2] ॥ इत्यादि । पद ९९ ।

और इसी कारण अपने सगे कहलाने वाले संबंधियों के संबंध को भी क्षण-स्थायी मान कर उन्हों ने उन के प्रति अपने विरक्तिपूर्ण उद्‌गार प्रकट किए है । वे कहते हैं कि—

मेरी मेरी दुनियां करते, मोह मछर तन धरते ।
आगे पीर मुकदम होते, वैभी गये यौं करते ॥
किसकी ममां चचा पुनि किसका, किसका पंगुड़ा जोई ।
यहु संसार बजार मंड्या है, जानैंगा जन कोई ॥
मै परदेसी काहि पुकारौ, इहां नहीं को मेरा ।
यहु संसार ढूँढ़ि सब देख्या, एक भरोसा तेरा[3] ॥ इत्यादि, पद १०२

अर्थात् पिता माता और बालबच्चे को अपना बतला कर मोह एवं मत्सर

---

[1] 'कबीर-ग्रंथावली' (का० ना० प्र० सभा), पृ० ११९ ।

[2] वही, पृ० ११९ ।

[3] वही, पृ० १२० ।

से पूर्ण बड़े बड़े पीर मुकद्दम तक चले गए परंतु किसी ने यह नहीं सोचा कि आखिर ये सगे संबंधी हमारे होते कौन हैं। दुनिया, जिस में हम अपने को पाते हैं, वह वास्तव में उस बाजार से बढ़ कर नहीं जिस में भिन्न भिन्न देशों के लोग आकर लेते-देते दिखलाई पड़ते हैं और हमारी अपनी स्थिति भी केवल एक परदेशी की ही भाँति है। हम ने सब कहीं ढूँढ़ कर देख लिया। यहाँ अपना अथवा सच्चा आत्मीय कोई नहीं और इस अपरिचित मंडली के बीच हमें केवल ईश्वर का ही बल है।

कबीर साहब इन उपरोक्त विषयादि एवं आत्मीयों की ममता के समान ही मानव शरीर के प्रति भी अनुराग दिखलाने को मूर्खतापूर्ण ही बतलाते हैं। मानव शरीर की असारता को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने कई भिन्न भिन्न रूपकों का सहारा लिया है। कहीं तो वे इसे एक डोली मानते हैं जिस मे बिलग बिलग सूतों से बुना हुआ एक खटोला बँधा है, जो तृष्णा-रूपिणी हवा के झोंके में पड़ कर इधर उधर डोलती रहती है, जिस में एक दूसरे का कहना न मानने वाले पाँच विचित्र कहार लगे हुए हैं और जिस पर चढ़ कर ऊपर से पर्दा न रहने के कारण, त्रिविध ताप-रूपी धूप में जलते हुए, परम पिता परमेश्वर के पास मैके के समान जाना पड़ता है। कहीं वे इसी को कुछ ही समय बाद नष्ट हो जाने योग्य एक कागज की गुड्डी की भाँति समझते हुए जान पड़ते हैं। कबीर साहब के अनुसार यह गुड्डी तभी तक उड़ेगी जब तक इसे उत्तेजित करने के लिए वायु चलती रहेगी, इस गुड्डी में एक प्रकार का शब्द भी सुनाई पड़ता है और इस की डोरी सदा इस के स्वामी के ही हाथों में रहा करती है, वायु के रुकते ही यह शीघ्र ठिठक जाती है और इस के स्वामी ने यदि कृपा न की तो सदा इस की खींचा तानी लगी ही रहती है। कहीं कहीं इसी प्रकार कबीर साहब ने मानव शरीर को कागज का एक पुतला मात्र माना है जो बूँद के पड़ते ही क्षण भर में नष्ट हो जाता है। इसी शरीर को दर्शनीय बनाने के लिए मनुष्य सदा 'चोवा चंदन' का व्यवहार किया करता है और इसे पुष्ट बनाए रखने के लिए निरंतर 'षीर षांड घृत' आदि उपयोगी पदार्थों का सेवन करता है किंतु यह कभी

अपने विचार मे नही लाता कि जिस के काल्पनिक उपभोग के लिए इतने यत्न कर रहा हूँ वह अंत मे काठ के साथ जला कर भस्म कर दिया जायगा अथवा पृथ्वी मे गाड़ दिया जायगा, जिस से अनेक प्रकार के कृमि उसे थोड़े ही दिनों में नष्ट कर डालेंगे।

आश्चर्य तो यह है कि अपने जीवन की क्षणभंगुरता की ओर किसी का ध्यान तक नहीं जाता बल्कि विषयादि को क्षणस्थायी समझते हुए भी उन के पीछे सदा पड़े रहने में ही मरती सूझा करती है। वास्तव में—

संसार ऐसा सुपिन जैसा, जीवन सुपिन समान।
सांच करि नरि गांठि बांध्यौ, छाड़ि परम निधान॥
नैंन नेह पतंग हुलसै, पसू न पेखै आगि।
काल पासि जु मुगध बांध्या, कनक कामिनीं लागि[1] ॥इ० पद २४५॥

अर्थात् संसार का अनुभव केवल कुछ ही समय तक सच्चे जान पड़ने वाले स्वप्न के क्षणिक दृश्यों के समान है किंतु उसे वास्तविक सत्य समझ कर मनुष्य उस से अपना संबंध जोड़े रहता है और परमात्मा का त्याग कर देता है। मनुष्य की यह दशा वैसी ही है जैसी, दीपशिखा की आंतरिक ज्वाला का विचार न कर के उस के इर्द गिर्द प्रसन्न हो मंडराने वाले, पतंग की होती है। उस पतंग के ही समान मनुष्य भी कनक और कामिनी के फेर में पड़ कर काल के पाश मे बद्ध हो जाता है। विषयों की मनोमोहकता बड़ी विचित्र है। यह लाख प्रयत्न करने पर भी नहीं छूटती। कबीर साहब ने उपरोक्त क्षण-स्थायी वस्तुओं तथा उन के संबंध को माया का नाम दिया है और उस के त्याग की असमर्थता प्रकट करते हुए उस का वर्णन इस प्रकार किया है :—

माया तजूं तजी नहीं जाइ।
फिरि फिरि माया मोहि लपटाइ॥
माया आदर माया मान।
माया नहीं तहां ब्रह्म गियान॥

---

[1] 'कबीर-ग्रंथावली' (का० ना० प्र० सभा), पृ० १७१।

माया रस माया कर जांन ।
माया कारनि तजै परान ॥
माया जप तप माया जोग ।
माया बांधे सबही लोग ॥
माया जलथलि माया आकासि ।
माया व्यापि रही चहुँ पासि ॥
माया माता माया पिता ।
अति माता अस्तरी सुता[1] ॥ इत्यादि पद ८४ ॥

इस माया की आकर्षण शक्ति इतनी प्रबल है कि, इस की मनोमोहकता के ही कारण, कबीर साहब ने इस की कल्पना एक सुंदरी के रूप मे की है जो मानव समाज को कौन कहे बड़े बड़े प्रसिद्ध देवताओं तक को वंचित करने का सदा प्रयत्न करती रहती है। अपने हाथों मे मानो वह एक त्रिगुणात्मक बंधन का फांस लिए फिरा करती है और मधुर मधुर लुभावनी बातों के द्वारा अर्थात अपनी प्रभावशालिनी छटा के अचूक अनुभव करा कर उस के सहारे किसी को भी अपने वश मे किए बिना नहीं छोड़ती। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो उस का प्रभाव सब कहीं स्पष्ट विदित होगा। कबीर साहब कहते हैं कि :—

माया महाठगिनि हम जानी ।
निर्गुन फांस लिये कर डोलै, बोलै मधुरी बानी ॥
केसव के कमला हो बैठी, सिव के भवन भवानी ।
पंडा के मूरत हो बैठी, तीरथ हू में पानी ॥
योगी के योगिन हो बैठी, राजा के घर रानी ।
काहू के हीरा हो बैठी, काहू के कौड़ी कानी[2] ॥ इत्यादि पद, ५९ ॥

इसी लिए कबीर साहब ने माया को 'एक सुहागिनि जगत पियारी' करके भी

---

[1] 'कबीर-ग्रंथावली' (का० ना० प्र० सभा), पृ० ११४-११५ ।

[2] 'बीजक' (बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग), पृ० ५२-५३ ।

न्यत्र[1] लिखा है और 'हमारी द्रिष्टि परै जैसे डाइनि'[2] भी बतलाया है।

इसी माया के फेर में पड कर अज्ञानी लोग, अपने रोग की सच्ची औषधि का पता लगाने का प्रयास छोड़कर, भ्रमवश बहुधा भिन्न भिन्न विपरीत कल्पनाएँ किया करते हैं जिस से लाभ तो कुछ होता नहीं बल्कि अपने हृदय में मूर्खता के कारण विविध विडंबनाओं के रचने की भावना जागृत होने लगती है। फलतः मनुष्यों में से—

इक पढ़हिं पाठ इक भ्रमैं उदास।
इक नगन निरंतर रहैं निवास॥
इक जोग जुगनि तन होंहि खीन।
ऐसैं राम नाम संगि रहैं न लीन॥
इक हूंहि दीन इक देहि दान।
इक करैं कलापी सुरापान॥
इक तंत मंत ओषध बान।
इक सकल सिध राखैं अपान॥
इक तीर्थ व्रत करि काया जीति।
ऐसें राम नाम सूं करैं न प्रीति॥
इक धोम घोटि तन हूंहि स्यामि[3]। इत्यादि, पद २८६॥

का स्वांग रचते हुए दिखलाई देते हैं। इन बाहरी आडंबरों मे अपने को वे इतना अधिक भूल जाते हैं कि वास्तविक स्थिति का उन्हे पता तक नहीं चलता। उधर वे समझते हैं कि इन बाहरी बातों के ही द्वारा हम ने अपना कार्य सिद्ध कर लिया और इधर भीतर ही भीतर उन के अंतःकरण में अहंकार का भाव उन्हे 'मदिमाते' बना कर एक दम विभोर कर देता है और उन का 'ज्ञानरतन' सदा के लिए लुट जाता है। कबीर साहब ने उपरोक्त प्रकार से भ्रम मे पड़ने वालों के उदाहरण में हिंदू, मुसलमान आदि प्रायः सभी तात्कालीन संप्रदायों

---

[1] 'कबीर-ग्रंथावली' (का० ना० प्र० सभा), पृ० २११।

[2] वही, पृ० २१६।

के लोगों के नाम लिए हैं किंतु हिंदुओं और मुसलमानों का वर्णन अधिक किया है। आत्मशुद्धि के साथ निःकामपूर्वक सदा हरिभजन करते रहने का सच्चा मार्ग छोड़ कर स्वयं बैकुंठ की झूठी आशा में बैठ दूसरों को उपदेश देते हुए सारा जीवन नष्ट करने वाले हिंदुओं के लिए वे इस प्रकार कहते हैं :—

चलन चलन सबको कहत है,
नां जानौं बैकुंठ कहां है ॥
जो जन एक प्रमिति नहिं जानैं,
बातनि हीं बैकुंठ बषानैं ॥
जब लग है बैकुंठ की आसा,
तब लग नहीं हरिचरन निवासा[१] ॥ इ० पद २४ ।

अर्थात् ये अपने शास्त्रोक्त वचनों के हवाले दे कर अनेक प्रकार के व्रत, पूजा, पाठादि के सहारे लोगों को बैकुंठ जाने की आशा दिलाया करते हैं, किंतु यदि पूछा जाय तो ये स्वयं भी नहीं बतला सकेंगे कि वास्तव में यह बैकुंठ है कहाँ। कोरी बातों के बल पर किसी काल्पनिक उत्तम स्थान की प्रशंसा करके उस की प्राप्ति के लिए लोगों के हृदय में अनेक प्रकार की आशा बँधा कर उन्हें भ्रम में डाले रखना ऐसे लोगों का दैनिक कार्य है। इसी प्रकार इन हिंदुओं में ही कुछ ऐसे भी हैं जो भिन्न भिन्न प्रकार के भेष धारण किया करते हैं और समझते हैं कि ऐसा करने से ही ईश्वर प्रसन्न होगा। इन में से कुछ के प्रति कबीर साहब इस प्रकार अपने उद्गार प्रकट करते हैं—

मूँड़ मुडाइ फूलि का बैठे,
काननि पहिरि मंजूसा।
बाहरि देह षेह लपटांनीं,
भीतरि तौ घर मूसा[२] ॥ इ० पद १३४ ।

---

[१] 'कबीर-ग्रंथावली' (का० ना० प्र० सभा), पृ० ९६ ।

[२] वही, पृ० १३१ ।

तथा,

बिन प्रतीतैं पाती तोड़ै
ग्यान बिना देवलि सिर फोड़ै।
लुचरी लपसी आप संवारै,
द्वारै ठाढ़ा राम पुकारै[१] ॥ ह्र० पद १३५।

अथवा,

स्वांग सेत करणी मनि काली,
कहा भयो गलि माला घाली[२] ॥ पद १३६।

अर्थात् कोई कोई अपना सिर मुंडाकर गर्व के कारण फूल कर बैठ जाते हैं, कानों में कुंडल पहन लेते हैं और बाहर से भभूत लपेटे फिरते हैं किंतु भीतर उन में ज्ञान का पता तक नहीं रहता; कोई कोई बिना सच्चे प्रेम के भी तुलसी के पत्ते तोड़ा करते हैं, बिना ज्ञान के ही देवालयों में जा जा कर धक्के खाया करते हैं और भोग लगाने के बहाने अनेक प्रकार के पकवान ला लाकर स्वयं उड़ाते हैं और द्वार पर खड़े होकर भगवान का झूठमूठ आवाहन किया करते हैं; और, कोई कोई स्वच्छ कपड़े पहन कर गले में माला डाले फिरा करते हैं और यह नहीं विचार करते कि जब तक उन की करणी ठीक नहीं तब तक बाहर का पहनावा कितना ही रखें ही उस से काम नहीं चल सकता। ईश्वर को प्रसन्न रखने के लिए सच्चे हृदय एवं शुद्ध अंतःकरण की आवश्यकता है क्यों कि ईश्वर वास्तव में अपने हृदय के भीतर ही वर्त्तमान है।

इसी लिए कबीर साहब का उपदेश है कि ईश्वर के लिए कहीं दूर न जा कर अपने हृदय के भीतर ही उसे ढूंढ़ो। अविनाशी परमात्मा तुम्हारे हृदय-सरोवर में ही बैठा हुआ है:—

रे मन बैठि, किते जिनि जासी,
हिरदै सरोवर है अविनासी ॥

---

[१] 'कबीर-ग्रंथावली', पृ० १२१।

[२] वही, पृ० १२१।

काया मधे कोटि तीरथ,
काया मधे काशी।
काया मधे कवलापति,
काया मधे बैकुंठ वासी[1] ॥ इ० पद १७१ ।

और इसी कारण किसी कल्पित प्रदेश की आशा मे लोगों को डालते फिरना अथवा अनेक प्रकार के स्वांग बना बना कर उस के द्वारा, भ्रमवश अपने बाहर समझ पड़ने वाले परमेश्वर को रिझाने का प्रयत्न करना निरी मूर्खता के सिवा और कुछ भी नहीं है। क्योंकि, परमात्मा के अपने भीतर रहते हुए भी, उस के लिए बाहर दौड़ लगाना ठीक वैसा ही है जैसा नाभि के भीतर कस्तूरी के रहते हुए भी मृग का उस की खोज में इधर उधर दौड़ते फिरना[2] कहा जा सकता है तथा ऐसी अवस्था मे ईश्वर के प्रति व्यर्थ के लिए तड़पते रहना भी वैसा ही है जैसा नाल तक पानी के रहते हुए भी नलिनी का कुँभला जाना[3] अथवा सरोवर के किनारे बैठी हुई हंसिनी का प्यासों मरना[4] कहा जा सकता है। ईश्वर-प्राप्ति के लिए वाह्याडंबर अथवा व्यर्थ के बखेड़े में पड़ कर केवल कहते सुनते रहने मात्र की कोई आवश्यकता नहीं। यह सब जंजाल है। परमात्मा एवं उस के प्रति शुद्ध अनुराग वास्तव में कुछ और ही वस्तु है। जैसे,

कथणीं वदणीं सब जंजाल,
भाव भगति अरु राम निराल[5] ॥ इ० पद २०१ ।

और माया आदि के कारण अपने हृदय पर पड़ा हुआ कुसंस्कार तभी दूर हो सकता है जब अपने मन की शुद्धि द्वारा सारे भ्रमों को पास आने से

[1] 'कबीर-ग्रंथावली', पृ० १४५ ।
[2] वही, पृ० १०८ ।
[3] वही, पृ० १०८।
[4] वही, पृ० १८९ ।
[5] वही, पृ० १५६ ।

सफलता पूर्वक रोक लिया जाय। ऐसी दशा में ही परमात्मा के सहज रूप का ज्ञान होता है।

मन का भ्रम मन हीं थैं भागा।
सहजरूप हरि खेलण लागा॥

और तभी यह सिद्ध हो जाता है कि—

मैं तैं तैं मैं ए द्वै नाहीं,
आपै अकल सकल घट माहीं[1]॥ इ० २०३।

अर्थात् आत्मा और परमात्मा दोनों वास्तव में एक है और इस केवल एक वस्तु के सिवा और कुछ भी नहीं तथा परमात्मा के नित्य एवं अविनाशी होने के कारण अपने को अमर समझ हम यह निश्चयपूर्वक कह सकते है कि,

हरि मरि हैं तौ हम हूँ मरि हैं,
हरि न मरै हम काहे कूं मरि हैं[2]॥ इ० पद ४२।

(३)

कबीर साहब ने अपना पूर्ण परिचय कदाचित् कहीं भी नहीं दिया है किंतु उन की रचनाओं के ध्यानपूर्वक देखने से पता चलता है कि वे कभी कभी अपने मत का प्रतिपादन अथवा निजी अनुभवों का वर्णन करते समय, प्रसंग-वश, अपने कुल, स्थान, धर्म आदि अनेक व्यक्तिगत बातों की ओर भी संकेत कर दिया करते थे और ऐसे ऐसे स्थल उन की रमैनियों, साखियों तथा पदों मे सब कही मिलते हैं। उन के पदों में रमैनियों अथवा साखियों की अपेक्षा ये प्रसंग कहीं अधिक बार आए हैं और 'कबीर-ग्रंथावली', 'बीजक', 'ग्रंथ साहब' तथा 'शब्दावली' नामक उपरोक्त चारों संग्रहों में से दूसरे व चौथे की अपेक्षा पहले एवं तीसरे में इन की संख्या अधिक पाई जाती है। जान पड़ता है कि 'बीजक' एवं 'शब्दावली' नामक उक्त दूसरे और चौथे संग्रहों में, उन के अधिक-

---

[1] 'कबीर-ग्रंथावली', पृ० १५७।

[2] वही, पृ० १०२।

तर सांप्रदायिक होने के कारण, पदों में उन के रचयिता की व्यक्तिगत बातों को अधिक संख्या में रखना उचित नहीं समझा गया है। जो हो, कबीर साहब के पदों में यत्र तत्र पाई जाने वाली ऐसी सामग्रियों को यदि एकत्र करके उन्हें क्रमबद्ध कर लिया जाय तो उस के द्वारा हमें उन के जीवनचरित संबंधी अनेक बातों का पता चल सकता है। उदाहरण के लिए, कबीर साहब के निम्नलिखित अवतरणों के आधार पर हम उन की जाति का पता लगा सकते हैं। जैसे—

जाति जुलाहा मति कौ धीर,

हरषि हरषि गुंण रमै कबीर[1] ॥ पद १२४ ॥

कहै कबीर जुलाहा[2] ॥ १३४ पद ॥

तूं ब्राम्हण मैं कासी का जुलाहा,

चीन्हि ना मोर गियाना।

... ...

पूरब जनम हम ब्राह्मन होते,

वोछे करम तप हींनां।

रामदेव की सेवा चूका,

पकरि जुलाहा कीना[3] ॥ २५० पद।

जाति जुलाहा नाम कबीरा अजहूं पतीजौ नांही ॥

... ...

जाति जुलाहा नांम कबीरा,

बनि बनि फिरौं उदासी[4] ॥ २७० पद।

कृत करणी जाति भया जुलाहा,

कहत कबीर मोहि भगति उमाहा[5] ॥ २७१ पद।

---

[1] 'कबीर-ग्रंथावली', पृ० १२८।

[2] वही, पृ० १३१।

[3] वही, पृ० १७३।

[4] वही, पृ० १८०-१८१।

[5] वही, पृ० १८१।

कहै कबीरा कोरी[1] । ३४६ पद

जोलाहे घर अपना चीन्हा घर ही राम पछाना[2] ॥ ४९ पद ।

से यह पता लग जाता है कि कबीर साहब की जाति जुलाहे अथवा कोरी की थी और ऊपर उद्धृत २७० वें पद की एक पंक्ति 'हम तौ जाति कमींनां' से यह भी विदित होता है कि वे अपनी जुलाहे की जाति को निकृष्ट समझते थे जिस कारण उपरोक्त २५० वें पद के अवतरण में भी उन्हों ने अपने पूर्व जन्म के ब्राह्मणत्व को, भगवान् की सेवा में चूकने के कारण, खो कर जुलाहे के घर जन्म लेना बतलाया है। इसी प्रकार ऊपर आई हुई ही एक पंक्ति के 'कासी का जुलाहा' से यह भी जान पड़ता है कि कबीर साहब हिंदुओं के प्रसिद्ध तीर्थ-स्थान काशी अथवा बनारस के रहने वाले थे और इस बात की पुष्टि निम्न लिखित कतिपय और भी अवतरणों से हो जाती है। जैसे—

परम तत आधारी मेरे,
सिव नगरी घर मेरा[3] । १९६ पद ।

आस पास घन तुलसी का बिरवा,
मांझ बनारस गाऊं रे । १८ पद ।

अब कहे राम कवन गति मोरी ।
तजीले बनारस मति भई भोरी ॥

सकल जनम सिव पुरी गँवाया ।
मरती बार मगहर उठि आया ॥

बहुत वर्ष तप कीया कासी ।
मरन भया मगहर की वासी[4] ॥ १०३ पद ।

---

[1] 'कबीर-ग्रंथावली', पृ० २०५ ।
[2] वही, (परिशिष्ट) पृ० २७९ ।
[3] वही, पृ० १५४ ।
[4] वही, (परिशिष्ट) पृ० २६९ ।
[5] वही, (परिशिष्ट) पृ० २९५ ।

तू ब्राह्मन मैं कासी का जुलहा,
मोहि तोहि बराबरि कैसे कै बनहि[1] । ८४ पद ।

इस के साथ इन अवतरणों से यह भी समझ पड़ता है कि कबीर साहब अंत में काशी छोड़ कर मरने के कुछ समय पहले मगहर चले गए थे और इस बात का उन्हें कुछ कष्ट भी था। परंतु कहीं कहीं मगहर में अंतिम समय व्यतीत करने के विषय में कुछ उदासीन भी दीख पड़ते हैं और इस का कारण भगवान के प्रति अपनी पूर्ण श्रद्धा बतलाते हैं। जैसे—

तोरे भरोसे मगहर बसियो।
मेरे तन की तपनि बुझाई।
पहिले दर्सन मगहर पायो।
फुनि काशी बसे आई॥
जैसा मगहर तैसी काशी।
हम एकै करि जानी[2]। पद ११०।
जो मैथिल को साचा-व्यास,
तोर मरन हो मगहर पास।
क्या काशी क्या मगहर ऊसर,
जो पै हृदय राम बस मोर[3]। शब्द १०३।

इस प्रकार उपरोक्त अवतरणों के आधार पर कबीर साहब के कुल तथा जन्मभूमि एवं मरण स्थान का स्पष्ट पता लग जाता है। 'कबीर-ग्रंथावली' के परिशिष्ट प्रकरण में आए हुए 'ग्रंथ साहब' के उपरोक्त ११० वें पद की पंक्ति से यह भी सूचित होता है कि अंतिम समय मे आने के पहले भी कबीर साहब कभी और मगहर में कुछ दिनों तक रह चुके होंगे। ऐसे ही नीचे उद्धृत

---

[1] 'कबीर-ग्रंथावली', (परिशिष्ट) पृ० २८९।

[2] वही, (परिशिष्ट) पृ० २९६।

[3] बीजक (बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग), पृ० ६७।

पंक्तियों से यह भी लक्षित होता है कि मरण समय के पहले वे अधिक वृद्ध हो गए थे और उन का दूर तक आना जाना कठिन हो गया था जैसे

इब न रहूँ माटी के घर मैं,
इब मैं जाइ रहूँ मिलि हरि मैं ॥
छिनहर घर अरु झिरहर टाटी,
घन गरजत कंपै मेरी छाती ॥
दसवैं द्वारि लागि गई तारी,
दूरि गवन आवन भयौ भारी[1] ॥ इ० पद २७३ ।

इस के अतिरिक्त कबीर साहब ने दो चार पदों में अपनी माता तथा पिता के संबंध में भी संकेत किया है। उन्हों ने इन के नाम कहीं भी नहीं दिए हैं। इन के पदों में आए हुए प्रसंगों से केवल यही प्रगट होता है कि इन के पिता ने जो उपकार इन के साथ किए थे उन के लिए ये अपनी कृतज्ञता दिखलाया करते थे तथा इन के पिता का देहांत इन की माता से पहले हुआ था। जैसे—

बाप दिलासा मेरो कीना,
सेज सुखाली मुखि अंमृत दीना ॥
तिसु बाप कौ क्यों मनहु बिसारी,
आगे गया न बाजी हारी ॥
मुई मेरी माई हौ खरा सुखाला,
पहिरौ नहीं दगली लगै न पाला[2] ॥ इ० पद १५० ।

उपरोक्त अंतिम पंक्ति में माता के मरणोपरांत 'हौ खरा सुखाला' कहने से यह भी लक्षित होता है कि माता इन के धार्मिक जीवन में कुछ विघ्नस्वरूप सी हो गई थी और इस का कारण कदाचित् उस का अपने पुत्र के प्रति

---

[1] 'कबीर-ग्रंथावली' (का० ना० प्र० सभा), पृ० १८१ ।

[2] वही, (परिशिष्ट) पृ० २०९ ।

स्वाभाविक मातृस्नेह मात्र था जैसा कि नीचे दी हुई कतिपय पंक्तियों से भी जान पड़ता है

तननां बुननां तज्या कबीर,
राम नांम लिखि लिया सरीर ॥
... ...
ठाढ़ी रोवै कबीर की माइ,
ए लरिका क्यूं जीवैं खुदाइ[1] । इ० पद २१ ।

तथा कबीरौ संत नदी गयौ बहि रे,
ठाढ़ी माइ कराडै टेरै, है कोइ ल्यावै गहिरे[2] ॥ इ० पद १५१ ।

कबीर साहब की माता को उन का अधिकतर हिंदू धर्म की ओर झुकना कदाचित् अच्छा नहीं लगता था और उन के धार्मिक कृत्यों को वे अपने कुल-धर्म के प्रतिकूल समझ कर बहुधा झींका करती थीं । इस आशय का एक पद 'ग्रंथ साहब' में इस प्रकार आया है ।

नित उठि कोरी गागरिआ, लै लीपत जनम गयो ।
ताना बाना कछू न सूझै हरि हरि रस लपट्यो ॥
हमरे कुल कौने राम कह्यो ।
जब की माला लई निपूते तबतें सुख न भयो[3] ॥ इ० पद १२९ ।

इसी प्रकार कबीर साहब के साथी संतों के प्रति रुष्ट हो कर उन की माता कदाचित् उन्हें बुरा भला भी कहा करती थीं क्योंकि उन्हों ने इन के पुत्र को बहका कर इन का घर बिगाड़ दिया था और इन की पुत्रवधू को 'धनिया' के स्थान पर ये 'रामजनिया' कहने लगे थे । जैसे—

मेरी बहुरिया को धनिया नाउ ।
ले राख्यो रामजनिया नाउ ॥

---

[1] 'कबीर-ग्रंथावली', पृ० ९५ ।

[2] वही, पृ० १३७ ।

[3] वही, (परिशिष्ट) पृ० २०१-२०२ ।

इन मुंडियन मेरा घर धुधरावा ।
बिटवहि राम रमौआ लावा ॥
कहत कबीर सुनहु मेरी माई ।
इन मुंडियन मेरी जाति गंवाई[1] ॥ पद १६७ ।

परंतु इस पद में आए हुए 'धनिया' अथवा 'रामजनिया' नाम उस परंपरा के विरुद्ध जान पड़ते है जिस के अनुसार कबीर साहब की स्त्री का नाम 'लोई' कर के प्रसिद्ध है। यह 'लोई' नाम उन के नीचे दिए हुए पद में भी आया है जहाँ उन की स्त्री उन्हें अपने प्रति अनुरक्त होने के लिए प्रार्थना करती हुई सी जान पड़ती है। जैसे—

करवतु भला न करवट तेरी ।
लागु गले सुन बिनती मेरी ॥
हौं वारी मुख फेरि पियारे ।
करवट दे मोको काहे कौ मारे ॥
जौ तन चीरहि अंगन मोरौ ।
पिंड परै तौ प्रीति न तोरौ ॥
हम तुम बीच भयो नहिं कोई ।
तुमहि सुकंत नारि हम सोई ।
कहत कबीर सुनहु रे लोई ।
अब तुमरी परतीति न होई[2] ॥ पद ३८ ।

संभव है यहाँ पर लोई शब्द केवल स्त्री वाचक हो और कबीर साहब ने इसे स्त्री-रूपिणी माया के लिए प्रयोग किया हो परंतु इस 'लोई' शब्द का प्रयोग उन्हों ने कई अन्य स्थानों पर भी किया है और वहाँ पर माया के लिए इस का व्यवहार नहीं जान पड़ता। जो हो, इस विषय में निश्चित रूप से अभी कुछ

---

[1] 'कबीर-ग्रंथावली', (परिशिष्ट) पृ० ३१७ ।

[2] वही, (परिशिष्ट) पृ० २७५ ।

नहीं कहा जा सकता

कबीर साहब ने इसी प्रकार एक पद में अपने को—

विद्या न पढ़ूँ वाद नहीं जानूं,

हरि गुन कथत सुनत बौरानूं[1] ॥ इ० पद १४७ ।

अर्थात् मैं ने कभी कोई विद्या नही पढ़ी और न कभी भिन्न भिन्न मत मतांतरों के ही झमेले में मैं पड़ा आदि कहा है और इस बात की पुष्टि उन की एक साखी[2] मे आए हुए 'मसि कागद' के न छूने तथा कलम के हाथ में न पकड़ने के प्रसंग से भी हो जाती है। जान पड़ता है कि इन की अधिकांश अथवा कदाचित् कुल शिक्षा सत्संग द्वारा ही हुई थी और इसी कारण ये सत्संग को बहुत बड़ा महत्त्व दिया करते थे। उन का स्पष्ट कहना था कि—

सब थैं नींकी संत मंडलिया,

हरि भगतनि कौ भेरौ रे।

गोविंद के गुन बैठे गैहैं,

खैहैं टूकौ टेरौ रे[3] ॥ इ० पद ८५ ।

इन के किसी पद से इन के गुरु के नाम का ठीक पता नहीं चलता। शब्दावली में आई हुई पंक्तियाँ

काशी में हम परगट भये, रामानंद चेताये[4], आदि

प्राचीन समझे जाने वाले संग्रहों में नहीं मिलतीं और 'बीजक' की पंक्ति,

रमानंद रामरस माते, कहैं कबिर हम कहि कहि थाके[5]

से भी यह प्रतीत नहीं होता कि कबीर साहब के गुरु स्वामी रामानंद ही थे। कबीर साहब को बड़े बड़े संतों महात्माओं के प्रति बड़ी श्रद्धा थी और उन्हों ने

---

[1] 'कबीर-ग्रंथावली', पृ० १३५ ।

[2] बीजक (बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग), पृ० १०३ ।

[3] कबीर-ग्रंथावली (का० ना० प्र० सभा), पृ० ११५ ।

[4] कबीर शब्दावली, दूसरा भाग (बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग), पृ० ४७ ।

[5] बीजक (बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग), पृ० ५८ ।

ग्स लोगों के नाम कई स्थलों पर ले कर उन की प्रशंसा भी की है, परंतु उन में कहीं भी रामानंद स्वामी का नाम तक नहीं आया नीचे के एक पद में उन्हों ने गोमती नदी के तीर पर निवास करने वाले किसी पीतांबर नामधारी पीर का नाम बड़े आदर के साथ लिया है क्योंकि उन के स्थान तक जाने को वे अपना हज करना तक समझते हुए जान पड़ते हैं। जैसे—

हज्ज हमारी गोमती तीर।
जहाँ बसहि पीतम्बर पीर॥
वाहु वाहु क्या खूब गावता है।
हरि का नाम मेरे मन भावता है[1]॥ इ० पद २१५।

परंतु इतने मात्र से यह अनुमान कर लेना उचित नहीं जान पड़ता कि उपरोक्त नाम उन के गुरु का ही रहा होगा। इन के गुरु का नाम चाहे जो कुछ रहा हो अपने पदों में प्रकट किए हुए विचारों के द्वारा ये एक हिंदू धर्मानुयायी पूर्ण भक्त के समान ही अधिकतर जान पड़ते हैं। ये अपना वर्णन एक स्थल पर

कृष्ण कवलदल भँवर कबीरा[2]। पद १०४।

कह कर करते हैं और एक दूसरे स्थल पर उसी प्रकार

भगति नारदी मगन सरीरा,
इहि विधि भव तिरि कहै कबीरा[3]॥ पद २७८।

द्वारा दूसरों को नारदीय भक्तिमार्ग के अनुसार चल कर मुक्ति प्राप्ति करने का उपदेश भी देते हैं। किंतु तो भी ये स्मार्तधर्म अथवा पौराणिक मत आदि के अनुसार चलने वाले वैसे हिंदू भी नहीं हैं। इन के कृष्ण 'नंदकौ नंदन' नहीं बल्कि पूर्णब्रह्म परमात्मा हैं और नीचे लिखे पद द्वारा वे इस बात को इस प्रकार स्पष्ट करते हैं—

---

[1] 'कबीर-ग्रंथावली', (का० ना० प्रा०) परिशिष्ट पृ० ३२०।

[2] वही, पृ० १२१।

[3] वही, पृ० १८३।

लोका तुम्हज कहत हौ नंद कौ नंदन,
नंद कहौ धूं काकौ रे।
धरनि अकास दोऊ नहीं होते,
तब यहु नंद कहाँ थौ रे॥
जा मैं मरै न संकुटि आवै,
नांव निरंजन जाकौ रे।
अविनासी उपजै नहिं बिनसै,
संत सुजस कहैं ताकौ रे॥
लष चौरासी जीव जंत मैं,
भ्रमत भ्रमत नंद थाकौ रे॥
दास कबीर कौ ठाकुर ऐसो,
भगति करै हरि ताकौ रे[1] ॥ ४८ ॥

वास्तव में इस दृष्टि से कबीर साहब को हम कोरे हिंदू अथवा एकेश्वर वादी मुस्लिम भी नहीं कह सकते क्योंकि उन्हों ने इस बात को दृढ़ता के साथ कह दिया है कि हम ने इन दोनों धर्मों के विशिष्ट सिद्धांतों को अपने मस्तिष्क से निकाल अपने विचार एक दम स्वतंत्र रूप से स्थिर किए हैं। उन का कहना है कि—

उलटि जाति कुल दोऊ बिसारी।
सुन्न सहज महि बुनत हमारी॥
हमरा झगरा रहा न कोऊ।
पंडित मुल्ला छाड़े दोऊ॥
बुनि बुनि आप आप पहिरावौं।
जहँ नहिं आप तहाँ ह्वै गावौं॥
पंडित मुल्ला जो लिखि दीया।
छाड़ि चले हम कछू न लीया॥

---

[1] 'कबीर-ग्रंथावली', पृ० १०३-१०४।

रिदै सलासु निरखि ले मोरा

आपु खोजि खोजि मिले कबीरा[1] ॥ पद २७ ।

उन्हें इस बात में पूर्ण विश्वास था कि सभी वर्त्तमान मतों के सिद्धांत भ्रमपूर्ण हो गए हैं और इन में से किसी एक पर आस्था रखना ठीक नहीं। इसी लिए वे अपने गुरु की आज्ञा के अनुसार उक्त मतावलंबियों को बराबर उपदेश दे कर समझाते रहना अपना कर्त्तव्य समझते थे। वे कहते हैं कि—

मोहि आग्या दई दयाल दया करि, काहू कूँ समझाइ ।

कहै कबीर मैं कहि कहि हार्‌यौ, अब मोहि दोस न लाइ[2] ॥ पद ३१९ ।

इन के "अभि अंतरि मन रंग समाना[3]" था परंतु "लोग कहैं कबिरा बौराना[4]" है और इस के उत्तर में वे कहते थे कि—

सब दुनीं सयांनीं मैं बौरा,

हम बिगरे बिगरौ जिनि औरा ॥

मैं नहीं बौरा राम कियौ बौरा,

सतगुर जारि गयौ भ्रम मोरा[5] ॥ इ० पद १४७ ।

परिणाम-स्वरूप लोगों ने इन्हें आपस में बुरा भला कहते कहते इन की निंदा उस समय के बादशाह तक से कर दी और इन के कतिपय पदों के देखने से जान पड़ता है कि राजाज्ञा द्वारा इन्हें कई प्रकार के दंड भी दिए गए। 'कबीर-ग्रंथावली' के पद ३४१ व 'गुरु ग्रंथ साहब' (परिशिष्ट) के पद १५५ में कबीर साहब को बाँध कर गहरे पानी अथवा गंगा नदी में बोर देना, किंतु जल की तरंगों द्वारा ही जंजीर कट जाने के कारण उन का मुक्त हो कर किनारे स्थिर भाव से बैठा हुआ पाया जाना बतलाया गया है और उसी

---

[1] 'कबीर-ग्रंथावली', (परिशिष्ट) पृ० २७२ ।

[2] वही, पृ० १९६ ।

[3] वही, पृ० ९७ ।

[4] वही, पृ० १३५ ।

[5] वही, पृ० २०२ व (परिशिष्ट) पृ० २८० ।

प्रकार 'कबीर-ग्रंथावली' के पद ३६५ तथा 'गुरु ग्रंथ साहब' (परिशिष्ट) के पद १५५ में कबीर साहब को किसी काजी की आज्ञा से बाँध कर उन के ऊपर हाथी का आक्रमण कराना तथा हाथी का झिझक कर तीन बार चीख मारते हुए भाग भाग जाना वर्णित[1] है परंतु इन से उस समय के बादशाह अथवा उस समय का भी कुछ पता नहीं चलता। हाँ, 'कबीर-ग्रंथावली' में आ जाने से इन घटनाओं का समय सन् १५०४ ई० के प्रथम ही संभव है।

कबीर साहब की प्रसिद्ध योगी गोरखनाथ के प्रति बड़ी श्रद्धा है। ये उन्हें महान समझते हैं और कहते हैं कि जिस मन का पता सनक सनंदन, शिव, विरंचि, नारद, ध्रुव, प्रह्लाद आदि को भी नहीं था और जिस में शुकदेव जी तक कुछ ही लीन हो सके थे उस मन में तल्लीन होकर गोरखनाथ और गोपीचंद भरथरी आनंद का अनुभव[2] करते रहे। राम-गुण-बल्ली अथवा पर ब्रह्म के रहस्य को गोरखनाथ भली भाँति जानते थे[3], उन्हों ने त्यागी लक्ष्मण की भाँति माया का निवारण कर दिया[4] था और ज्ञान द्वारा परम तत्त्व 'अलख निरंजन' तक उन की गति हो गई[5]। वे राम, कृष्ण आदि के समान इष्टदेव समझे[6] जाते थे और राम नामोच्चारण की ही भाँति योगी 'गोरख गोरख' करता रहता[7] था। हाँ, प्राणायाम के पूर्ण अभ्यासी होते हुए भी काल के फाँस से वे भी नहीं बच[8] सके। कबीर साहब ने इसी प्रकार योगी भरथरी के विषय में भी बहुत कुछ कहा है और उन के वैराग्य ग्रहण

---

[1] 'कबीर-ग्रंथावली', पृ० २१० व (परिशिष्ट) पृ० ३१४।

[2] वही, पृ० ९९।

[3] वही, पृ० १४२।

[4] वही, पृ० १६६।

[5] वही, पृ० १९९।

[6] 'बीजक' (बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग), पृ० ४७।

[7] 'कबीर-ग्रंथावली' (का० ना० प्र० सभा), पृ० २००।

[8] 'बीजक' (बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग), पृ० ६३।

के अवसर को ले कर उन्हों ने एक पूरे पद की ही रचना कर दी है। वे कहते हैं कि राजा भरथरी जिस समय वैरागी हुआ उस समय उस ने हाथी, घोड़ा, गढ़, गाँव आदि सारी राज्य-सामग्री के साथ अपनी उज्जैन नगरी तक को, नश्वर समझ कर, छोड़ दिया, उस के सिंहासन पर छत्र लगा था और चँवर ढुल रहा था तथा उस के सामने, विविध प्रकार के राग रंग आदि के साथ ही, सेज पर रंभा के समान सुंदरी स्त्री भी थी किंतु इन में किसी पर भी उस ने अनुराग नहीं किया और एक पक्के शूरवीर के समान दृढ़ निश्चय कर के माया का एकदम परित्याग कर दिया। उस ने गुरु गोरख से प्रेम किया और 'साहिब सौं सुरति' लगा कर वियोगी की भाँति बन बन घूमने लगा। राजा गंधर्वसेन का वह सौभाग्यशाली पुत्र वास्तव में अमर हो गया[1]। अपने पहले के संत महात्माओं में से, इसी भाँति, कबीर साहब ने जयदेव एवं नामदेव के भी नाम आदर के साथ लिए हैं। वे इन दोनों का वर्णन प्रायः सब कहीं एक ही साथ करते हैं। उन के अनुसार—

गुरु परसादी जयदेव नामा।
भगति के प्रेम इनहि है जाना[2] ॥ इ० पद २०८।

और कलियुग में 'नामां जैदेव' ही केवल 'जग' पाए[3] थे तथा विप्र सुदामा के समान 'जयदेव नामा' पर ही भगवान की अपार कृपा[4] हुई थी। 'बीजक' के एक पद में इन लोगों के साथ ही प्रसिद्ध भक्त पीपा का भी नाम आया है और शब्दावली के दो एक पदों में उसी प्रकार मुछंदर नाथ एवं रैदास के नामों का भी उल्लेख है।

कबीर साहब के पदों में हिंदुओं के धार्मिक विचारों एवं उन की पौराणिक कथाओं के प्रसंग अनेक स्थलों पर आए हैं और उन के देखने से विदित

---

[1] 'कबीर-ग्रंथावली' (का० ना० प्र० सभा), पृ० १८९।

[2] वही, (परिशिष्ट) पृ० ३२८।

[3] वही, पृ० २१६।

[4] वही, (परिशिष्ट) पृ० २९७।

होता है कि रचयिता के ऊपर हिंदू संस्कृति का पूर्ण प्रभाव पड़ चुका था। कर्मसिद्धांत के प्रति उन की पूर्ण आस्था थी और वे 'आपन कर्म न मेटो जाई'[1] कह कर 'कर्म की बात निनारो' बतलाते थे। उन का यहाँ तक कहना है कि हम पूर्व-जन्म में ब्राह्मण थे किंतु भगवान के रुष्ट हो जाने से हमें अब की बार जुलाहे के घर उत्पन्न होना पड़ा। वे पंचतत्त्व का नाम लेते हैं,' 'रुग जुग स्याम अथरबन' के रूप में चारो वेदों का उल्लेख करते हैं, तथा छः दर्शन, 'व्याकरन,' 'सुर वैतोसूं' 'मुनिवर सहस अठासी' 'रजगुन ब्रह्मा', 'तमगुन संकर', 'सतगुन हरि', 'भगति नारदी', ब्रह्म-विचार आदि के भी प्रसंग छेड़ते हैं। उन्हों ने वैवाहिक विधियों का वर्णन करते समय भी 'वेद उचार', 'वेदी' एवं 'भाँवर लेना' की ही ओर संकेत किया है और भगवान के नामों में राम, हरि, निरंजन के साथ साथ 'गोकल नाइक वीठुला', श्रीरंग, श्रीबनवारी, 'नरहरि', 'गोव्यंद', 'केसो', 'सारंगपानि', 'कबलाकंत', 'मुरारी', 'गोपाल', 'रघुनाथ', 'माधौ', 'जगन्नाथ', 'मधुसूदन', 'धरनीधर', 'सारिंगधर' और 'लक्ष्मीवर' का भी स्मरण किया है। उनका 'ईसर गौरी', 'कान्ह रुकमिनी' और 'सीता रघुनाथ बिवाही' कहना 'पाती ब्रह्मा पुहपे बिस्नु फूलफल महादेव' बतलाना ब्रह्मा का नाल पकड़ कर 'खोजिपरने' अथवा मुरारी का 'राजा अंबरीक' के कारण 'चक्र सुदरसन' 'धारने' की कथाओं का उल्लेख करना तथा प्रलय आदि की पौराणिक बातों की ओर अनेक बार ध्यान दिलाते रहना हमे उन का हिंदू विचारों द्वारा पूर्णतया प्रभावित होना स्पष्ट रूप से बतलाता है। पौराणिक भक्तों में उन्हों ने सनक, सनंदन, 'सिव', विरंचि, नारद, ध्रुव, 'बिभीषन', ऊधव, अक्रूर, 'हणवंत', गज, गनिका, अजामिल आदि के नाम लिए है तथा विदुर एवं 'प्रहलाद' की कथाओं का कुछ वर्णन भी कर दिया है। 'प्रहलाद' की कथा में उन्हों ने 'महा पुरुष देवाधिदेव' का भी 'भगति भेव' के कारण 'नरस्यंघ' रूप मे प्रकट होना दिखलाया है और विदुर के भावों से प्रसन्न हो कर उन्हों ने 'ओहु गरीब मोहि भावै' कहा है। हिंदू विचारों तथा हिंदूपद्धति और हिंदू-संस्कारों के चिह्न हमे उन की

---

[1] 'बीजक' (बे० प्रे०, प्रयाग), पृ० ६९।

रचनाओं में स्थल स्थल पर मिलते हैं और कई बार तो ऐसा जान पड़ता है कि, संभवतः बेपढ़े लिखे होने पर भी, उन्हें हिंदुओं के दार्शनिक ग्रंथों तक का बहुत कुछ रहस्य भली भाँति विदित हो गया था। वेदांत मत के अद्वैतवाद संबंधी ग्रंथों के विषयादि से वे विशेष रूप से परिचित जान पड़ते हैं क्योंकि कई स्थलों पर उन्हों ने उन में दिए हुए अनेक दृष्टांतों तथा रूपकों तक के ठीक उसी प्रकार प्रयोग किए हैं। उदाहरण के लिए ब्रह्म और नाम रूपात्मक जगत् का संबंध तथा आत्मा व परमात्मा का ऐक्य स्पष्ट करते हुए उन्हों ने निम्नलिखित पंक्तियों में वेदांत के प्रसिद्ध 'कनक-कुंडल न्याय', 'जलतरंग न्याय' अथवा 'जलकुंभ' के दृष्टांतों को व्यवहृत करके दिखलाया है। जैसे—

जैसें बहु कंचन के भूषन,
ये कहि गालि तवांवहिंगे।
ऐसे हम लोक वेद के बिछुरें,
सुंनिहि माँहि समावहिंगे॥
जैसें जलहि तरंग तरंगनीं,
ऐसें हम दिखलावहिंगे।
कहै कबीर स्वामी सुखसागर,
हंसहि हंस मिलावहिंगे[1] ॥ पद १५० ।

तथा

जल मै कुंभ कुंभ मैं जल है,
बाहरि भीतरि पांनीं।
फूटा कुंभ जल जलहि समांनां,
यहु तत कथौ गियानी[2] ॥ इ० पद ४४ ।

(४)

कबीर साहब के पद, जैसा पहले कहा जा चुका है, या तो भिन्न भिन्न

---

[1] 'कबीर-ग्रंथावली' (का० ना० प्र० सभा), पृ० १३७ ।

[2] वही, पृ० १०३ ।

संगीत-संबंधी रागों के अंतर्गत रक्खे गए हैं या कई भिन्न भिन्न रागों के अंतर्गत आने योग्य पदों को भी, उन के विषयों के अनुसार, पृथक् पृथक् संगृहीत किया गया है। परंतु छंदोनियम की दृष्टि से दिए हुए उन के शीर्षक कहीं भी नहीं मिलते। ऊपर के रूप-रंग देखने से पता चलता है कि ये अन्य कई कवियों द्वारा रचे हुए भजनों की भाँति गाने योग्य विशेष क्रम के अनुसार निर्मित हुए हैं। इसी कारण 'कबीर-ग्रंथावली' के कुल तथा 'शब्दावली' के अधिकांश पदों में पहली पंक्ति टेक के रूप में रक्खी गई है तथा आगे की शेष पंक्तियाँ उस के प्रायः समानांतर चलती हुई दीख पड़ती हैं। 'ग्रंथ साहब' के पदों की भी यही दशा है, किंतु उन में 'टेक' शब्द लिखा नहीं मिलता और पहले की तीन चार पंक्तियों का क्रम भी 'कबीर-ग्रंथावली' के पदों का सा सब कहीं नहीं दीख पड़ता। जैसे, उदाहरण के लिए, 'कबीर-ग्रंथावली' के पद संख्या १, १९८ तथा ३७ में से प्रत्येक की प्रथम दो पंक्तियाँ 'ग्रंथ साहब' (परिशिष्ट) में आए हुए समान पद क्रमशः १०७,१३७ एवं १४२ की तीसरी चौथी पंक्तियाँ हो गई हैं और उसी प्रकार उन्हीं उन्हीं की तीसरी चौथी पंक्तियाँ इन की पहली दूसरी बनी हुई हैं। प्रत्येक पद में आई हुई कुल पंक्तियों की संख्या कम से कम तीन और अधिक से अधिक अट्ठारह तक पहुँचती है और 'शब्दावली' के कुछ पदों में यह संख्या ७१ से ले कर ९७ तक आ जाती है। परंतु कुल पंक्तियों का, वर्ण अथवा मात्रा की दृष्टि से, बराबर होना आवश्यक नहीं है और यही कारण है कि इन पदों में से प्रत्येक में हम सदा एक ही छंद नहीं पाते। किसी किसी पद में से केवल सार-छंद, चौपाई छंद, उपमान, रूपमाला, ताटंक, समान सवैया, विष्णुपद अथवा एकाध मात्रिक दंडक आदि को अकेला पाते हैं और किसी किसी में एक ही साथ इन में से अथवा अन्य छंदों में से दो अथवा दो से अधिक छंद भी दिखलाई पड़ते हैं। जैसे, उदाहरण के लिए, 'बीजक' के ६८ वें शब्द में अमृतकुंडली, रोला, दोहा तथा हरिपद नामक छंदों का संमिश्रण वर्त्तमान है। परंतु कबीर साहब के पदों में आए हुए छंदों के प्रयोग सावधानी से नहीं किए गए हैं जिस के कारण अनेक स्थलों पर इन के रूप बहुत कुछ विकृत हो गए हैं।

जो हो, इन ऊपर से टेढ़े मेढ़े दिखलाई पड़ने वाले पदों में भी उन के विषयों की उच्चता एवं भावों की गंभीरता के कारण, एक अनूठापन आ गया है जिस से इन के सौंदर्य में विशेष अंतर नहीं आने पाता। कबीर साहब की भिन्न भिन्न रचनाओं में प्रायः समान भावों की ही पुनरुक्ति होते रहने के कारण उन्हें लोग बहुधा साधारण अथवा शिथिल कह दिया करते हैं परंतु अधिकांश पदों के विषय में यह बात कहना नितांत अनुचित है। साखियों में, उन के छोटे होने के कारण, भावों का संकुचित हो कर कुछ अधूरा सा दीख पड़ना अथवा रमैनियों में, उन के अधिकतर चौपाई ऐसे सरल छंद में होने के कारण, बेढंगे तौर पर बिखर कर शिथिल सा समझ पड़ना संभव भी हो सकता है किंतु स्वर और लय के अनुसार क्रमप्राप्त शब्दों के संयोग से बने हुए पदों के भीतर भरे गए भाव साधारण हो कर भी सदा उच्च ही जान पड़ेंगे। यही कारण है कि कबीर साहब के पद उन की सारी रचनाओं में सर्वश्रेष्ठ समझे जाते हैं और इन के लालित्य अथवा माधुर्य की भूरि भूरि प्रशंसा बराबर की जाती है। कबीर साहब किसी भाव को व्यक्त करते समय उस में इतने तल्लीन हो जाते हैं कि उन का प्रत्येक शब्द सारगर्भित एवं रहस्यपूर्ण बन कर प्रकट होता है, और उन के रचित वाक्यों में व्याप्त भाव श्रोताओं अथवा पाठकों के रोम रोम में शीघ्र प्रवेश कर उन्हें सहसा वशीभूत कर लेते हैं। यहाँ पर हम उन की ऐसी ही भावव्यक्ति के दो भिन्न भिन्न नमूने उद्धृत करते हैं। पहले अवतरण में कबीर साहब ने परमात्मा के साक्षात् अनुभव का वर्णन करने की चेष्टा की है। किसी वर्णन की सफलता के लिए यह परमावश्यक है कि वर्ण्य विषय बोधगम्य हो तथा, सावयव होने के कारण, उस के भिन्न भिन्न अंशों को आवश्यकतानुसार पृथक् पृथक् दर्शाकर उसे स्पष्ट किया जाय अथवा उसे समान गुण वाले अन्य पदार्थों के तारतम्य में रख कर उस की विशेषता का निर्णय किया जाय। किंतु परमात्मा अविगत होने के कारण बोधगम्य नहीं है और न अकल अर्थात् अखंड होने के कारण सावयव ही कहा जा सकता है। वह अनुपम भी है जिस कारण उस की तुलना किसी अन्य वस्तु से की ही नहीं जा सकती। अतएव परमात्मा की अपरोक्षानुभूति

वास्तव में वर्णनातीत है और अनुभवी को इस के फलस्वरूप अपने भावों को प्रकट करने की असमर्थता दिखलाते हुए केवल मूकवत् संकेत मात्र कर के ही रह जाना पड़ता है। कबीर साहब के ही शब्दों में—

> अविगत अकल अनूपम देख्या, कहनां कह्या न जाई।
> सैन करै मन ही मन रहसै, गूँगै जानि मिठाई[1] ॥ इ० पद, ६॥

अर्थात् उस अज्ञान, अखंड एवं अनुपमेय परमतत्त्व के अनुभव का वर्णन उस के अनुभवी के लिए उसी प्रकार शक्ति के बाहर है जिस प्रकार गुड़ आदि मधुर वस्तुओं का अनुभव कर के उस की मिठास का वर्णन करना किसी गूँगे के लिए असंभव हो जाता है। क्यों कि अपने भावों को व्यक्त करने की शक्ति-हीनता के कारण ये दोनों, आनंद में मग्न हो कर मन ही मन घुलते रहने पर भी, केवल संकेत-मात्र प्रकट करने के सिवा और कुछ कर ही नहीं पाते। सारांश यह है कि परमात्मा परिमित न होने के कारण ज्ञानातीत और खंडनीय न होने के कारण दुर्बोध्य है और संसार में उस के समान अन्य पदार्थ न दीख पड़ने के कारण उस की तुलना भी किसी से नहीं हो सकती। अतएव उस का अनुभव एकांत आभास मात्र से ही होता है जो वास्तव में अनिर्वचनीय है।

इसी प्रकार दूसरे अवतरण में कबीर साहब ने 'राम बांन' अथवा अपने ऊपर पड़े हुए भगवान् के प्रेमगर्भित प्रभाव का वर्णन करने का प्रयत्न किया है। यह प्रभाव किसी अनोखे तीर की भाँति रोम रोम में प्रवेश कर जाता है और सर्वांग में इस प्रकार व्याप्त हो जाता है कि उस का अस्तित्व किसी एक स्थान पर बतलाना नितांत असंभव है। इस कारण इस प्रेम की चोट जिसे लगती है केवल वही उसे समझ भी सकता है। किंतु वह भी उस के मूलस्थान का पता नहीं दे पाता जिस से उचित निदान द्वारा उस की पीर दूर करने की चेष्टा की जाय। वे कहते हैं कि—

---

[1] 'कबीर-ग्रंथावली' (का० ना० प्र० सभा), पृ० ९० ।

राम बान अन्ययाले तीर,
जाहि लगे सो जानैं पीर ॥
तन मन खोजौं चोट न पाऊं,
ओषद मूल कहां घसिलाऊं ॥
एक ही रूप दीसै सब नारी,
नां जानौं को पीयहि पियारी[1] ॥ इ० पद ११८ ।

अर्थात् यह राम-बान ऐसा निराला है कि जिसे इस की चोट लगे उस के सिवाय दूसरा इस के मर्म को समझ ही नहीं पाता । यह पड़ते ही सर्वांग में व्याप्त हो जाता है और तन अथवा मन अर्थात् कहीं भी एक स्थान पर, ढूँढ़ते ढूँढ़ते हैरान होने पर भी, इसे हम निश्चित नहीं कर सकते और न, इसी कारण, यह भी बतला सकते हैं कि इसे दूर करने के लिए यदि किसी औषध अथवा जड़ी का प्रयोग भी करें तो कहां करे । सभी नाड़ियाँ एक ही दशा में दिखलाई पड़ती हैं इसलिए यह भी जानना कठिन है कि किस पर इस चोट का कैसा प्रभाव पड़ा है और किस की परीक्षा द्वारा हम इस की गंभीरता का स्पष्ट पता दे सकते हैं । तात्पर्य यह कि प्रेम का प्रभाव एक दम गूढ़ तथा रहस्य-मय होता है और प्रभावित व्यक्ति को वह इस प्रकार विवश कर देता है कि उस में स्वयं अपने अनुभव के भी परख सकने की शक्ति नहीं रह जाती ।

इस दूसरे अवतरण की तीसरी पंक्ति में आया हुआ 'नारी' शब्द वास्तव में 'नाड़ी' का ही बोधक है किंतु उस के वर्तमान 'नारी' रूप का श्लेष द्वारा स्त्री अर्थ भी लगा कर कवि ने उस के आगे, केवल न्यूनाधिक प्रभाव का अभिप्राय दर्शाने के प्रयोजन से, 'नां जानौं को पीयहि पियारी' अर्थात् पता नहीं कौन सी स्त्री (वास्तव में नाड़ी) अपने प्रियतम स्वामी (वास्तव में प्रभावित करने वाले परमात्मा) को कितनी प्रिय है (वास्तव में किस प्रकार प्रभावित है) ऐसा लिखा है । ऐसा श्लेष तथा कतिपय अन्य अर्थालंकार या शब्दालंकारों के अनायास किए गए प्रयोग हमें कबीर साहब के पदों में बहुत

---

[1] 'कबीर-ग्रंथावली' (का० ना० प्र० सभा), पृ० १२५ ।

मिलते हैं। यहाँ पर हम पहले विविध अनुप्रास शब्दालंकारों से सुसज्जित एक पद को ही उद्धृत करते हैं। जैसे—

अंतर गति अनि अनि बांणीं।
गगन गुपत मधुकर मधु पीवत, सुगति सेस सिव जांणीं॥
त्रिविधि त्रिगुण तलपत तिमरातन, तंती तंत मिलांनीं।
भागे भरम भोइन भये भारी, बिधि बिरंचि सुधि जांणीं॥
बरन पवन अवरन बिधि पावक, अनल अमर मरै पांणी।
रवि ससि सुभग रहे भरि सब घटि, सबद सुंनि थिति मांहीं॥
संकट सकति सकल सुख खोये, उदिध मथित सब हारे।
कहत कबीर अगम पुर परण, प्रगटि पुरातन जारे[1]॥ १६८॥

के अंतर्गत 'अनि अनि', 'गगन गुपत', 'मधुकर मधु', 'त्रिविधि त्रिगुण', 'बिधि बिरंचि', 'अनल अमर', 'ससि सुभग', 'सबद सुंनि', तथा 'कहत कबीर' में छेकानुप्रास 'सुगति सेस सिव', 'तलपत तिमिरातन तंती तंत', 'भागे भरम भोइन भये भारी', 'रविससि सुभग रहे', 'संकट सकति सकल सुख' तथा 'परण, प्रगटि पुरातन' में वृत्त्यानुप्रास, 'अंतर गति अनि अनि' तथा 'कहत कबीर अगमपुर' में श्रुत्यनुप्रास और 'बांणीं' 'जांणीं' तथा 'हारे जारे' में अन्त्यानुप्रास के उदाहरण एक ही साथ पाए जाते हैं। इस के सिवाय समूचे पद को आदि से अंत तक पढ़ते समय शब्दों के उच्चारण में एक प्रकार की सुगमता एवं इस की पंक्तियों के पाठ मे एक अनोखी लय का अनुभव होता है जिस से इस रचना के भीतर हमें मनोमुग्धकारी अविरल प्रवाह का लक्षण दीख पड़ता है।

इसी प्रकार नीचे के कुछ अवतरणों में हम कबीर साहब के पदों मे आए हुए कतिपय अर्थालंकारों के भी उदाहरण देने का प्रयत्न करेंगे। ये पद वास्तव में जान बूझ कर, साहित्यिक अलंकारों के उदाहरण दिखलाने के प्रयोजन से, नही रचे गए थे क्योंकि इन के रचयिता का उद्देश्य कदाचित् कभी

---

[1] 'कबीर-ग्रंथावली' (का० ना० प्र० सभा), पृ० १४४।

काव्य की छटा प्रदर्शन करने का नहीं रहा ये सर्वसाधारण के प्रति अपने सुंदर सुंदर सिद्धांतों का प्रभावशाली उपदेश मात्र देना चाहते थे और गंभीर अनुभूति एवं विचारशीलता के कारण उन्हें स्पष्ट करने के प्रयास में उन के मुख से समय समय पर आलंकारिक भाषा के भी प्रयोग अनायास हो जाते थे। यहाँ पर पहले हम रूपक अलंकार का एक उदाहरण देते हैं। रूपक अलंकार के प्रयोग कबीर साहब ने बहुत स्थलों पर किए हैं और इस विषय के उदाहरणों का कुछ आभास ऊपर दिया भी जा चुका है।

संतौ भाई आई ग्यान की आँधी रे।
भ्रम की टाटी सबै उडांणीं, माया रहै न बाँधी॥
हिति चत की द्वै थूँनी गिरानी, मोह बलींडा तूटा।
त्रिस्नां छांनि परी घर ऊपरि, कुबधि का भांडा फूटा॥

... ...

आँधी पीछैं जो जल बूठा, प्रेम हरी जन भींनां।
कहै कबीर भांन के प्रगटें, उदित भया तम षींनां[1] ॥ पद १६।

अर्थात् इस संसार में माया अपने आवरण का छज्जा विषयी पुरुषों के ऊपर सदा निर्माण किए रहती है जिस से, अज्ञान के कारण, अंधकार में बैठे हुए रहने पर भी, वे अपने को स्थिर एवं निश्चित समझा करते हैं। परंतु जिस समय उन के ऊपर ज्ञान का आविर्भाव होता है और उस की शक्ति के कारण यह सारी रचना नष्ट भ्रष्ट हो जाती है उस समय उन को अपनी वास्तविक स्थिति का अनुभव होने लगता है। कबीर साहब ने ज्ञान की इस शक्ति को आँधी के वेग का रूपक दिया है और अपने पूरे भाव को व्यक्त करने के लिए, आँधी के प्रभाव में आकर, किसी साधारण छज्जे के ध्वंस हो जाने का कुछ सविस्तार वर्णन किया है। वे कहते हैं कि इस आँधीरूपी ज्ञान के पहुँचते ही उक्त छज्जे के आधार स्वरूप टाटीरूपी अनेक प्रकार के भ्रम सहसा उड़ जाते हैं। दो थूनियों के रूप में उसे टेकने वाली दुचिताई दूर हो जाती है। बलींडा या

---

[1] 'कबीर-ग्रंथावली', पृ० ९२।

बंडेरी रूपी मोह टूट कर विशीर्ण हो जाता है, छप्पर के समान छायी हुई तृष्णा हट जाती है और कुबुद्धि का एक दम भंडाफोड़ सा हो जाता है। तत्पश्चात् ज्ञान का प्रभाव पड़ने के फलस्वरूप, आँधी के पीछे वर्षा आने की भाँति परमात्मा की दया की वृष्टि सी होने लगती है जिस कारण हरिजन प्रेमरस से सरावोर हो जाते हैं और उधर आत्म-प्रकाश होते ही सूर्योदय के पीछे अंधकार के समान माया का सारा प्रपंच ध्वंस हो जाता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि ज्ञान के प्रभाव को स्पष्ट करने के लिए वेगवती आँधी का रूपक बाँध कर उस के भिन्न भिन्न प्रभावों के निदर्शन द्वारा यहाँ पर समस्त वस्तु विषयक सांगरूपक का प्रयोग किया गया है। कबीर साहब ने इसी प्रकार जुलाहों के तनना बुनना, किसानों की किसानी अथवा चरखा आदि कई अन्य विषयों को लेकर भी बड़े सुंदर सुंदर रूपक बाँधे हैं।

निम्नोद्धृत अवतरण में इसी भाँति व्याजस्तुति नामक अर्थालंकार का हम एक उत्कृष्ट उदाहरण पाते हैं। जैसे—

कबीरा बिगर्‍या राम दुहाई,
तुम्ह जिनि बिगरौ मेरे भाई ॥
चंदन के ढिग विरष जु भैला,
बिगरि बिगरि सो चंदन ह्वैला ॥
पारस कौं जे लोह छिवैगा,
बिगरि बिगरि सो कंचन ह्वैला ॥
गंगा मैं जे नीर मिलैगा,
बिगरि बिगरि गंगोदिक ह्वैला ॥
कहै कबीर जे राम कहैला,
बिगरि बिगरि सो रामहि ह्वैला[1] ॥ पद २७४।

अर्थात् राम के मारे कबीर तो बिगड़ चुका अब तुम लोग न बिगड़ो। कबीर का बिगड़ना वैसा ही है जैसे चंदन के निकट रहने के कारण बिगड़ कर दूसरे

---

[1] 'कबीर-ग्रंथावली' (का० ना० प्र० सभा), पृ० १८१-१८२।

वृक्ष भी चंदन हो जाते हैं, पारस पत्थर से छू जाने के कारण बिगड़ कर लोहा सोना हो जाता है तथा गंगा में मिलने के कारण दूसरे जल भी बिगड़ कर गंगाजल हो जाते हैं क्योंकि राम राम कहने वाले भी तो बिगड़ कर राम ही हो जाते हैं। यहाँ पर देखने से तो जान पड़ता है कि चंदन के निकट रहने वाला वृक्ष, पारस से छू जाने वाला लोहा तथा गंगा मे मिल जाने वाला जल अर्थात् ये सभी, अपना अपना असलीपन छोड़ कर दूसरा रूप धारण कर लेने के कारण, बिगड़ जाते हैं पर वास्तव मे, समझने पर, इस में किए गए बिगड़ना क्रिया के प्रयोग केवल व्यंगपूर्ण ही सिद्ध होते हैं और पता चल जाता है कि इस बिगड़ने के भीतर यथार्थ मे निंदा की जगह स्तुति अथवा प्रशंसा छिपी हुई है जिस कारण राम के भजने वालों के भी उसी प्रकार अंत में रामरूप ही धारण कर लेने से बिगड़ना नहीं कहा जा सकता। कबीर का बिगड़ना यदि इसी प्रकार का है तो वह उन्हे स्वीकार है। दूसरे चाहे इसे बुरा समझते रहें और उन का अनुकरण न करें, स्वयं उन्हें इस की कोई परवा नहीं।

इसी प्रकार नीचे वाले 'बीजक' के शब्द मे 'घर की रारि' का वर्णन कर के उस पर दुःख प्रकट किया गया है परंतु यहाँ प्रस्तुत कथन से वास्तव में अप्रस्तुत पंचेंद्रियों और सुमति के पारस्परिक असहयोगिता की कथा का भान होने लगता है जिस से समासोक्ति अलंकार का एक अच्छा उदाहरण हमें मिल जाता है। जैसे—

संतो घर में झगरा भारी।
रातिदिवस मिलि उठि उठि लागैं, पाँच ढोटा एक नारी॥
न्यारो न्यारो भोजन चाहैं, पाँचों अधिक सवादी।
कोउ काहु का हटा न मानै, आपुहि आप मुरादी[1]॥ इ० शब्द ३।

अर्थात् हे संतो, घर मे बड़ा भारी झगड़ा है क्योंकि यह नित्यशः का काम हो गया है कि पाँचों लड़के और स्त्री उठते ही आपस मे जुट जाते हैं, पूरे

[1] 'बीजक' (बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग), पृ० ३३।

स्वादुप्रिय होने के कारण सभी अनोखे अनोखे भोजनों की इच्छा प्रकट करने लगते हैं और अपने अपने स्वार्थ में पड़े रहने के कारण एक दूसरे का कहना तक नहीं सुनते। यहाँ पर अपने प्रस्तुत गृहनिवासी बाल बच्चों के पारस्परिक कलह के कथन द्वारा कबीर साहब ने वास्तव में पंच ज्ञानेंद्रिय तथा कुबुद्धि के पारस्परिक अनैक्य का दुष्परिणाम दर्शाया है और कहते हैं कि ये सारे सदा अपनी अपनी ही धुन में मस्त रहते हैं और संपूर्ण घर अर्थात शरीर अथवा मनुष्य के कल्याण को कुछ भी परवा नहीं करते। पांचों इंद्रियाँ अपने अपने इष्ट विषयों का अनुभव मनमाने ढंग से करना चाहती हैं और कुबुद्धि की, अंतिम सुख के प्रति, नैसर्गिक उदासीनता उन्हें ऐसा करने से निवारण नहीं करने देती बल्कि बात बात मे उन्हें सहारा मिलता जाता है जिस का दुष्परिणाम मनुष्य को भोगना पड़ता है।

कबीर साहब ने उपरोक्त रूपक, व्याजस्तुति और समासोक्ति की ही भाँति अन्योक्ति अलंकार के भी प्रयोग कई स्थलों पर बड़े सुंदर ढंग से किए है। जैसे, उदाहरण के लिए, स्वय अपने भीतर ही शुद्धचेतन परब्रह्म का अस्तित्व होने पर भी उस का अनुभव न कर के व्यर्थ दुःखों के झमेले में पड़ने वाले मनुष्य के प्रति कमलिनी फूल की अन्योक्ति द्वारा उपदेश दिया है और कहते हैं कि—

काहेरी नलनी तूं कुमिलानीं,
तेरैं ही नालि सरोवर पांनीं ॥
जल मै उतपति जल मैं बास, जल मै नलनीं तोर निवास ॥
ना तलि तपनि न ऊपरि आगि, तोर हेत कहु कासनि लागि ॥
कहै कबीर से उदिक समान, ते नहीं मूए हंमारे जान [1] ॥ ६४ पद।

अर्थात् हे कमलिनी, तू क्यों मुर्झाती जा रही हो? तुझे हरी भरी रखने के लिए जल को कहीं अन्यत्र ढूँढ़ने की भी आवश्यकता नहीं। तेरा तो नाल ही तालाब के जल में मग्न है। तेरी उत्पत्ति जल में हुई है और तेरा निवास भी

[1] 'कबीर-ग्रंथावली' (का० ना० प्र० सभा), पृ० ८९।

सदा जल ही में रहा करता है। न नीचे तपन है, न ऊपर आग ही है। आखिर तेरा संबंध किस से लग गया अर्थात् किस का प्रभाव तेरे ऊपर पड़ गया। मैं तो समझता हूँ कि इस जल में घुसने पर कभी मृत्यु हो ही नहीं सकती। यहाँ पर आत्मा की उत्पत्ति अथवा स्थिति स्वयं परमात्मा में ही होने के कारण, वास्तव में किसी सच्चे संताप के न होने पर भी, मनुष्य का विषयादि से अपना संबंध जोड़ना और उन से तृप्ति न पा सकने पर दुःखी होना इन्हें केवल मूर्खतापूर्ण जान पड़ता है और इसी लिए वे ऐसा उपदेश देते हैं। इन के सिवा कबीर साहब के पदों में अनेक अन्य अर्थालंकारों अथवा शब्दालंकारों के भी प्रयोग दीख पड़ते हैं और बहुत से स्थलों पर शांत, शृंगार, भयानक, हास्य तथा वीभत्स रस के लक्षणों से सम्पन्न काव्य के चमत्कार भी मिलते हैं परंतु अधिक अवतरण देना ठीक नहीं।

अंत में कबीर साहब के पदों में से हम नीचे कुछ ऐसी पंक्तियां उद्धृत करते हैं जिन में उन के विचारों की स्पष्टता एवं उन की भाषा के टकसालीपन के सुंदर उदाहरण पाए जाते हैं। इन में प्रथम पाँच ऐसे हैं जिन में उन के व्यक्तिगत विचारों के नमूने मिलते हैं और शेष पाँच ऐसे हैं जिन में उन्हों ने अपने सिद्धांतों पर आश्रित कतिपय व्यापक नियमों को लोकप्रिय कहावतों के रूप में व्यक्त किया है। जैसे—

व्यक्तिगत विचार—

अभिअंतरि मन रंग समानां,
लोग कहैं कबीर बौरानां[१] ॥ पद २६।

हरि मरिहैं तौ हमहूँ मरिहैं,
हरि न मरै हम काहे कूँ मरि हैं[२] ॥ पद ४३।

कहै कबीर हूँ ताका दास,
माया माँहैं रहै उदास[३] ॥ पद १०१।

---

[१] 'कबीर-ग्रंथावली' (का० ना० प्र० सभा), पृ० ९७।
[२] वही, पृ० १०२।
[३] वही, पृ० १२०।

मैं परदेसी काहि पुकारौं,
इहाँ नहीं को मेरा।
यहु संसार ढूँढि सब देख्या,
एक भरोसा तेरा[1] ॥ पद १०२।
सति असति कछू नहिं जानूं,
जैसे बजावा तैसे बाजा[2] ॥ पद २९२।

व्यापक नियम—

एक जुगति एकै मिलै, किंबा जोग की भोग।
इन दून्यूं फल पाइये, राम नाम सिधि जोगरे[3] ॥ पद ५।
संपति देखि न हरषिये, बिपति देषि न रोइ।
ज्यूं संपति त्यूं बिपति है, करता करै सु होइ[4] ॥ पद १२१।
सो हिंदू सो मुसलमान, जिसका दुरस रहै ईमान[5] ॥ पद ३५५।
कहैं कबीर यह मन का धोख, बैठा रहै चलन चहै चोख[6] ॥ शब्द ५१।
कहैं कबीर ये कलि है खोटी, जो रहै करवा सो निकरै टोटी[7] ॥ शब्द २१।

ऐसे अनेक अवतरण साखियों अथवा रमैनियों से भी उद्धृत किए जा सकते हैं।

---

[1] 'कबीर-ग्रंथावली', पृ० १८७।
[2] वही, पृ० ८९।
[3] वही, पृ० १२६।
[4] वही, पृ० २०७।
[5] 'बीजक' (बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग), पृ० ५०।
[6] वही, पृ० ४०।

कतिपय प्रस्तरांकित ग्रंथ

[लेखक—प्रोफेसर रामेश्वर-गौरीशंकर ओझा, एम्० ए०]

उपक्रम

भारतीय संस्कृति का अध्ययन करने से जान पड़ता है कि प्राचीन भारत मे लिखने के लिए अनेक प्रकार की सामग्री का उपयोग होता था, जिस मे ताड़पत्र, भूर्जपत्र (भोजपत्र), लकड़ी के पाट, चमड़ा, रुई का कपड़ा, पत्थर, काग़ज़, ईंट, सोने, चाँदी और ताँबे के पत्र आदि उल्लेखनीय है।[1] इन वस्तुओं मे भी भोजपत्र और ताम्रपत्र का विशेष स्थान था। ईसा मसीह से ३२७ वर्ष पूर्व यूनान के बादशाह सिकदर ने भारत पर चढ़ाई की। सिकंदर के साथ आने वाले यूनानी विद्वान् नियार्कस ने अपने व्यक्तिगत अनुभव से लिखा है कि हिंदुस्तान के लोग रुई (या रुई के चिथड़ो) को कूट-कूट कर लिखने के लिए काग़ज़ बनाते हैं।[2] इस से यह निश्चित है कि ईसा से चार शताब्दी पूर्व भारतवासी काग़ज़ बनाते थे; किंतु भारत जैसे विशाल देश की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हाथ से बने हुए काग़ज़ सस्ते और

---

[1] प्राचीन भारत की लेखन-सामग्री के विशेष विवरण के लिए देखो महामहोपाध्याय रायबहादुर गौरीशंकर हीराचंदजी ओझा-रचित 'भारतीय प्राचीन-लिपिमाला' (द्वितीय संस्करण), पृ० १४२-१५८।

[2] मैक्समूलर; हिस्ट्री ऑफ् एंश्यंट संस्कृत लिटरेचर, पृ० ३६७।

बूलर; इंडियन पेलियॉग्राफ़ी (अंग्रेज़ी अनुवाद), पृ० ६।

सुलभ नहीं हो सकते। इस के सिवा उत्तर भारत में भोजपत्र और दक्षिण भारत में ताड़पत्र की बहुतायत तथा अल्प मूल्य में उन के मिल जाने के कारण इस देश में काग़ज़ का थोड़ा प्रचार था।

भारतवर्ष की जलवायु में काग़ज़, भोजपत्र एवं ताड़पत्र पर लिखे हुए ग्रंथ अधिक समय तक सुरक्षित नहीं रह सकते, भारत में मिला हुआ काग़ज़ पर लिखित सब से प्राचीन ग्रंथ ई० स० १२२३-२४ का बतलाया जाता है।[1] मध्य एशिया में यारकंद नगर से ६० मील दक्षिण में कुगियर नामक स्थान से मि० वेबर को काग़ज़ पर लिखे हुए भारतीय गुप्त लिपि के सब से प्राचीन चार ग्रंथ भूमि में गड़े मिले थे; डॉक्टर हॉर्नली ने उन का समय ई० स० की पाँचवीं शताब्दी माना है।[2] कई वर्ष पूर्व Dutreuil de Rhins नामक विद्वान् को खोतान (चीनी तुर्किस्तान) से ई० स० की तीसरी शताब्दी की खरोष्ठी लिपि में भोजपत्र पर लिखे हुए बौद्ध ग्रंथ 'धम्मपद'[3] (प्राकृत) का कुछ अंश मिला था, जो इस संबंध में प्राचीनतम उदाहरण है। इस के सिवा भोजपत्र पर लिखित अति प्राचीन ग्रंथों में बावर साहब को चीनी तुर्किस्तान के कुचर (या कुचा) नामक स्थान से मिला हुआ 'नावनीतक'[4] नाम का वैद्यक-संबंधी संस्कृत ग्रंथ एवं सर ऑरल स्टाइन को खडलिक् (खोतान

---

[1] बूलर; कैटैलॉग ऑव् संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स कंटेंड इन दि प्राइवेट लाइब्रेरीज़ ऑव् गुजरात, काठियावाड़, कच्छ, सिंध ऐंड खानदेश; भाग १, पृ० २३८, ग्रंथ-संख्या १४७।

[2] जर्नल ऑव् दि एशियाटिक सोसाइटी ऑव् बंगाल; जि० ६२, पृ० ८।

[3] डॉ० बार्नेट; ऐंटिक्विटीज़ ऑव् इंडिया, पृ० २२८।
बूलर; इंडियन पेलियॉग्राफ़ी, पृ० ९८।

[4] बार्नेट; ऐंटिक्विटीज़ ऑव् इंडिया, पृ० २२८।
डॉ० हॉर्नली; दि बावर मैनुस्क्रिप्ट; प्रस्तावना, पृ० ४७, टि० ७३।
बूलर; इंडियन पेलियॉग्राफ़ी, पृ० ९८।

प्रदेश) से प्राप्त 'सयुक्तागम'[1] के सस्कृत पाठ की खडित प्रति उल्लेखनीय हैं जर्मन पुरातत्त्वान्वेषक दल की मध्य एशिया की यात्रा मे तुरफाँ नामक स्थान से प्राप्त ई० सन् की दूसरी शताब्दी के आसपास के नाटको के त्रुटित अश[2] जिन्हें सुप्रसिद्ध पुराविद् डॉक्टर लूडर्स ने अपने K'leinere Sanskrit-texte के प्रथम भाग में प्रकाशित किया है, अब तक मिले हुए ताड़पत्रों पर लिखित सब से प्राचीन ग्रंथों का परिचय देते हैं। भारत मे गुजरात एव राजपूताने के कतिपय राज्यों, तञ्जोर, मद्रास, कलकत्ता, पूना, काशी तथा नेपाल, बड़ौदा और काश्मीर राज्यों के पुस्तकालयों और जैन पुस्तक-भंडारों में ताड़पत्र, भोजपत्र एव कागज़ पर लिखे हुए ग्रंथों के वृहत् संग्रह विद्यमान है। इसी प्रकार यूरोप और अमेरिका के सुप्रसिद्ध पुस्तकालयों में भी भारतीय हस्तलिखित ग्रथों के उत्तम सग्रह हैं। अनेक विद्वानों के परिश्रम के फल-स्वरूप उक्त संग्रहों के कई एक ग्रथ प्रतिवर्ष प्रकाश में आते रहते हैं।

धातु अथवा पत्थर की अपेक्षा ताड़पत्र एवं भोजपत्र की आयु थोड़ी होने के कारण प्राय: राजाज्ञाएँ, दान की सनदे, महलों, मंदिरों, मठों, स्तूपों, कुओं, बावड़ियों, तालाबों आदि के निर्माण-विवरण तथा अन्य महत्त्वपूर्ण विषय चिरस्थायी करने के हेतु ताम्रपत्रों या शिलाओं पर खोदे जाते थे। भारतीय एवं विदेशी विद्वानों के अथक परिश्रम से उपर्युक्त विषयों के सिवा धातु और पत्थर पर खुदे हुए कतिपय प्राचीन ग्रंथो का भी पता चला है। सुप्रसिद्ध चीनी यात्री हुएन्त्संग के यात्रा-विवरण से ज्ञात होता है कि राजा कनिष्क ने पार्श्व नामक प्रसिद्ध विद्वान् की प्रेरणा से काश्मीर मे बौद्ध सघ एकत्र किया, जिस ने सूत्रपिटक पर 'उपदेशशास्त्र', विनयपिटक पर 'विनयविभाषाशास्त्र' और अभिधर्मपिटक पर 'अभिधर्मविभाषाशास्त्र' नामक लाख-लाख श्लोकों

---

[1] महामहोपाध्याय रा० ब० गौरीशंकर हीराचंदजी ओझा; भारतीय प्राचीन लिपिमाला (द्वितीय संस्करण), पृ० २, टिप्पण २ तथा पृ० १४४।

बार्नेट; ऐंटिक्विटीज़ ऑव् इंडिया; पृ० २२८-२९।

[2] बार्नेट; ऐंटिक्विटीज़ ऑव् इंडिया; पृ० २२८।

की तीन टीकाएं तैयार कीं। कनिष्क ने तीनों टीकाओं को ताम्रपत्रों पर खुदवाया[1] और उन्हे पत्थर की संदूकों मे रख कर उन पर स्तूप बनवाया था। कहते हैं कि सायण का वेदभाष्य भी पहले ताँबे के पत्रों पर खुदवाया गया था।[2] ई० सन् १८२० में कैंबेल नामक विद्वान् को पता चला कि त्रिपति (मद्रास प्रांत) के प्रसिद्ध मंदिर के ब्राह्मणों (पुजारियों) के संग्रह मे कोई एक हज़ार ताम्रपत्रों पर खुदे हुए कतिपय काव्य सुरक्षित हैं[3]। इस पर उन्हों ने किसी देशी विद्वान् को भेज कर उन की जाँच कराई, तो मालूम हुआ कि उन पर व्याकरण का एक ग्रंथ तथा त्रिपति-मंदिर के देवता के स्तोत्र[4] खुदे हुए थे। कभी कभी धनिकों के कुटुंब-संबंधी आवश्यक विषय, महत्त्व-पूर्ण राजकीय आदेश, बौद्धधर्म के नियम और अन्य प्रकार के उपयोगी विषय आदि सोने और चाँदी के पत्रों पर खोदे जाते थे,[5] परंतु सोना बहुमूल्य धातु होने से उस का उपयोग कम ही

---

[1] बील; बुद्धिस्ट रैकर्ड्ज़ ऑव् दि वेस्टर्न वर्ल्ड, जि० १, पृ० १५५, वॉटर्स; ऑन युवन च्वांग्ज़ ट्रैवल्स इन इंडिया, जि० १, पृ० २७१।

[2] बायोग्राफ़िकल स्केचेज़ ऑव डेकन पोएट्स, पृ० ४५। मैक्समूलर; ऋग्वेद, जि० १, १७। बर्नेल; ऐलिमेंट्स ऑव् साउथ इंडियन पेलियॉग्राफ़ी; पृ० ८६, टि० ४।

[3] तेलुगु ग्रामर (द्वितीय संस्करण); पृ० १३।

[4] बर्नेल; ऐलिमेंट्स ऑव् साउथ इंडियन पेलियॉग्राफ़ी; पृ० ८६-८७।

[5] बार्नेट; ऐंटिक्विटीज़ ऑव् इंडिया; पृ० २३०।

जनरल कनिंगहम को तक्षशिला के गंगू नामक स्तूप से खरोष्ठी लिपि में खुदा हुआ एक सुवर्ण-पत्र मिला था (रिपोर्ट ऑव् दि आर्कियालॉजिकल सर्वे ऑव् इंडिया; जि० २, पृ० १३० और प्लेट ५९)। ह्मज़्वा गाँव (प्रोम ज़िला, बर्मा) से ई० स० की पाँचवीं शताब्दी के आस पास के दो स्वर्ण-पत्र मिले हैं, जिन में से प्रत्येक के आरंभ में 'ये धर्म हेतु प्रभवा०' श्लोक और उस के अनंतर पाली भाषा का गद्य है (ऐपिग्राफ़िया इंडिका, जि० ५, पृ० १०१ और उस के पास का प्लेट)। जातक ग्रंथों में पुस्तकों तथा कई एक अन्य विषयों के स्वर्ण-पत्र लिखे जाने का

होता होगा। इन्हें एक प्रकार से तत्कालीन 'राज-संस्करण' (Editions de luxe) मानना चाहिए। लंदन के ब्रिटिश म्यूज़ियम् में टीन पर लिखा हुआ एक प्राचीन बौद्ध ग्रंथ[1] विद्यमान है। अस्तु।

संस्कृत के प्रसिद्ध ग्रंथ 'महानाटक' के बारे में जनश्रुति प्रचलित है कि पहले पहल वह शिलाओं पर खोदा गया था, जिन्हें बाल्मीकि (अथवा किसी अन्य व्यक्ति) ने समुद्र में डाल दिया था;[2] फिर मालवे के लोक प्रसिद्ध प्रतापी राजा भोज ने उन्हें निकलवाया। शिलाओं पर खुदे हुए ग्रंथों के विषय में अब तक हिंदी में कुछ भी नहीं लिखा गया; इसलिए इस नवीन विषय की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट कर हम निम्न पंक्तियों में उन्हें शिलाओं पर खुदे हुए कतिपय ग्रंथों का काल-क्रम के अनुसार, परिचय कराते हैं। आशा है, इस से उन का मनोरंजन होगा।

उल्लेख मिलता है (इस संबंध में विशेष परिचय के लिए देखो 'भारतीय प्राचीन लिपि माला,' पृ० ५, टि० १-८ एवं बूलर-रचित 'इंडियन पेलियॉग्राफी', पृ० ५)। चाँदी का एक पत्रा भट्टिप्रोलु के स्तूप (बूलर; इंडियन पेलियॉग्राफ़ी; पृ० ९५) और एक तक्षशिला (जर्नल ऑव् दि रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, ई० स० १९१४, पृ० ९७५-७६ और ई० स० १९१५, पृ० १९२ के सामने का प्लेट) से मिला है। लंदन के ब्रिटिश म्यूज़ियम् में रजत-पत्रों पर खुदा हुआ एक पाली ग्रंथ विद्यमान है (बर्नेल; ऐलिमेंट्स ऑव् साउथ इंडियन पेलियॉग्राफ़ी, पृ० ८७)।

[1] जर्नल ऑव् दि पाली टेक्स्ट सोसाइटी, ई० स० १८८३, पृ० १३४ और आगे।

[2] रचितमनिलपुत्रेणाथ वाल्मीकिनाब्धौ

निहितममृतबुद्ध्या प्राङ्महानाटकं यत्।

सुमतिनृपतिभोजेनोद्धृतं तत्क्रमेण

ग्रथितमवतु विश्वं मिश्रदामोदरेण॥

अंक १४, श्लोक ९६ (इस श्लोक पर मोहनदास मिश्र-रचित 'हनुमन्नाटक-दीपिका' नाम की टीका भी देखनी चाहिए)।

दि इंडियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली, जि० ७, पृ० ५२९, टिप्पण ३ ४ और पृ० ५४०

चित्र १—भोजशाला में शिला पर खुदे हुए 'कूर्मशतक'

(कॉपीराइट—ऑर्कियॉलॉजिकल सर्वे ऑव् इंडिया)

(१-२) भोजशाला के कूर्मशतक
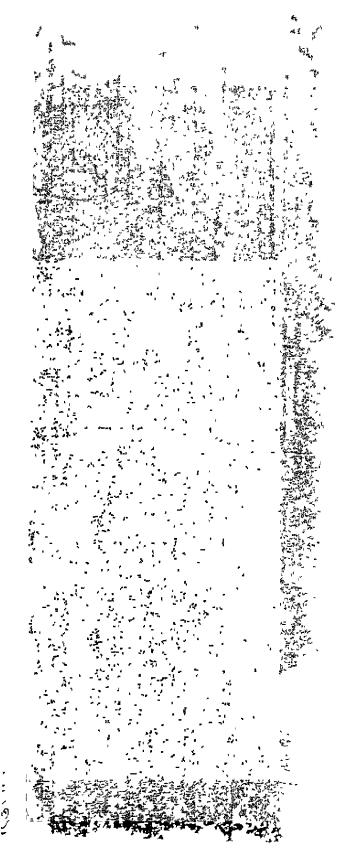
पूर्व-मध्यकालीन भारत में मालव देश पर परमार वंश के अनेक प्रतापी राजाओं ने राज्य किया। परमारों की राजधानी धारा (मध्य भारत के धार राज्य की उसी नाम की राजधानी) प्राचीन काल में भारत-प्रसिद्ध नगरी थी। सुप्रसिद्ध विद्यानुरागी राजा भोज ने इस नगरी की शोभा बढ़ाई। भोज जैसे गुणग्राहक नरेश के द्वारा उस नगरी में अनेक विद्वानों का सम्मान होता रहता था। राजा भोज ने उस नगरी में 'सरस्वती कण्ठाभरण' नामक सुविशाल महाविद्यालय (कॉलेज) बनवाया था।[1] मालवे में मुसलमानी राज्य की स्थापना के अंतर सरस्वती कण्ठाभरण को मस्जिद में परिवर्तित किया जा कर उस का 'कमाल मौला' नाम रक्खा गया।

ई० स० १९०३ के नवंबर मास में उक्त मस्जिद के खास मेहराब की दीवार में लगी हुई दो शिलाओं के भीतर की तरफ़ अक्षर खुदे रहने का पता चला। दीवार से उन शिलाओं को निकालने पर जान पड़ा कि उन पर अत्यंत उत्कृष्ट देवनागरी लिपि में ग्रंथ खुदे हुए थे। उन में से एक शिला (५½'×४½') पर दो काव्य खुदे हैं, जिन में से प्रत्येक में, १०९ आर्या छंदों में, विष्णु के कूर्म (कछुआ) अवतार का वर्णन मिलता है। ई० स० १९३० के मई मास में इन पंक्तियों के लेखक ने भोजशाला में इन ग्रंथों को देखा था।

इन काव्यों की लिपि ग्यारहवीं शताब्दी की देवनागरी है। अक्षर बड़े सुंदर और सुडौल हैं। इस शिला पर ८३ पंक्तियाँ हैं, जिन्हें शिल्पी ने बड़ी सावधानी से खोदा है। कुछ अक्षरों की बनावट जैन हस्तलिखित ग्रंथों के अक्षरों से मिलती-जुलती है। काव्यों की भाषा महाराष्ट्री प्राकृत है; किंतु उस में

---

[1] राजा भोज के राज्य-काल के विशेष परिचय के लिए देखो 'धार स्टेट गैज़ेटियर' (कैप्टन लुअर्ड-संकलित), पृ० १४०-५४।

कुछ अपभ्रंश रूप भी पाए जाते है, जैसे 'मिलवि',[१] 'एह',[२] 'आएण',[३] 'लोअ',[४] इत्यादि। इन के सिवा कतिपय देशी शब्द भी मिलते है, जिन का अन्यत्र प्रयोग नहीं देख पड़ता। इन्हें पढ़ते हुए कई स्थलों पर भाषा की समानता जान पड़ती है, यहाँ तक कि कहीं-कहीं कोई-कोई पंक्ति अक्षरशः दुहराई गई है। उदाहरणार्थ पहले कूर्मशतक में श्लोक २३ और २८,[५] ३२ और ३३[६] तथा ९८ और १०१[७] का पूर्वार्ध एक दूसरे से अक्षरशः मिलता है। कहीं-कहीं दो श्लोकों की भाषा में बहुत थोड़ा अंतर रह गया है। इस संबंध में पहले कूर्मशतक के श्लोक ७ और ८ का उत्तरार्ध,[८] ६ और १२ का पूर्वार्ध[९] तथा ९३ और ९४ उल्लेखनीय[१०] हैं। 'न य जाओ नेअ जम्मिहिइ' यह चरण पाँच श्लोकों[११] के अंत में देख पड़ता है।

---

[१] मिलवि पसूहिं धारिया—दूसरे कूर्मशतक का १०८ वाँ श्लोक।

[२] एह धारिआ कहं कह व— " " का ४५ वाँ श्लोक।

[३] कमढो धरेइ धरणिं आएणं— " " का ४८ वाँ श्लोक।

[४] लोअ पसिद्धीए कए— " " का ६१ वाँ श्लोक।

[५] परिकलिउं न चइज्जइ अज्झवसाओ हु एत्थ पुरिसाण।

[६] दुज्जणजणो हु जंपइ पट्ठी कुम्मेण ओड्डिआ भारे।

[७] जइ जम्मो च्चिअ लब्भइ ता लब्भउ कमढजम्मसारिच्छो।

[८] अविरोलं भुअणभरो उव्वूढो तेण एक्केण—श्लोक ७। आजम्मं भुअण [भ] रं उव्वूढो जेण एक्केण—श्लोक ८

[९] एक्क च्चि [अ] सा धन्ना मज्झे महिलाण पसविआ कमढी—श्लोक ६।
धन्ना सि कच्छवि तुमं मज्झे महिलाण पसविआ तं सि—श्लोक १२।

[१०] सेसकिरिकुम्मदिग्गयपमुहाणं निअह ववसिअं लोआ।
अप्पा परस्स कज्जे आजम्मं जेहिं तह खविओ॥ ९३॥
किरिसेसकमढदिग्गयपमुहाणं निअह ववसिअं लोआ।
चइऊण निअयसोक्खं अप्पा जेहिं तहा खविओ॥ ९४॥

[११] १०, १६, ४८, ५५ और ८५ (पहला कूर्मशतक)।

ये कूर्मशतक काव्य की दृष्टि से विशेष महत्त्व नहीं रखते, किंतु महाराष्ट्री प्राकृत के अध्ययन के लिए उपयोगी हैं। पहले कूर्मशतक में मुख्य भाव यह है कि किसी ने पृथ्वी को (विष्णु-रूपी) कछुए के समान भली भाँति नहीं उठाया और न जगत् में कोई माता उस कछुए की माता के समान धन्य[1] एवं वंदनीय है। इसी भाव को लेखक ने कई बार भिन्न भिन्न प्रकार से व्यक्त किया है। दूसरे कूर्मशतक में बतलाया गया है कि पृथ्वी के भार को वहन (पालन) करने वाला राजा भोज कूर्मावतार से भी बढ़ कर[2] है। पहले कूर्मशतक के १०७ वें श्लोक[3] तथा उस के अंत में लिखे हुए "इति श्री महाराजाधिराज परमेश्वर श्री भोजदेवविरचितं कूर्मशतकम्" से जान पड़ता है कि उस की रचना स्वयं राजा भोज ने की थी। दूसरे से राजा भोज की बहुत अधिक प्रशंसा और कई वार उस का संबोधन देख कर अनुमान होता है कि भोजदेव के किसी आश्रित कवि ने—भोज जैसे परम विद्यानुरागी नरेशों के आश्रय में अनेक सुकवि रहा करते थे—अपने स्वामी को प्रसन्न करने की इच्छा से उस की रचना की हो। यह मत असंगत नहीं प्रतीत होता कि अपनी अत्यधिक प्रशंसा से प्रसन्न हो कर राजा भोज ने अपने को उस काव्य का रचयिता प्रकट करने की स्वीकृति दे दी हो, जैसा कि उस के १०९ वें श्लोक[4] से भोज द्वारा उक्त शतक की रचना का पता चलता है।

---

[1] कुम्मेण को णु सरिसो विणा वि कज्जेण जेण एक्केण।
जह निअसुहस्स पट्ठी तह दिण्णा भुअणभारस्स ॥ ५ ॥
एक्क च्चि [अ] सा धन्ना मज्झे महिलाण पसविआ कमढी।
अइदुव्वहो वि वूढो भुअणभरो जीए जाएण ॥ ६ ॥

[2] धरणि तुमं अइगरुई तुज्झ सयासाओ कच्छओ गरुओ।
भोएण सो वि जित्तो गरुआहिन्वि अत्थि गुरुअयरा ॥ १८ ॥

[3] कुम्मस्स वि वीसामो दिन्नो एक्केण भोअराएण।
हरिऊण वेरिआसं कुम्मसयं विइअं तेण ॥

[4] कुलगिरिणो भूमिहरा सयला वि हु लहुइआ इहं जेण।
तेण सयं निम्मविअं एअं सिरिभोअराएण ॥

(२-६) अमरेश्वर के स्तोत्र

मध्य भारत के इंदौर नगर से करीब ५० मील दक्षिण-पश्चिम मे मध्य प्रदेश के नीमाड़ ज़िले के अंतर्गत नर्मदा-तट पर ओंकारेश्वर नामक पुराना क़स्बा है। यह बहुत प्राचीन स्थान है। इस की गणना भारत के प्रमुख तीर्थस्थानों में होती है। शिव के सुप्रसिद्ध द्वादश ज्योतिर्लिंगों में से एक यहाँ बतलाया जाता है। ई० स० १९३१ के अप्रैल मास मे मैं ओंकारेश्वर गया और वहाँ तीन दिन ठहर कर मैं ने प्रायः सभी प्राचीन देवालयों का निरीक्षण किया। वहाँ के देवालयों में एक को लोग ममलेश्वर-मंदिर कहते हैं। यह अति-प्राचीन शिवालय है। ज्योतिर्लिंगों की गणना के श्लोक में, 'उज्जयिन्यां महा-कालमोङ्कारममलेश्वरम्' पाठ के 'ओङ्कारममलेश्वरम्' की सन्धि पृथक् करने से ओङ्कारम् + अमलेश्वरम् होता है। इस से सहज ही अनुमान हो सकता है कि जिसे 'ममलेश्वर' नाम से पुकारा जाता है, उस का शुद्ध रूप 'अमलेश्वर' (उपर्युक्त श्लोक के अनुसार) अथवा 'अमरेश्वर' (रलयोरभेदात्) होना चाहिए। इस देवालय में खुदे हुए लेखों में इस का 'अमरेश्वर' नाम लिखा मिलता है। ओंकारेश्वर का मंदिर नर्मदा के उत्तरी तट और अमरेश्वर दक्षिणी तट पर है। मुझे ओंकारेश्वर मंदिर की अपेक्षा अमरेश्वर शिवालय कहीं पुराना प्रतीत हुआ। इस का शिल्प और वर्तमान स्थिति इस की विशेष प्राचीनता के परिचायक हैं। मुझे तो वहाँ यही अनुमान हुआ कि ज्योतिर्लिंग की स्थिति इसी शिवालय में होनी चाहिए, न कि ओंकारजी के वर्तमान मंदिर में। इंदौर की पुण्यश्लोका महारानी अहल्याबाई के समय से अब तक अमरेश्वर मंदिर में प्रतिदिन लिंगार्चन होता है।

इस शिवालय के सभामंडप और गर्भगृह के बीच एक कमरा बना हुआ है, जिस में प्रायः घना अँधेरा रहता है। इस की दाहिनी और बाईं ओर की दीवारों पर अनेक छोटे बड़े लेख खुदे हुए हैं जिन में से वि० सं० ११२० (ई० स० १०६३) में खुदे हुए चार स्तोत्र उल्लेखनीय हैं। शेष लेखों में केवल यात्रियों के नाम आदि का निर्देश है।

उपर्युक्त चार स्तोत्र मालवे के परमार-वंशी राजा उदयादित्य (ई० स० १०५९-८१) के राज्यकाल में खोदे गए थे। इन में से दो—क्रमशः नर्मदा और अमरेश्वर महादेव संबंधी—अष्टक हैं। इन के अंतिम श्लोकों से मालूम होता है कि देवप्रसाद नामक किसी विद्वान् ने इन की रचना की थी।[1] इन से रचयिता के निवास स्थान आदि का पता नहीं चलता।

तीसरा एक शिव-स्तोत्र है, जिस में ६३ श्लोक हैं। इस का रचयिता बंगाल के राढ़ा प्रांत के नवग्राम (नौगाँव) से आया हुआ हलायुध पंडित था।[2] संस्कृत साहित्य में हलायुध नामक अनेक पंडितों के नाम मिलते हैं। ऑफ़्रेक्ट महोदय ने अपने बृहद् सूचीपत्र में हलायुध नाम के तेरह व्यक्तियों[3] का उल्लेख किया है। इन में से इस स्तोत्र का रचयिता कौन हो सकता है, इस संबंध में कुछ विवेचन आवश्यक जान पड़ता है। भट्टि-काव्य के ढंग पर

---

[1] एतां नमद्विबुधवृन्दकिरीटरत्न-
कान्तिच्छटाच्छुरितपादसरोरुहायाः ।
देवप्रसादरचितामिह नर्मदाया
यः संस्तुतिं पठति तस्य फलंति कामाः ॥

—नर्मदाष्टक

एतां जगत्त्रयगुरोरमरेश्वरस्य
देवप्रसादरचितां स्तुतिमष्टमूर्तेः ।
यः प्रत्यहं पठति तं समुपैति लक्ष्मीः
सिध्यन्ति तस्य निखिलान्यपि वाञ्छितानि ॥

—अमरेश्वराष्टक

[2] द्विजो दक्षिणराढीयो नवग्रामविनिर्गतः ।
हलायुधबुधः शंभोरिमां स्तुतिमरीरचत् ।

[3] कैटैलॉगस् कैटैलागरम्, भाग १, पृ० ७६४;
भाग ३, पृ० १५७।

लेखे हुए 'कविरहस्य' अथवा 'कविगुह्य' नामक काव्य मे उस के कर्ता हलायुध[1] पंडित ने दक्षिण के सोमवंशी राष्ट्रकूट राजा कृष्णराज को अपना नायक बनाया है। राष्ट्रकूट वंश में कृष्णराज नाम के तीन राजा हुए, जिन का राज्य-काल क्रमशः ७५३-७५ ई०,[2] ८७५-९११ ई० और ९४०-५६ ई०[3] था। हलायुध इन में से किसी एक कृष्णराज के समय में विद्यमान रहा होगा, यह मानना असंगत प्रतीत नहीं होता।[4] इन तीनों राजाओं के राजत्व-काल और स्तोत्र के खोदे जाने के समय में इतना अधिक अंतर है कि उसे देखते हुए 'कवि-रहस्य' का प्रणेता किसी प्रकार इस स्तोत्र का रचयिता नहीं माना जा सकता। हलायुध नामक एक अन्य पंडित बंगाल के राजा लक्ष्मणसेन (ई०

---

[1] गैज़ेटियर ऑव् दि बॉम्बे प्रेसिडेंसी (कैम्बेल-संपादित) जि० १, भाग २, पृ० २०८ ऑफ्रेक्ट; कैटैलॉगस् कैटैलॉगरम्, भाग १, पृ० ८७।

[2] गैज़ेटियर ऑव् दि बॉम्बे प्रेसिडेंसी, जि० १, भाग २, पृ० १७६।

[3] वही, पृ० २१०।

[4] डॉ० कीथ ने 'कविरहस्य' का कृष्णराज तीसरे से संबंध बतलाया है (ए हिस्ट्री ऑव् संस्कृत लिटरेचर पृ० १८ और १३३)। उन के मतानुसार हलायुध के ग्रंथों का समय ई० स० ९५० के आसपास—कृष्णराज तृतीय का राजत्व-काल—होना चाहिए। सर राजकृष्ण गोपाल भंडारकर ने 'कविरहस्य' के कृष्णराज को कृष्णराज प्रथम मान कर उक्त पंडित का समय ई० स० की नवीं शताब्दी का प्रारंभ अनुमान किया है (ई० स० १८८३-८४ की रिपोर्ट ऑन दि सर्च फॉर संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन् दि बॉम्बे प्रेसिडेंसी, पृ० ९) इसी हलायुध पंडित ने 'अभिधानरत्न-माला' नामक कोष (कैटैलॉगस् कैटैलॉगरस्, जि० १, पृ० २४। भंडारकर, उपर्युक्त रिपोर्ट, पृ० ९) की रचना की। ऑफ्रेक्ट ने इस का एक उत्तम संस्करण सन् १८६१ ई० में प्रकाशित किया था। इस ग्रंथ का समय भी ई० स० ९५० माना जाता है (मैकडॉनल; ए हिस्ट्री ऑव् संस्कृत लिटरेचर, पृ० ४३३। कीथ; ए हिस्ट्री ऑव संस्कृत लिटरेचर, पृ० ४१४)।

स० ११८५-१२०६) के पास था।[1] वह उस का मंत्री[2] और संस्कृत का अच्छा विद्वान् था। उस ने 'द्विजनयन', 'पंडितसर्वस्व', 'ब्राह्मणसर्वस्व', 'मीमांसासर्वस्व', 'वैष्णवसर्वस्व', 'शैवसर्वस्व' और 'श्राद्धपद्धतिटीका', की रचना[3] की। 'धार स्टेट गैज़ेटियर' के साथ कैप्टन लुअर्ड और पं० काशिनाथजी लेले द्वारा लिखित 'परमार्स ऑव् धार ऐंड मालवा' शीर्षक परिशिष्ट 'सी' मे मालवे के परमार राजाओं का संक्षिप्त इतिहास संकलित किया गया है। उस में वाक्पतिराज द्वितीय (मुंज, ई० स० ९७३-९९७) के दरबार के विद्वानों मे से हलायुध के संबंध में विवेचन करते हुए लिखा है कि "ई० स० ११९९ में बंगाल के अंतिम हिंदू राजा लक्ष्मणसेन के दरबार में हलायुध नामक विद्वान् था; संभव है, वह मांधाता [अर्थात् ओंकारेश्वर] में अमरेश्वर मंदिर की दीवार पर खुदे हुए शिवस्तोत्र का कर्ता हो[4]।" यह पहले बतलाया जा चुका है कि उक्त स्तोत्र का समय ई० स० १०६३ (वि० सं० ११२०) है। ई० स० १०६३ और ११९९ में १३६ वर्ष का अंतर है, जिसे देखते हुए उपर्युक्त विद्वानों का अनुमान सर्वथा असंगत प्रतीत होता है। जिस पंडित ने ई० स० १०६३ में इस स्तोत्र को अमरेश्वर मंदिर मे खुदवाया, उस की सन् ११९९ ई० में विद्यमानता तभी संभव हो सकती है, जब उस की आयु १५० वर्ष से अधिक मानी जाय। हमारे मतानुसार लक्ष्मणसेन के दरबार का हलायुध पंडित और इस स्तोत्र का रचयिता दो बिलकुल भिन्न व्यक्ति हैं। डॉ० बूलर का कथन है कि परमारवंशी वाक्पतिराज द्वितीय (मुंज) के दरबार में भी हलायुध नामक एक विद्वान् था,[5] जिस ने पिंगल के छंदस्सूत्रों

---

[1] हेमचंद्र राय; दि डाइनेस्टिक हिस्ट्री ऑव् नॉर्दर्न इंडिया, जि० १, पृ० ३७५। कीथ; ए हिस्ट्री ऑव् संस्कृत लिटरेचर, पृ० ४४८।

[2] ऑफ्रेक्ट; कैटैलॉगस् कैटैलॉगरम्, भाग १, पृ० ७६४।

[3] वही, पृ० ७६४।

[4] पृ० १३६।

[5] एपिग्राफ़िया इंडिका; जि० १, पृ० २२७।

पर 'पिंगलछन्दष्टीका' नामक व्याख्या लिखी[1]। ऑफ्रेक्ट ने इस का नाम हलायुध भट्ट लिखा है। यह धर्मशास्त्र का अच्छा ज्ञाता था। इस ने 'राजव्यवहारतत्त्व' नामक धर्मशास्त्र-संबन्धी ग्रंथ लिखा। अच्छा धर्मशास्त्रज्ञ होने से मुंज राजा ने इसे न्यायाधीश[2] के पद पर नियुक्त किया था। मुंज के राजत्व-काल में ही उस की पर्याप्त आयु रही होगी, क्योंकि यह संभव नहीं कि मुंज जैसा नीतिनिपुण एवं विद्वान् नरेश किसी नवयुवक को न्यायाधीश नियुक्त करे। इस के साथ यह भी विचारणीय है कि मुंज राजा के देहांत के क़रीब ६६ वर्ष पश्चात् यह स्तोत्र खोदा गया था। उस समय—ई० स० १०६३ में—इस हलायुध पंडित का विद्यमान रहना संभव नहीं है। अतः स्तोत्र-प्रणेता को इस हलायुध से कोई भिन्न व्यक्ति होना चाहिए। इस संबंध में यह मत युक्तिसंगत प्रतीत होता है कि अब तक स्तोत्र के समय से आगे-पीछे के जिन हलायुध नामक पंडितों का पता चला है, उन से इस स्तोत्र का रचयिता कोई भिन्न विद्वान् है। इस स्तोत्र से जान पड़ता है कि प्राचीन काल में बंगाल के विद्वान् मालव देश में आया जाया करते थे।

चौथा उल्लेखनीय स्तोत्र, बाईं ओर की दीवार के नीचे के भाग में खुदा हुआ, शिव का 'महिम्नस्तोत्र' है। यजुर्वेद के रुद्राध्याय के समान इस पवित्र स्तोत्र में भी धर्मप्राण हिंदू समाज की बहुत अधिक श्रद्धा है। शायद ही कोई पठित ब्राह्मण होगा, जिस के पास 'महिम्नस्तोत्र' की पुस्तिका न हो। शंकर के अभिषेक में इस पवित्र स्तव का प्रायः पाठ होता है। इस की भाषा बहुत सुंदर है। छोटा होने से इसे कंठाग्र करने में कठिनाई नहीं होती; इसी लिए ब्राह्मण प्रायः इस भक्तिरसपूर्ण स्तव को कंठाग्र कर लेते हैं।

---

[1] कैटैलॉगस् कैटैलॉगरम्, जि० १, पृ० ७६४।

कीथ; ए हिस्ट्री ऑव् संस्कृत लिटरेचर, पृ० ४१६, टिप्पण ३

डॉ० कीथ ने 'कविरहस्य' के कर्त्ता हलायुध को ही पिंगल के छन्दस्सूत्रों का टीकाकार माना है।

[2] धार स्टेट गैज़ेटियर, पृ० १२६।

यह स्तोत्र २० पंक्तियों में खुदा हुआ है। इस की लिपि बारहवीं शताब्दी की मालवे में प्रचलित देवनागरी है। अक्षर सुडौल एवं सुंदर हैं। कहीं कहीं पत्थर टूट जाने से कुछ अक्षर जाते रहे हैं। वि० सं० ११२० में इस को शिव-भक्त भट्टारक गंधध्वज ने स्वयं लिखा था। अमरेश्वर मंदिर से मिली हुई महिम्नस्तव की इस प्रस्तरांकित प्रति में केवल ३१ श्लोक पाए जाते हैं। ३१ वें श्लोक के अनंतर लिखा है कि "इति श्रीमहिम्नस्तवं समाप्तमिति"। इस से जान पड़ता है कि आज से ८७० वर्ष पूर्व, जब यह स्तोत्र वहाँ खोदा गया था, महिम्नस्तव—आजकल प्रचलित ४०, ४१, ४२ या ४३ श्लोकों के स्थान में केवल ३१ श्लोक का था। इस से यह अनुमान हो सकता है कि ३१ वें से आगे के श्लोक वि० सं० ११२० के पश्चात् किसी समय जोड़े गए हों।

प्रचलित प्रतियों में इस स्तोत्र के प्रणेता के संबंध में यह कथा प्रचलित है कि पुष्पदंत नामक गंधर्वराज किसी राजा के बाग से प्रतिदिन फूल तोड़ लिया करता था। यह जान उस राजा ने सोचा कि यदि गंधर्वराज शिव-निर्माल्य को लाँघ जाय, तो उस की अंतर्धान की शक्ति नष्ट हो जायगी। राजा के इस उपाय से अनभिज्ञ होने के कारण उपवन में प्रवेश करते ही पुष्पदंत शक्तिहीन हो गया। फिर उसे प्रणिधान द्वारा शिव-निर्माल्य को लाँघने से अपनी शक्ति के ह्रास का पता चला। तब उस ने शिव-महिमा और अपनी भक्ति को व्यक्त करने के लिए इस स्तोत्र की रचना[1] की। प्रचलित पाठ के ३७ वें श्लोक[2] से भी इस कथा का कुछ आभास मिलता है। ३१ वें से आगे के श्लोकों में स्तोत्र-प्रणेता

---

[1] महिम्नस्तोत्रम्, मधुसूदन सरस्वती-रचित द्व्यर्थी टीका सहित (निर्णय-सागरसंस्करण) पृ० १।

[2] कुसुमदशननामा सर्वगन्धर्वराजः
शिशुशशिधरमौलेर्देवदेवस्य दासः।
स खलु निजमहिम्नो भ्रष्ट एवास्य रोषा-
त्स्तवनमिदमकार्षीद्दिव्यदिव्यं महिम्नः॥

पुष्पदंत का चार[1] बार नामोल्लेख हुआ है, और प्रचलित प्रतियों के आरंभ एवं अंत में क्रमशः 'पुष्पदंत उवाच' तथा 'श्रीपुष्पदंत विरचितं शिवमहिम्नस्तोत्रं सम्पूर्णम्' लिखा मिलता है, किंतु हमें अमरेश्वर में मिली हुई इस प्राचीन प्रति में कहीं भी पुष्पदंत का नाम नहीं देख पड़ता; इस लिए यह निश्चय-पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि शिवमहिम्नस्तव का रचयिता कौन था—गंधर्वराज पुष्पदंत अथवा कोई अन्य संस्कृतज्ञ विद्वान्? उदयपुर (मेवाड़) के राजघराने में करजाली के परमयोगी महाराज चतुरसिंहजी (स्वर्गवासी) ने इस स्तोत्र का मेवाड़ी भाषा में समश्लोकी अनुवाद किया है। उस की भूमिका में उन्हों ने इस स्तोत्र की ताड़पत्र पर लिखी हुई एक बहुत प्राचीन प्रति मिलने का उल्लेख किया है[2], किंतु वहाँ उस के समय आदि का निर्देश न होने से नहीं कह सकते कि वह हमें मिली हुई इस प्रस्तरांकित प्रति से अधिक प्राचीन है अथवा नहीं। इस प्रति से स्तोत्र-प्रणेता का कोई पता न चलने से हम इस प्रश्न को हल करने का भार विज्ञ पाठकों पर छोड़ते हैं।

यदि प्रचलित स्तोत्र को ध्यान-पूर्वक पढ़ा जाय, तो ३१ से आगे श्लोकों में अर्थ की सरलता और पहले के श्लोकों की भाषा से स्पष्ट अंतर प्रतीत होता है। इस अंतर से भी अनुमान हो सकता है कि ये श्लोक पीछे से जोड़े गए हों। देवगिरि (वर्तमान दौलताबाद, दक्षिण हैदराबाद राज्य) के यादव राजा कृष्ण या कृष्णदेव (ई० स० १२४७-६०) के राज्य-समय जैनाचार्य मुनिराज जयचंद्र के शिष्य सोमसुंदर ने श्रीयुगादिदेवमहिम्न स्तव[3] लिखा, जिस के प्रत्येक श्लोक के अंतिम चरण की पूर्ति शिवमहिम्नस्तव के प्रत्येक श्लोक के चौथे चरण से की गई है[4]। कहीं-कहीं शिवमहिम्नस्तव के एक एक

---

[1] श्लोक-संख्या ३२, ३७, ३८ और ४३ (निर्णयसागर-संस्करण)

[2] पृष्ठ (क)

[3] जैन ग्रंथावली, पृ० २८७, संख्या १३६। वहाँ इस का 'युगादिदेवस्तुति' नाम दिया है।

[4] हमारे इंदौर-निवासी मित्र पंडित जुहारमलजी जैन, न्याय-काव्य-ती

चरण पर दो-दो श्लोक भी लिखे गए हैं। जिस प्रकार अमरेश्वर की प्रति का अंतिम श्लोक 'वरदचरणयोस्ते वाक्यपुष्पोपहारम्', इस चरण से समाप्त हुआ है, उसी तरह इसी चरण से उपर्युक्त जैनस्तोत्र की भी समाप्ति हुई है। जैन स्तव में शिवमहिम्नस्तव के ३१ वें श्लोक के पश्चात् पुष्पिका आरंभ होती है। इस से जान पड़ता है इस जैनस्तोत्र की रचना के समय—तेरहवीं शताब्दी में—शिवमहिम्न ३१ श्लोकों का ही माना जाता था। 'शिवमहिम्नस्तोत्र' के सुप्रसिद्ध टीकाकार श्रीमधुसूदन सरस्वती ने इस पर शिव और विष्णु, दोनों के अर्थ को प्रकट करनेवाली टीका लिखी है, जिसे बंबई के निर्णयसागर प्रेस ने प्रकाशित किया है। इस में केवल ३६ श्लोक दिए गए हैं; उन में भी मधुसूदन सरस्वती ने केवल ३१ श्लोकों पर अपनी विशद व्याख्या लिखी है और शेष पाँच को सुगम जान कर छोड़ दिया है। मधुसूदन सरस्वती के पाठ का अमरेश्वर की प्रति से मिलान करने पर ज्ञात होता है कि दोनों एक-दूसरे से बहुत मिलते-जुलते हैं। इस से जान पड़ता है कि मधुसूदन सरस्वती के समय (१६ वीं शताब्दी के आसपास) तक इस स्तोत्र के प्राचीन पाठ में विशेष अंतर नहीं पड़ा था। पहले केवल ३१ श्लोक मुख्य (अथवा मूल पाठ के द्योतक) माने जाते थे और आगे के माहात्म्य-सूचक पाँच गौण। समय बीतने पर कुछ और श्लोक जोड़े गए, जिस से धीरे धीरे यह स्तोत्र ४० और फिर ४३ श्लोकों का बन गया।

शिवमहिम्नस्तव बहुत प्राचीन स्तव है और उस की ८७० वर्ष की प्राचीन प्रति मिल गई है, जिस से इस के प्राचीन एवं मूल पाठ का पता चल सकता है। अमरेश्वर की इस प्रति का पाठ मुद्रित[1] होने के पश्चात् महिम्नस्तोत्र अथवा

द्वारा हमें इस की प्रतिलिपि प्राप्त हुई है। उसी के आधार पर इस संबंध में यहाँ लिखा गया है।

[1] द्विवेदी-अभिनंदन-ग्रंथ के लिए हमने अमरेश्वर-मंदिर से मिले हुए इस महिम्नस्तव के संबंध में 'महिम्नस्तोत्र की प्राचीनता और उस का मूल पाठ' शीर्षक निबंध लिखा है; उस में अमरेश्वर की प्रति का पूरा पाठ भी दिया गया है। इस संबंध में विशेष परिचय के लिए पाठक उस निबंध को देखें।

स्तोत्र-संग्रहों के विद्वान् सम्पादक महोदयों को भविष्य में प्रकाशित होने वाले संस्करणों में पहले मूल पाठ छाप कर उस के अनंतर स्तोत्र-प्रणेता एवं माहात्म्य-संबंधी श्लोकों को उस से पृथक् स्थान देना चाहिए। इस से पाठकों को मूल एवं क्षेपक का पता चल सकेगा।

(७-८) ढाई-दिन-के-झोंपड़े के दो नाटक

अजमेर के तारागढ़ पहाड़ की तलहटी में साँभर और अजमेर के प्रतापी चौहानवंशी राजा विग्रहराज चतुर्थ (वीसलदेव, ई० स० ११५२-६३) ने सन् ११५३ ई० में एक महाविद्यालय (कॉलेज) बनवाया था। यह बनावट में मालवे के सुप्रसिद्ध विद्याप्रेमी राजा भोज के उपर्युक्त सरस्वतीकंठाभरण से बहुत मिलता-जुलता था। ई० स० ११९२ में शहाबुद्दीन गोरी ने अजमेर लिया, उस समय उक्त महाविद्यालय का कुछ अंश तोड़ा गया। तदनंतर दिल्ली के गुलामवंशी सुलतानों के राजत्वकाल में उस में यथानुकूल परिवर्तन हुए और धीरे-धीरे उसे मस्जिद का रूप दिया जाने लगा। ई० स० ११९९ में सफ़ेद संगमरमर का मेहराब या इमामगाह और सन् १२१३ ई०—अल्तमश के राज्य-समय में—सात मेहराबों की पंक्ति बनाई गई।[१] इन १४ वर्षों में इस में बहुत कुछ परिवर्तन हो गया। तत्पश्चात् अजमेर पर भिन्न-भिन्न राजवंशों का राज्य रहा, किंतु इस भवन में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं हुआ। लोगों का यह ख़याल कि यह विशाल भवन ढाई दिन में बना था, केवल कपोलकल्पना है। मरहटों के राजत्व-काल में—अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में—पंजाबाशाह नामक औलिया की मृत्यु के उपलक्ष्य में ढाई दिन तक फ़कीरों की तरफ़ से उर्स मनाया जाने के कारण इस का यह नाम पड़ा।[२]

ढाई-दिन-का-झोंपड़ा भारत की प्रसिद्ध इमारतों में है। यह हिंदू शिल्प

---

[१] दीवान बहादुर हरविलास सारडा; अजमेर, हिस्टोरिकल एंड डिस्क्रिप्टिव, पृ० ७१,

[२] वही, पृ० ६९

का एक उत्कृष्ट नमूना है। अनेक देशी एवं विदेशी स्थापत्य-विशारदों ने इस की मुक्तकंठ से प्रशंसा की है। इस संबंध में सुप्रसिद्ध भारतीय पुरातत्त्ववेत्ता जनरल कनिंगहम का यह कथन पर्याप्त होगा कि "For gorgeous prodigality of ornament, beautiful richness of tracery, delicate sharpness of finish, laborious accuracy of workmanship, endless variety of detail, all of which are due to the Hindu masons, this building may justly vie with the noblest buildings which the world has yet produced."[1]

ई० स० १८६५-७६ में ढाई-दिन-के-झोंपड़े के चौक में खुदाई होते समय कई शिलालेखों के छोटे बड़े टुकड़े निकले थे, जिन्हें यथास्थान जोड़ कर पूरी शिलाएं जमा ली गई। संस्कृतज्ञ एवं इतिहासवेत्ता के लिए इन का विशेष महत्त्व है। इन में से चार शिलाओं पर संस्कृत-प्राकृत-मय नाटकों के अंश खुदे हुए हैं। दो पर विग्रहराज चतुर्थ के दरबार के विद्वान् महाकवि सोमदेव-रचित[2] 'ललितविग्रहराज' नाटक के अंश और दूसरी दो पर स्वयं विग्रहराज द्वारा शिवजी की प्रशंसा में रचित 'हरकेलि' नाटक खुदा हुआ है।[3] पाठक इन शिलाओं को अजमेर के राजपूताना म्यूज़ियम् में देख सकते हैं। ललित-विग्रहराज की पहली शिला में ३८ और दूसरी में ३७ पंक्तियाँ हैं। कहीं कहीं कुछ अक्षर जाते रहे हैं। इन की लंबाई-चौड़ाई क्रमशः ३' × १' १०" और ३' ५" × १' ११" है। पहली ४ और दूसरी ९ टुकड़ों में है। प्रत्येक शिला पर लकड़ी का चौखट जड़ देने से उन को समुचित रक्षा हो गई है। इन की लिपि बारहवीं शताब्दी की देवनागरी है। अक्षर बड़े सुंदर हैं। इन्हें महीपति के

---

[1] रिपोर्ट ऑव् दि आर्कियॉलॉजिकल सर्वे ऑव् इंडिया, जि० २, पृ० २६२।

[2] इति महाकविपण्डितश्रीसोमदेवविरचिते ललितविग्रहराजाभिधाने नाटके प्रथमोऽङ्कः समाप्तः (ललितविग्रहराज से)

[3] डॉ० कीलहॉर्न; Bruchstüke Indischer Schauspiele in Inschriften zu Ajmere.

विद्वान् पुत्र भास्कर ने स्वयं लिख कर बड़ी सावधानी से खोदा था।[1] लेखक की सावधानी इसी से प्रकट है कि खुदने में यदि कोई अक्षर अशुद्ध रह गया अथवा खोदते हुए पत्थर की किरच उड़ गई, तो उस अक्षर के स्थान से ताँबे जैसी कोई धातु भरकर उस पर वह दुबारा खोदा गया है। असली शिला को देखने से ही यह मालूम हो सकता है। शुद्ध-लेखन के संबंध में 'ब' के स्थान में सर्वत्र 'व' का प्रयोग उल्लेखनीय है।

नाटक की संस्कृत भाषा शुद्ध और सरल है। इस में शार्दूलविक्रीड़ित, वसंततिलका, शिखरिणी, अनुष्टुभ्, स्रग्धरा, आर्या, पुष्पिताग्रा, मंदाक्रांता आदि कई प्रकार के वृत्त हैं। इस की प्राकृत भी बहुत अच्छी लिखी गई है। डॉ० पिशल का मत है कि अन्य नाटकों में प्रयुक्त प्राकृत की अपेक्षा इस की भाषा में हेमचंद्राचार्य के व्याकरण के नियमों का विशेष पालन हुआ है।[2] प्राकृतों में महाराष्ट्री, शौरसेनी और मागधी का प्रयोग देख पड़ता है। निम्न पंक्तियों में 'ललितविग्रहराज' की दोनों शिलाओं का सारांश दिया जाता है—

पहली शिला के आरंभ में राजा विग्रहराज स्वप्न में देखी हुई किसी स्त्री के रूप की प्रशंसा करता है। इस पर विदूषक कहता है कि उक्त मृगलोचनी को देखने के कारण आप को हर वक्त उसी का ख़याल रहता है; अब आप मुझे भी उसे देखने का उपाय बतलाइए। यह सुन राजा उस का चित्र बना कर विदूषक को दिखलाता है। चित्र के नीचे अपने तत्कालीन भावों को व्यक्त करने के लिए राजा एक श्लोक[3] लिखता है, जिसे पढ़ कर विदूषक संदेह प्रकट करता है

---

[1] महीपतिसुतेन पंडितभास्करेण स्वयमालिख्योत्कीर्णानि अक्षराणि (दूसरी शिला की अंतिम पंक्ति)

[2] इंडियन एंटिक्वेरी, जि० १९, पृ० २०४।

[3] स्वप्ने प्रागवलोकितासि सुतनु प्रासैर्म्मयोज्जागरैः
सोप्यंतर्व्वितताररतिकव्यतिकरैः पश्चादभूद्दुर्ल्लभः।
पश्यत्यस्तरसांतरं तु विघ्नतध्यानप्रवं (बं) धं त्वयि
स्वांतं त्वन्मयमेव विश्वमधुना धत्ते नु नो निर्वृतिम्॥ (पंक्ति ४)

कि 'स्वप्न में देखी हुई बात कभी सच और कभी झूठ निकल जाती है। ऐतिहासिकों से सुनते हैं कि अनिरुद्ध ने उषा को और उषा ने अनिरुद्ध को स्वप्न में देखा था, वह एक सच्ची घटना थी; इसलिए यदि यह सुंदरी भी सचमुच सुलभ हो, तो इस में आप की आसक्ति युक्तियुक्त है। फिर अपने शरीर को क्यों कष्ट दे रहे हो?' इस से राजा को भी उस स्त्री-रत्न की प्राप्ति में संदेह होने लगता है। तब उस का संदेह मिटाने की इच्छा से विदूषक कहता है कि किसी कामिनी-रत्न की प्राप्ति में भला राजाओं को क्या कठिनाई हो सकती है? "यह उपहास है अथवा आश्वासन" राजा के यह पूछने पर विदूषक सच्ची बात में उपहास अथवा आश्वासन को अनावश्यक बतलाता है।

इधर नेपथ्य में कोई व्यक्ति शिवजी की अनुकूलता प्राप्त करने के लिए एक श्लोक[1] बोलता है। इस पर राजा को किसी 'पांथ' (यात्री) का अनुमान होता है। निरंतर यात्रा करते रहने से दुर्बल बने हुए, किंतु ब्रह्मतेज से पूर्ण, उस पांथ को देख कर राजा के दुःखी हृदय में भी क्षण-भर के लिए सुख का आविर्भाव होता है। इतने में शिवजी की कृपा से पांथ उपवन में नूतन बकुल-वृक्ष के नीचे बैठे हुए शाकंभरीश्वर (साँभर-नरेश) विग्रहराज के दर्शन कर अपना जन्म सफल मानता है।[2]

---

[1] फलं कर्म्मानुसारेण भावयन्भविनां प्रभुः।
शंभुः शुभाय मे भूयाद्भक्ताजामभयप्रदः॥ (पंक्ति ८-९)

[2] पांथः—श्रुतं मया यथा किल पुरःस्थितमिदमेवोद्यानमलंकुर्व्वन्नास्ते शाकंभरीनरेंद्रो विग्रहराज इति..।......नूतनव(ब)कुलस्य तलमलंकुरुते देवो विग्रहराजः।......

यद्युक्तोस्मि द्रष्टुं नमदमरकोटीरविलसन्
मणिश्रेणी शाणोज्व (ज्ज्व) लचरणपीठार्प्पितपदं।
प्रभोश्चंडीभर्त्तुस्त्रिभुवनपतेस्तस्य कृपया
नृपं संवीक्ष्यैनं जनिफलमवाप्तोस्मि सकलम्॥
(पंक्ति १२-१३)

पाथ को आसन दे कर राजा पूछता है—'विद्वन् , आप कहाँ से आ रहे हैं, कहाँ जायँगे और अनेक गुण-सम्पन्न होते हुए भी आप खुले बदन क्यों हैं ?' पांथ उत्तर देता है—'तक्कारी नामक द्विजों का प्रसिद्ध स्थान है, जहाँ मेरा पिता रहता था। वह ब्रह्मज्ञानी एवं समस्त विद्याओं का सागर था। उस की कथा (या बातचीत) का आरंभ होते ही विभिन्न दिशाओं के विद्वानों के नेत्र हर्षाश्रुओं से ओतप्रोत हो जाते।[1] विद्वानों के गुरु मेरे पिता के स्वर्गारोहण से लक्ष्मी ने भी—मानो उस के शोक में—उस का भवन छोड़ दिया[2]। इस लिए मैं पितृ-शोक-रूप बाणों से विदीर्ण हो कर अपनी वृद्धा माता, पतिव्रता गृहिणी, बच्चों और बड़े परिवार को निस्सहाय छोड़ इस समय विश्व-रूपी भुवन के प्रारंभ, रक्षा और नाश के कारण, देवताओं के स्वामी, प्रभास (प्रभासपट्टन, काठियावाड़ में) स्थित सोमनाथ के दर्शन के लिए जा रहा हूँ।'[3] राजा शिष्टाचार प्रदर्शित कर पांथ से उस का नाम पूछता है, तो वह कहता है—'मेरा नाम शुभानंद है, जिस ने संसार को आनंद देनेवाले आप के दर्शन से सारा शुभ

---

[1] तक्कारीति प्रसिद्धं जगति निरुपमं स्थानमस्ति द्विजानां
तस्मिन्निःशेषविद्यावसतिरधिगतब्र (ब्र) ह्मतत्त्वाववो (बो) धः।
तातः संजातवान्मे दिशि दिशि सुधियः प्रक्रमे यत्कथानां
सर्व्वेप्यानंदबा (बा) ष्पप्रसरभरमृतापांगभाजो भवंति ॥
(पं० १५-१६)

[2] ताते गतवति स्वर्गमशेष विदुषां गुरौ।
सापि क्वापि शुचेव श्रीः प्रयाता तस्य वेश्मतः ॥ (पं० १६)

[3] अहं तु तातशोकशंकुभिर्न्निर्भिद्यमानमर्म्मा।
वृद्धां तां जननीं शिशूनपि सुतान्साध्वीमपि ....
नन्य समाश्रयानपि व (ब) हून्बं (बं) धून्विहायाधुना।
तं द्रष्टुं चलितोस्मि विश्वभुवनप्रारंभ रक्षाव्यय-
व्यापारप्रभवं प्रभुं सुमनसामीशं प्रभासस्थितम् ॥
(पं० १६-१७)

चित्र ५—भोजशाला में शिला पर खुदी हुई 'पारिजात-मंजरी' नाटिका (पंक्ति १-२६)
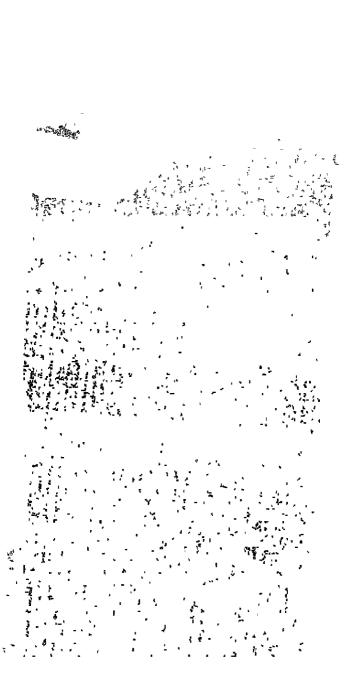
आनंद प्राप्त कर लिया है।'[1] इस पर राजा पांथ से इतनी दूर की यात्रा में देखी हुई किसी अद्भुत वस्तु के बारे में पूछताछ करता है। पहले तो वह उत्तर देता है कि 'महाराज, जगत् को विस्मय में डालने वाले विविध गुणों की खान आप को देख कर मैं ने कौन सी अद्भुत वस्तु नहीं देखी ?' फिर वह स्मरण कर के बतलाता है कि 'यहाँ से उत्तर दिशा में इंद्रपुर नामक नगर के पास इंदीवर आदि कमलों से शोभित और वसंत-शोभा से सुंदर एक विस्तृत सरोवर के तीर पर जब मैं नित्यकर्म कर रहा था, उस समय कई घोड़ों, अनेक रक्षकों और अद्भुत रूपवाली सखियों के साथ, सुसज्जित हथिनी पर सवार हो कर, वहाँ के राजा वसंतपाल की पुत्री सरोवर की शोभा को देखने के लिए उस स्थान पर आई। उस ने तीर पर हथिनी से उतर कर मुझे प्रणाम किया। उस के विनय से मेरा चित्त बहुत प्रसन्न हुआ और मैं उसे आशीर्वाद दे कर एकटक दृष्टि से देखता रहा।'[2] यह कह कर पांथ दो श्लोकों[3]

---

[1] विश्वोल्लसन्निदानस्य सद्यः सन्दर्शनात्तव।
प्राप्ताशेष शुभानंदं शुभानंदं प्रतीहि माम्॥
(पं० १८)

[2] अस्तीत उत्तरस्यां दिशि इंद्रपुरं नाम नगरम्। तत्र च तदुपांतवर्त्ति विनिद्रेंदीवरवनमुद्भिन्नां भोजव्रजविराजितमपारमपरमिव पारावारं वसंतसमयसुंदरं सरोवरमवलोकितुं तत्रत्यस्य राज्ञो वसंतपालस्य पुत्री प्रचुरतरतुरंगवारपरिवृत्तं गृहीत्तविविधायुधपुरुषसंघसंरक्षिता सविशेषमंडना करिणीमारूढा विविधालंकारभूषिताभिनवारंभयौवनोल्लासिताद्भुतरूपरमणीयाभिर्भूयसीभिः सखीभिरुपेता यत्राहं नित्यकर्म्म कुर्व्वन्नस्मि तत्रागतवती। आगत्य च तीरे समुत्तीर्य मां प्रणनाम। अहं तु तस्यास्तेन विनयेन प्रमुदितमना आशिषं प्रदाय तां निपुणतरं चिरं निरीक्षितवान् (पं० २०-२२)।

[3] मुखात्तस्याः पद्मं नियतमनुकम्पां मृगयते
ध्रुवं तल्लावण्यादभिलषति भावं हिमरुचिः।
तदंगानां कान्त्याः कनकमुपमेयं तु भवितुं

में उस राजकुमारी के अंग लावण्य का वर्णन करता है। फिर कहता है 'इतने में ही एक रूपवती सखी ने आ कर सूचना दी कि नई तैयार हुई चित्र शाला में प्रवेश करने का समय हो जाने से माताजी ने शीघ्र चलने की आज्ञा दी है; यह संदेश पा कर राजकुमारी ने नगर में प्रवेश किया।' यह सुन कर राजा को इस बात का आश्चर्य होता है कि उस ने स्वप्न में जिस कन्या-रत्न को देखा था, उसी के समान गुणवती किसी अन्य कन्या का पंडित शुभानंद ने वर्णन किया; इसलिए, राजा सोचता है, संसार के अंत तक विधाता-निर्मित विशेषताओं की सृष्टि समाप्त न होगी। फिर शुभानंद उस राजकन्या का चित्र बना कर विग्रहराज को दिखलाता है, तो वह स्वप्न में देखी हुई कुमारी को पहचान लेता है और उसे साक्षात् देखने की उत्कंठा से उस के आँसू बह निकलते हैं।[1] मध्याह्न हो जाने से राजा शुभानंद को विश्राम करने की आज्ञा देता है और आप स्वयं विदूषक के साथ देवपूजन के लिए चला जाता है। यहाँ प्रथम अंक समाप्त होता है।

दूसरे अंक के आरंभ में नवमालिका और सुंदरिका नाम की दो सखियों

स्फुटं भूयो भूयः प्रविशति हुताशस्य जठरम् ॥
अपि च।
सुव्यक्तस्तनमंडलद्वयमुरो नाद्यापि न व्रीडया
वा (वा) लक्रीडितमावृतं स्मितसुधासिक्ता न वाचां ततिः।
न स्पष्टत्रिवलीतरंगविभवो मध्यप्रदेशस्तथा-
प्यस्त्रं जैत्रमिति स्मरेण मनसि न्यस्तं तदीयं वपुः ॥

(पं० २२-२३)

[1] सर्वेऽपि द्रुतमेतदंगनिबिडश्लेषाभिलाषांकुर-
व्रातेनेव समंततोऽप्यवयवा रोमोद्गमेनांचिताः।
संप्राप्तावसरो ममैष भजति व्यक्तिं चिरात्संचितो
वा (वा) ष्पांभःप्रसरच्छलेन च दृशोरस्यां दिदृक्षारसः ॥

(पं० २७)

मे वार्तालाप हो रहा है सुंदरिका जानना चाहती है कि राजकुमारी देशलदेवी क्या कर रही है नवमालिका बतलाती है कि इस समय राजकुमारी नई चित्रशाला देख रही है। फिर उस चित्रशाला में देखने योग्य कौन-कौन सी वस्तुएँ हैं और किस चित्रकार ने उन्हें अंकित किया है इस बात का ज़िक्र छिड़ता है, जिस से मालूम होता है निपुण नामक चित्रकार ने नई चित्रशाला के चित्र बनाए हैं, और वृद्ध होने पर भी वह चित्रकला मे वैसा ही कुशल है, जैसा युवावस्था में था। तदनंतर नवमालिका राजपुत्री के लिए पार्वती-पूजन के निमित्त चंपक पुष्प चुनने चली जाती है। इस के साथ पहली शिला समाप्त होती है।

दूसरी शिला के आरंभ में राजा विग्रहराज वसंतपाल की दूती शशिप्रभा से देशलदेवी के संबंध मे बात चीत कर रहा है। देशलदेवी के प्रति राजा का हार्दिक प्रेम जान कर शशिप्रभा खुशखबरी सुनाने के लिए नायिका के पास जाने को तैयार होती है, किंतु राजा उसे ठहरा कर उस के स्थान मे कल्याणवती को संदेश दे कर भेजता है। राजा देशलदेवी से कहलाता है कि 'सुनते हैं कि तुरुष्कराज (अर्थात् कोई मुसल्मान सुलतान) ने हम पर चढ़ाई की है; इसलिए तुर्कों के सामने जाते समय हम शीघ्र ही तुम से मिलेंगे'। शशिप्रभा के ठहरने की उचित व्यवस्था करा कर राजा मध्याह्न-क्रियाओं के लिए चला जाता है। यहाँ तीसरा अंक समाप्त होता है। इस संबंध में यह विचारणीय है कि पहली शिला के अंत में दूसरा अंक चल रहा था और इस शिला के बीच में तीसरा अंक समाप्त हुआ है; इसलिए पहली और इस शिला के बीच एक और शिला होनी चाहिए; उस पर दूसरे अंक का अवशिष्ट अंश और तीसरी का पूर्वार्ध खुदा होगा। खेद है, यह अब तक नहीं मिली।

चौथे अंक के आरंभ में विग्रहराज के पड़ाव के पास दो तुरुष्कदेशीय भाट राजा के वास-स्थान का पता लगाने के लिए दुविधा में घूम रहे है। इधर तुरुष्क राजा ने विग्रहराज के शिबिर का हाल जानने के लिए एक गुप्तचर भेजा था। उन भाटों से मिल कर वह उन्हें बतलाता है कि सोमेश्वर महादेव के दर्शनार्थ जाने वाली भीड़ के साथ वह भी भिखारी के भेष मे शत्रु के पड़ाव

मे घुस गया और भीख माँगने लगा साथ-ही साथ वह उन्हें विग्रहराज के सैन्य म एक हजार हाथी, एक लाख घोड़े और दस लाख पैदल होने का पता देता है। विग्रहराज का पता पा कर दोनों भाट उस के सम्मुख उपस्थित होते हैं और सोना तथा वस्त्र आदि पारितोषिक दे कर बिदा किए जाते हैं।

इधर विग्रहराज को इस बात का आश्चर्य हो रहा है कि हम्मीर[1] (फारसी 'अमीर' का संस्कृत रूप) के पड़ाव की स्थिति का पता लगाने के लिए भेजा गया उस का दूत अब तक क्यों नहीं लौटा। इतने मे दूत लौट कर

---

[1] चौहानवंशी विग्रहराज चतुर्थ के मुसलमानों के साथ युद्ध होते रहते थे। उस के राजत्वकाल से पूर्व पंजाब के कुछ अंश पर मुसलमानों का अधिकार हो गया था। समय समय पर उन की राजपूताना आदि प्रदेशों पर चढ़ाइयाँ हुआ करती थीं। विग्रहराज ने उन्हें परास्त करते करते पंजाब तक सारा आर्यावर्त उन से ख़ाली करा कर अपने अधीन कर लिया, जिस का प्रमाण सम्राट् अशोक के लेखवाले सिवालिक-स्तंभ पर खुदे हुए वि० सं० १२२० के विग्रहराज के लेख में मिलता है। पहले यह स्तंभ सिवालिक पहाड़ों की तलहटी में जमना नदी के पश्चिम में खिज़राबाद के पास था। सुलतान फ़ीरोज़शाह तुग़लक (ई० स० १३५१-८८) के राज्य-समय में वह वहाँ से हटा कर दिल्ली में फ़ीरोजशाह के कटरे में खड़ा किया गया। विग्रहराज के संबंध में उपर्युक्त शिलालेख के निम्नलिखित श्लोक उल्लेखनीय हैं—

आविंध्यादाहिमाद्रेर्व्विरचितविजयस्तीर्थयात्राप्रसंगा-
दुद्ग्रीवेषु प्रहर्त्ता नृपतिषु विनम्राकन्धरेषु प्रसन्नः।
आर्यावर्त्तं यथार्थं पुनरपि कृतवान्म्लेच्छविच्छेदनाभि-
र्देवः शाकंभरीन्द्रो जगति विजयते वीसलक्षोणिपालः॥

ब्रू (ब्रू) ते संप्रति चाहमानतिलकः शाकंभरीभूपतिः
श्रीमद्विग्रहराज एष विजयी संतानजानात्मनः।
अस्माभिः करदं व्यधायि हिमवद्विन्ध्यान्तरालं भुवः
शेषस्वीकरणाय मास्तु भवतामुद्योगशून्यं मनः॥

इंडियन ऐंटिक्वेरी, जि० १९, पृ० २१८।

सूचना देता है कि 'शत्रु की सेना में असंख्य हाथी, घोड़े, रथ और पैदल विद्यमान हैं, उस का पड़ाव सुरक्षित है और उस में प्रवेश करने और बाहर आने के मार्ग नहीं जान पड़ते। कल हम्मीर की सेना अपने पड़ाव बब्वेर (बवेरा, किशनगढ़ राज्य) से तीन योजन दूर थी। आज उसी शिबिर को यहाँ से एक योजन पर देख कर लौटा हूँ। ऐसी अफवाह है कि अपने सारे सैन्य को युद्ध के लिए तैयार कर हम्मीर आप के पास दूत भेजेगा।'

दूत को विश्राम करने के लिए विदा कर विग्रहराज अपने मामा राजा सिंहबल को बुला कर उस के तथा मंत्री श्रीधर के साथ परामर्श करता है। सिंहबल राजा को अपने सब योद्धाओं की सेना के साथ हम्मीर के सुविशाल सैन्य का सामना करने की सलाह देता है। श्रीधर मंत्री अपने कथन के लिए पहले से ही क्षमा माँग कर बतलाता है कि धर्मार्थशास्त्रज्ञों के मतानुसार अन्य उपाय हो, तब तक युद्ध की आवश्यकता नहीं है। इस पर म्लेच्छराज के प्रति उपायांतरों (संधि आदि) का प्रयोग राजा अपने लिए लज्जास्पद समझता है। तब मंत्री कहता है कि असंख्य सैन्य के स्वामी हम्मीर से युद्ध करने की सलाह कैसे दी जा सकती है? यह सुन राजा ने उत्तर दिया कि मंत्री की सलाह मान लेने से मित्रों को अभय-दान देने के व्रत का भंग, तीर्थ, ब्राह्मण देवताओं (अर्थात् देवमंदिरों) आदि का नाश, पराक्रम-शून्यता का प्रदर्शन और अपयश का विस्तार होता है[1]। विग्रहराज के वचन सुन कर सिंहबल उसे युद्ध के लिए प्रोत्साहित करता है[2]। इतने में तुरुष्कराज का भेजा हुआ दूत आ पहुँचता है।

---

[1] अकीर्त्तिः काप्युः सुहृदभयदानव्रतहति-
स्तथा ध्वंसस्तीर्थद्विजसुमनसां वीर्यविगमः।
म्लेच्छेषु व्यस्तेष्वपि भृशमसह्येषु सकला-
निमानंगीकर्तुः कथयत विधेयं किमसुभिः॥
(पं० २९-३०)

[2] क्षात्रं धाम तवेदमद्भुततमं त्वत्संनिधिस्थायिनां
वीराणां तनुषु ध्रुवं परिणतं यास्यत्यसंख्याततम्।

विग्रहराज की भव्य आकृति और उस के विपुल ऐश्वर्य को देख कर दूत को अपना कार्य कठिन जान पड़ता है यहां दूसरी शिला समाप्त होती है

अजमेर के राजपूताना म्यूज़ियम् में 'हरकेलि नाटक' की दो शिलाएँ (३'१½" × २'२" और ३'३½" × १'११½") रक्खी हुई हैं। उन में से पहली में लिंगोद्भव नामक दूसरे अंक का उत्तरार्ध और तीसरे का पूर्वार्ध है। दूसरी शिला में क्रौंचवध नामक पाँचवें अंक का उत्तरार्ध है, इस से जान पड़ता है। कि सारा नाटक ४–५ शिलाओं पर खुदा होगा। खेद है, इन दो शिलाओं के बीच की शिलाएँ अब तक अप्राप्त हैं। दोनों में अंक समाप्त हुए हैं, वहाँ महाराज श्रीविग्रहराज द्वारा इस नाटक की रचना होने का निर्देश है[1]। पहली शिला मे ४१ और दूसरी मे ४० पंक्तियाँ हैं। शुद्ध लेखन तथा लिपि आदि में यह ललितविग्रहराज से बिलकुल मिलता जुलता है। इस में भी प्रायः 'ब' के स्थान में 'व' का प्रयोग हुआ है। इस के सिवा जिह्वामूलीय का चिह्न भी, जो कई बार प्रयुक्त हुआ है, उल्लेखनीय है। ललितविग्रहराज की तरह इन नाटक की शिलाओं को भी महीपति के पुत्र भास्कर ने बड़ी सावधानी से खोदा था। पाँचवें अंक के अंत में ग्रंथ की पुष्पिका से भास्कर के सम्बंध में यह जान पड़ता है कि हूण राजाओं के कुल मे गोविंद नामक विद्वान् अपने साहित्यिक गुणों के कारण राजा भोज का कृपापात्र था; उसी गोविंद का पुत्र महीपति था।[2] हरकेलि नाटक वि० सं० १२१० मार्गशीर्ष सुदि (२२ नवंबर ११७३

दीपादेकत एव भद्र तिमिरप्रध्वंसधीरं महः
स्वीकुर्वन्निह हि प्रदीपनिवहो दृष्टांततामाश्रितः ॥
(पं० २०-२१)

[1] इति महाराजश्रीविग्रहराजकविविरचिते हरकेलिनाटके
लिंगोद्भवो नाम द्वितीयोंकः (पहली शिला, २३ वीं पंक्ति)।
कृतिरियं महाराजाधिराजपरमेश्वरश्रीविग्रहराजदेवस्य
(दूसरी शिला ४० वीं पंक्ति)।

[2] आसीन्निर्मलहूणपार्थिवकुले गोविंदनामा सुधी-

१०) को समाप्त हुआ था[1] ।

हरकेलि के वस्तु में भारवि के किरातार्जुनीय का अनुकरण देख पड़ता है। अर्जुन की तपस्या, शिव के मूक नामक सेवक का किरात-वेश में अर्जुन के पास भेजा जाना, अपनी पुरातन शत्रुता के कारण मूक और अर्जुन में युद्ध, मूक के सहायक बन कर किरात-रूपी शिव का अर्जुन से युद्ध करना और अंत में शंकर-द्वारा अर्जुन की वीरता की हृदय से सराहना आदि का उल्लेख मिलता है। शंकर को पहचान अर्जुन अपनी धृष्टता के लिए उन से क्षमा चाहता हुआ उन की स्तुति करता है।[2] इस पर शिव प्रसन्न हो कर अर्जुन को पाशुपत मंत्र और गांडीव धनुष प्रदान करते हैं। अर्जुन के विदा

स्तैस्तैः कोविदवन्द्यसद्गुणगणैर्यो भोजराजप्रियः ।
तज्जन्मा सुकृती महीपतिरभूत्तस्यात्मजो भास्करः
स श्रीविग्रहराजनिर्मितमिदं प्राज्ञोलिखन्नाटकम् ॥

(दूसरी शिला, पं० ३७-३८).

[1] संवत् १२१० मार्गशुदि ५ आदित्यदिने श्रवणनक्षत्रे । मकरस्थे चंद्रे । हर्षणयोगे । वा (ब) लवकरणे । हरकेलिनाटकं समाप्तं ॥ मंगलं महाश्रीः ॥

(पं० ३८-३९).

[2] स्वप्रत्ययाय जगतः परमप्रियाय
प्रालेयभानुकलया कृतशेखराय ।
देवाय दुर्द्दमतमः पटलापहाय
तस्मै शिवाय निरुपाधिमुदे नमस्ते ॥......

(दूसरी शिला, पंक्ति २८).

.......नमः कर्त्रे धात्रे तनुषु विशते संयमयते
नमो हर्त्रे भर्त्रे चतुरधिकषष्टिप्रणयिने ।
नमो व्यक्ताव्यक्तत्रिजगदघविध्वंसपटवे
नमः पुण्यापुण्यस्थितिषु मृदुघोरैकवपुषे ॥

(दूसरी शिला, पं० ३०-३१).

होने के पश्चात् शिव गौरी से कहते हैं कि 'विग्रहराज कवि ने अपने 'हरकेलि' द्वारा हमें बहुत प्रसन्न किया है, इस लिए चल कर उसे देखें' इतने में विग्रहराज स्वयं उपस्थित हो कर अपने हरकेलि नाटक की सफलता के संबंध में इच्छा प्रकट करता है।[1] उस के नाटक से अपनी प्रसन्नता सूचित करते हुए शंकर उसे आशीर्वाद देते हैं, कि उस का कवित्व-रूपी यश चिरस्थायी हो।[2] आशीर्वाद प्राप्त कर विग्रहराज साँभर को लौटता है और शिव कैलास को जाते हैं।

(६) चौहानों का एक ऐतिहासिक काव्य

ढाई-दिन-के-झोंपड़े की खुदाई में हरकेलि और ललितविग्रहराज नाटकों के साथ चौहान-वंश से संबंध रखने वाले किसी ऐतिहासिक संस्कृत काव्य की पहली शिला (४′ ७″ × २′) भी मिली थी। यह इस समय अजमेर के राजपूताना म्यूज़ियम् में सुरक्षित है। इस में भिन्न भिन्न देवताओं की स्तुति है। सूर्य की स्तुति के पश्चात् अंत में लिखा है कि सूर्य के वंश में इक्ष्वाकु, राम

---

[1] स्वर्व्वासिनो भरतशिष्यजनाश्चिरेण

स्थाणोः शिरांसि ननु धूनयितुं स एषः।

प्रत्यक्षरस्नु तरसामृतवाहिनीनां

कल्लोलकेलिभिरितो हरिकेलिरास्ताम्॥

स्तोतागुणानभिदधत्स्तुतिरिन्दुमौलिः स्तुत्य स एव फलरूपतया स एव।

इत्थं चतुर्मयतया हरकेलिरास्तामाचन्द्रमारवि मुदे यशसे श्रिये वः॥

(पं० ३३-३४).

[2] यावद्विष्णुर्वि (बिं) भर्त्ति प्रभदचितिरसे भोगनिर्व्वाणशक्ती

लक्ष्मीं ब्र (ब्रा) ह्मीं च तावद्वचलयतु जगत्तावकी कीर्त्तिरेषा।

प्राज्ञादुग्धाब्धि (ब्धि) जन्मा नवरसलहरीदत्तहस्तावलंबा (बा)

विद्वच्चेतश्चकोरीकुलमखिलमपि प्रीणती चंद्रिकेव॥

(पं० ३६-३७).

आदि प्रतापी राजा हुए और उसी वंश में चाहमान (चौहान) भी हुआ।[1] इस के आगे की शिलाओं का अब तक पता नहीं चला। शायद ढाई-दिन-के-झोंपड़े के विशाल चौक में कहीं गड़ी होंगी। संभव है, यह काव्य भी विग्रहराज (बीसलदेव) के राज्य-काल में खुदा हो।

(१०) उन्नतशिखरपुराण

उदयपुर राज्य के बीजोल्यां नामक पुराने कस्बे के निकट चबूतरों की आकृति की अनेक छोटी-बड़ी कुदरती चट्टानें हैं। क़स्बे से अनुमान एक मील पर प्राग्वाट-(पोरवाड़) वंशी लोलाक नामक वैश्य का बनाया हुआ पार्श्वनाथ का दिगंबर जैन मंदिर है। इस देवालय के समीप दो चट्टानों में से एक पर उक्त मंदिर-संबंधी वि० सं० १२२६ फाल्गुन कृ० ३ का (चौहान-वंशी राजा सोमेश्वर के राजत्वकाल का) एक विशाल शिलालेख खुदा है। दूसरे पर दिगंबर जैन संप्रदाय का 'उन्नतशिखरपुराण' नामक जैन ग्रंथ उपर्युक्त लोलाक-द्वारा उसी संवत् में खुदवाया गया था। अब तक इस ग्रंथ की लिखित प्रति का पता नहीं चला। चट्टान की स्थिति और लेख के विस्तार के कारण इस पुस्तक की छापें तैयार करना असंभव है।

(११) भोजशाला की पारिजातमंजरी

ई० स० १९०३ के नवंबर मास में धार के सरस्वतीकंठाभरण नामक राजा भोज के महाविद्यालय (अब कमाल-मौला मस्जिद) में दो विशाल शिलाओं के, जिन पर पुस्तकें खुदी हुई हैं, निकलने का पहले उल्लेख किया गया है। उन में से दूसरी शिला (५'८" × ५') पर अत्यंत सुंदर लिपि की ८२ पंक्तियों में मालवे के परमार-वंशी राजा अर्जुनवर्मदेव (सन् १२१०-१६ ई०) के राजगुरु बाल-सरस्वती मदन-रचित 'पारिजातमंजरी' (जिस का दूसरा नाम

---

[1] आधिव्याधिकुवृत्तदुर्गतिपरित्यक्तप्रजास्तत्र ते
सप्तद्वीपभुजो नृपः समभवन्निक्ष्वाकुरामादयः। ''॥ ३६ ॥
तस्मिन्नथारिविजयेन विराजमानो
राजानुरंजितजनोजनि चाहमानः।''''॥ ३७ ॥

विजयश्री है) नामक नाटिका क दो अक वसंतोत्सव और ताडकदर्पण खुदे हुए है सीहाक नामक कुशल शिल्पी के पुत्र रामदास ने इस नाटिका को बहुत सावधानी से खोदा है[1] और कई स्थानों पर उस ने स्वयं अशुद्धियों का संशोधन कर दिया है।

इस की लिपि कूर्मशतक से बहुत मिलती-जुलती है। 'ब' के स्थान में प्राय: 'व' का प्रयोग हुआ है। नाटिका की भाषा संस्कृत और प्राकृत है। इस शिला पर ७६ श्लोक खुदे है। वसंतोत्सव के अवसर पर धार की भोजशाला मे इस का पहले पहल अभिनय हुआ था। इस के पहले श्लोक से ही जान पड़ता है कि पूरी नाटिका दो शिलाओं पर खोदी गई थी।[2] अब तक दूसरी शिला का पता नहीं चला। संभव है, भविष्य मे वह कभी कमाल मौला से ही प्राप्त हो। दो शिलाएँ होने से अनुमान होता है कि दूसरी पर इस के शेष अंक खुदे होंगे। पहली शिला में दो अंक समाप्त हुए हैं। संभव है, दूसरी में भी दो अंक हों, क्योंकि साहित्य-शास्त्र के नियमानुसार नाटिका में चार[3] अंक होने चाहिए।

इस शिला के अंतिम (७६ वें) श्लोक मे इसे प्रशस्ति (प्रशंसात्मक ग्रंथ) कहा गया है, जिस से अनुमान होता है कि यह नायक अर्जुनवर्मा के, जिसे कवि ने राजा भोज का अवतार बतलाया है, राजत्वकाल में लिखी गई हो। इस नाटिका में कुछ ऐतिहासिक इत्तिवृत्त भी मिलते हैं। तीसरे श्लोक मे श्रीकृष्ण और अर्जुन से भोज की तुलना करते हुए, बतलाया है कि जिस प्रकार अर्जुन ने गांगेय (अर्थात् गंगा-सुत) नामधारी भीष्म को मारा था,

---

[1] रूपकारप्रकांडस्य सीहाकस्यांगजन्मना।
प्रशस्तिरियमुत्कीर्ण्णा रामदेवेन शिल्पिना ॥ ७६ ॥

[2] अत्र कथंचिदलिखिते श्रुतिलेह्यं लिख्यते शिलायुगले।
(पंक्ति १)

[3] नाटिका क्लृप्तवृत्ता स्यात्स्त्रीप्राया चतुरङ्किका।
साहित्यदर्पण; छठा परिच्छेद; श्लोक २६९।

उसी तरह भोजदेव ने गांगेय[1] नामक राजा को परास्त किया[2]। ग्यारहवीं-शताब्दी का पूर्वार्ध राजा भोज का राज्य-काल था, इसलिए उस के शत्रु गांगेय से त्रिपुरी का कलचुरी राजा गांगेय अभिप्रेत होना चाहिए। १० वें श्लोक मे अर्जुनवर्मा को सुभट का पुत्र[3] बतलाया है, जिस से ज्ञात होता है कि नाटिका का नायक परमार वंशी सुभटवर्मा का पुत्र अर्जुनवर्मा ही है, जिस के समय के ई० स० १२११, १२१३ और १२१५ के दानपत्र[4] मिल चुके है। नाटिका का प्रणेता राजगुरु मदन ही उक्त तीनों दान पत्रों का रचयिता है, इस से यह निश्चित है कि 'पारिजातमंजरी' की रचना इसी अर्जुनवर्मदेव के समय मे हुई।

इस नाटिका का मुख्य विषय त्रिविधवीर चूड़ामणि बिरुदधारी अर्जुनवर्मा और गुजरात के राजा चौलुक्यवंशी जयसिंह मे पर्वपर्वत (पावागढ़)

---

[1] राजा भोज के विषय में 'कहाँ राजा भोज और कहाँ गाँगली तेलिन' यह कहावत प्रचलित है, उस में 'गाँगली' वस्तुतः तिलिंगाना के राजा 'गाँगेयदेव' का अपभ्रंश है। लोग प्रायः इसके इतिहास से अनभिज्ञ होते हैं, किंतु इस कहावत का वास्तविक उद्देश्य राजा भोज की महत्ता और गाँगेयदेव आदि उसके शत्रुओं का पराभव प्रकट करना है।

[2] बला (ला) द्वाणजयक्षमो विजयते निःशेषगोत्राणकृ-
त्कृष्णः कृष्ण इवार्जुनऽर्जुन इव श्रीभोजदेवो नृपः
विस्फूर्जद्विषमेषुवेधविधुरां राधां विधत्ते स्म य-
स्तूर्णं पूर्णमनोरथश्चिरमभूद्गांगेयभंगोत्सवे ॥ ३ ॥
इस संबन्ध में देखो 'धार स्टेट गैजेटियर (लुअर्ड-संकलित) पृ० १४४-४५।

[3] अन्तःपुरवनिताश्च द्विरदघटाश्चाशु गूर्जरेंद्रस्य।
शृंखलिता यदनीकैः स एष सुभटक्षितींद्रसुतः।

[4] कीलहॉर्न; ए लिस्ट ऑव् दि इन्स्क्रिप्शन्स आव् नॉर्दर्न इंडिया; संख्या १९५, १९७ और १९८।

की उपत्यका में युद्ध[1] हो कर जयसिंह की पराजय का उल्लेख है अनहिलवाड (गुजरात) के निबल राजा भीमदेव (दूसरे) सोलंकी से उस का राज्य उस के कुटुंबी जयसिंह (जयंतसिंह) ने कुछ समय के लिए छीन लिया था। जान पड़ता है, वही जयसिंह अर्जुनवर्मा से हारा होगा। अर्जुनवर्मा के दानपत्र में भी उस के जयसिंह को परास्त करने का उल्लेख[2] मिलता है। नाटिका से उस के चौलुक्यवंशी और गुर्जर देश का राजा होने का भी पता चलता है। अतः यह अनहिलवाड़े का जयंतसिंह होना चाहिए।

पारिजातमंजरी के दोनों अंकों का संक्षिप्त परिचय निम्न पंक्तियों में दिया जाता है—

पहले अंक के प्रारंभ में मदन-पत्नी रति की स्तुति के अनंतर राजा भोज की प्रशंसा कर सूत्रधार नटी को सूचना देता है कि उसे आज्ञा मिली है कि चैत्र की पूर्णिमा को गंगाधर-सुत राजगुरु मदन-रचित 'पारिजातमंजरी' अथवा 'विजयश्री' नामक नवीन नाटिका का (चन्द्र की भाँति) अज्ञान-रूपी अंधकार को मिटाने वाले सरस्वती-मंदिर में अभिनय किया जाय[3]। इस पर नटी वसंत-शोभा का वर्णन कर

---

[1] त्रिविधवीरचूडामणेः सार्वभौमश्रीभोजदेवान्वयमूर्द्धन्यस्य राज्ञः श्रीमदर्जुनवर्मदेवस्य गूर्जरपतिना जयसिंहेन सह पर्वपर्वतोपत्यकापरिसरेषु हिरण्यकशि (शि) पुकदनकुपितवैकुंठकंठीरवकंठनादचकितदिग्वारणेन्द्रमुक्तविश्वंभरानिपतनोद्वेल सप्तार्णववलहरिसंफेटतुल्यतुमुलकोलाहलः कलहो बभूव (पंक्ति ७-८)

[2] बाललीलाहवे यस्य जयसिंह पलायिते।

वि० सं० १२७२ का दानपत्र, जर्नल आव् दि अमेरिकन ओरिएंटल सोसाइटी, जि० ७, पृ० २५-२७।

[3] प्रिये। आदिष्टोऽस्मि तत्रभवत्या परिषदा। यथाऽद्य त्वयाऽस्मिन्नेव चैत्रपर्वणि चतुरशीतिचतुःप (तुष्प) थसुरसदनप्रधाने धारापुरीयुवतिशृंगारमुक्तास्रजो जगज्जडतांधकारशातनशरच्चंद्रिकायाः सा (शा) रदादेव्याः सद्मनि सकलदिगंतरोपागतानेकत्रैविद्यसहृदयकलाकोविदरसिकसुकविसंकुले गौडान्वयगंगापुलिनराजहंसस्य गंगाधरात्मजे-

अपने पति से नाटिका के वस्तु के संबंध में पूछताछ करती है, तब वह कहता है "प्रिये, भोज के सुयोग्य वंशज महाराज अर्जुनवर्मदेव का गुजरात के राजा जयसिंह के साथ पर्वपर्वत के पास घोर युद्ध हुआ, जिस मे शत्रु-सेना भाग निकली। शत्रु की सेना भाग रही थी उस समय हाथी पर सवार अर्जुनवर्मदेव पर देवताओं ने पुष्प-वृष्टि की, जिस के साथ कल्पवृक्ष की एक मंजरी (पारिजातमंजरी) उस के वक्षःस्थल पर गिरी[1] और स्पर्श होते ही वह एक सुंदरी कन्या में परिणत हो गई[2]। उसी क्षण आकाशवाणी हुई कि—हे धाराधीश! इस मंगलमयी और मनोज्ञ विजयश्री का उपभोग करता हुआ तू भोज राजा के समान हो जायगा"[3]। नटी को यह सुन कर विस्मय हुआ, तब सूत्रधार उसे बतलाता है कि वह सुंदरी गुजरात के चौलुक्य राजा की पुत्री और जयश्री (अर्थात् विजयलक्ष्मी) का अवतार थी, उस ने पराजय से मर कर अपने पिता के दुःख-रूपी तमाल-वन को अंतःपुर की नारियों के आँसुओं से सिंचवाया। वही स्वर्ग-वृक्ष (अर्थात् पारिजात) की यह मंजरी[4] है, जिस ने

मदनस्य राजगुरोः कृतिरभिनवा समस्तसामाजिकमधुव्रतानंदमकरन्दप्रपा पारिजातमंजरीत्यपराख्या विजयश्रीनाम नाटिका नाटयितव्या (पंक्ति २-४)।

[1] ततश्च प्रतिबले पलायमाने जयसिंधुरस्कन्धाधिरूढस्य धवुध्मतो धारापतेस्तत्कालोपसंहृतनाराचदुर्दिनस्य पुरंदरपुरद्वारकवाटविकटे वक्षसि लोकोत्तरपरिमलामोदवासितदिगंतरा विस्मेरवृंदारकवृंदकुसुमवृष्टिमध्यादेका पारिजातमंजरी पपात (पंक्ति ९)।

[2] अन्योन्यं गलहस्तनोपनतयोर्द्वंद्वेन वक्षोजयोः
कर्णोल्लंघनजांघिकेन नयनद्वंद्वेन हेवाकिनी।
वक्त्रं विश्वविलोचनोत्पलवनीचंद्रोदयं बिभ्रती
साभूद्भव्यजिगीपुयौवनसुरामाद्यत्तनुः कामिनी ॥५॥

[3] मनोज्ञां निर्विशन्नेतां कल्याणीं विजयश्रियं।
सदृशो भोजदेवेन धाराधिप भविष्यसि ॥६॥

[4] या चौलुक्यमहीमहेंद्रदुहिता देवी जयश्रीः स्वयं
भंगे मृत्युमवाप्य बाष्पसलिलैरंतःपुरस्योर्म्मिलैः।

किसलय में छिप कर सुंदरी का रूप धारण कर लिया

यह घटना हुई, उस समय उपस्थित जनता का ख्याल कर राजा अर्जुनवर्मा ने जयश्री की ओर एकटक दृष्टि से नहीं देखा और उसे अपने विश्वासपात्र कंचुकी कुसुमाकर को, जो उपवनों का अध्यक्ष था, सौंप दिया। कुसुमाकर की पत्नी वसंतलीला ने जयश्री को धारागिरि के मरकत-मंडप में रक्खा। इधर राज्य-कार्य को मंत्री नारायण के सुपुर्द कर राजा वसंतोत्सव देखने के लिए अपने सुरम्य हर्म्य की सब से ऊपरी मंजिल पर चला जाता है। वहाँ अपनी रानी कुंतलराज-पुत्री सर्वकला और विदग्ध नामक विदूषक के साथ वह वसंतोत्सव का आनंद ले रहा है। धारा नगरी के छोटे-बड़े सभी नागरिक गाने, बजाने, नाचने और एक-दूसरे पर सुगंधित जल एवं गुलाल छिड़कने और कुमकुमे छोड़ने में मस्त हो रहे हैं। राजा-रानी आदि में भी खूब फाग हो रहा है। इतने में रानी, विकसित सहकार के साथ माधवी लता के विवाह का स्मरण होने से, उसकी तैयारी के लिए धारागिरि के उपवन को जाती है। इधर राजा पर आसक्त हुई पारिजातमंजरी को यह चिंता लग रही है कि राजा उसे अंगीकार करेंगे या नहीं। राजा भी उसे बहुत चाहता था, किंतु उसे अब तक जयश्री से मिल कर अपना प्रेम प्रदर्शित करने का अवसर नहीं मिला। वसंतोत्सव के बीच उसे भी जयश्री का स्मरण होने लगता है, तब विदूषक के साथ वह मनोविनोद के लिए धारागिरि के प्रमदवन को चला जाता है। यहाँ पहला अंक समाप्त होता है।

दूसरे अंक के आरंभ में कुसुमाकर रानी के आरंभ किए हुए विवाहोत्सव से बढ़ी हुई लीलोद्यान की शोभा का वर्णन करता है। इस समय विवाहोत्सव देखने के लिए धारा नगरी के नागरिकों की बड़ी भीड़ लग रही है। इधर कुसुमाकर को पारिजातमंजरी का स्मरण होता है, इतने में वसंतलीला

वप्तुः शोकतमालवालविपिनं चक्रे नदीमातृकं

सेयं स्वर्द्रुमनंजरी किसलये संक्रम्य जातांगना ॥७॥

आ कर उसे परिजातमंजरी की खिन्नावस्था[1] की सूचना देती है। जयश्री के प्रति राजा के वास्तविक प्रेम को सूचित करते हुए कुसुमाकर वसंतलीला से कहता है कि राजा धारागिरि पर माधवी लता के विवाह में सम्मिलित होने के लिए आ ही रहे हैं; वहाँ पारिजात-मंजरी से भी एकांत में मिलेंगे।

राजा और विदूषक भी विवाह-स्थल पर पहुँचते हैं। पारिजातमंजरी भी एक कोने में लताओं की ओट में छिप कर विवाह-संस्कार को देख रही है। इधर वसंतलीला जयश्री की ओर राजा का ध्यान आकृष्ट करने का एक नया उपाय सोचती है। उस के मुख के सामने की लताओं को हटा लेती है जिस से उस के चेहरे की परछाईं रानी के कर्णाभूषण (ताडंक) में देख पड़ने लगती है। राजा ताडंक में प्रतिबिंबित जयश्री का मुखमंडल देख लेता है जिस से उस की उत्कंठा बढ़ जाती है। वसंतलीला पारिजातमंजरी का ध्यान रानी के ताडंक की ओर आकृष्ट करती है, तो उस में वह अपना और राजा का प्रतिबिंब देखती है। इतने में वसंतलीला जयश्री को पुनः लताओं के पीछे छिपा देती है, जिस से अपनी प्रेयसी का प्रतिबिंब एक दम अदृष्ट हुआ देख कर राजा उद्विग्न हो जाता है। इधर-उधर मुँह फेर कर राजा लताओं की ओट में पारिजातमंजरी को देखता है, किंतु लोगों का ख्याल कर उधर से अपनी नज़र हटा लेती है। रानी की दासी कनकलेखा और विदूषक राजा एवं पारिजात-मंजरी की इस लीला को ताड़ कर मंद मुसकान के साथ एक दूसरे की ओर देखने लगते हैं।

इधर रानी की दाहिनी आँख फड़कती है। कनकलेखा का हँसती और राजा को कुछ संकेत करते देख उसे किसी प्रपंच का ख्याल होता है और वह नाराज़ हो कर वहाँ से चली जाती है। रानी को प्रसन्न करने के लिए राजा

---

[1] उत्तुंगे थणमंडलस्स सिहरे ओट्ठप्पवालप्पहा—

पुंजं कुंजरगामिणी वहदि सा चिंतानमंताणणा।

अंसो णीहरिऊण सासलहरीसत्थेण पज्जूसुअं

दूरारोहणिहालिअप्पियअसं रत्तं व चित्तं णियं ॥२५॥

उस के पास जायगा, यह सोच वसंतलीला और भी पुन मरकत-मंडप को लौट जाती हैं।

इतने में अपनी प्रेमिका के लिए राजा पीछे देखता है, किंतु उसे वहाँ नहीं पाता है। तब राजा और विदूषक मरकत-मंडप की ओर जाते हैं। दूर से जयश्री को देख राजा कुछ फूल एकत्र करता है। धीरे-धीरे वह आगे बढ़ता है और छिप कर उस पर एक-एक फूल डालने लगता है। भगवान् कामदेव स्वयं अपने पुष्पबाण बरसा रहे हैं, यह विचार कर पारिजातमंजरी मूर्छित हो जाती है। होश आने पर वह जाने को तैयार होती है, किंतु राजा चण-भर के लिए उस के हास्य और दृष्टिपात का अनुग्रह चाहता था। इतने में रानी का ताडंक ले कर आती हुई दासी कनकलेखा दूर से देख पड़ती है। राजा तुरत पारिजात-मंजरी को छिपा लेता है। राजा को ताडंक अर्पण कर कनकलेखा उसे अपनी स्वामिनी का उलाहना सुनाती है। इस पर राजा उलाहने का अभिप्राय जान कर सर्वकला को प्रसन्न करने के लिए जाने का निश्चय करता है। राजा को जाते देख पारिजातमंजरी को चिंता होने लगती है, किंतु राजा उसे शीघ्र लौटने का वचन देता है। वसंतलीला को जयश्री के पास छोड़ कर वहाँ से वह अनिच्छापूर्वक जाता है। वह नज़रों से ओझल होता है, तब तक पारिजातमंजरी उसे देखती रहती है। वसंतलीला उसे आश्वासन दिलाती है; फिर भी उस की खराब हालत देख कर उसे खतरे का अंदेशा होता है। इस के साथ दूसरा अंक समाप्त होता है। इस नाटिका के दोनों अंकों को पढ़ कर जान पड़ता है कि संभवतः मदन ने इस की कथा हर्ष-रचित 'रत्नावली' से ली है।

(१२) कीर्त्तिस्तंभ के लक्षणों का एक ग्रंथ

प्राचीन काल से संसार के सभी देशों मे जय-स्तंभ बनवाने की प्रथा चली आती है। भारतवर्ष में भी बड़े-बड़े राजा अपने विजय-स्तंभ बनवाते थे। मेवाड़ के सुप्रसिद्ध, विद्वान् एवं महाप्रतापी महाराणा कुंभकर्ण (कुंभा— सन् १४३३-६८ ई०) ने चित्तोड़ के इतिहास-प्रसिद्ध दुर्ग पर अपना विजय-

स्तंभ बनवाया। उस के साथ उक्त महाराणा ने विजय-स्तंभों के संबंध-में स्वरचित एक संस्कृत ग्रंथ भी शिलाओं पर खुदवा कर कीर्तिस्तंभ में कहीं लगवाया था। बहुत वर्ष पूर्व महामहोपाध्याय रायबहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचंदजी ओझा को उस की पहली शिला का प्रारंभिक अंश कीर्तिस्तंभ के पास ही पत्थरों के ढेर मे मिला था [१]। वह इस समय उदयपुर के विक्टोरिया हॉल में सुरक्षित है। उस में महाराणा कुंभा ने लिखा है कि विश्वकर्मा का ध्यान कर जय और अपराजित के मतानुसार राजा कुंभकर्ण स्तंभों के लक्षण बतलाता है [२]। इस ग्रंथ का समय वि० सं० १५०५ (ई० स० १४४८) के आस पास है, क्योंकि उसी संवत् में माघ सुदि १० को कीर्तिस्तंभ की समाप्ति हुई।

(१३) राजप्रशस्ति महाकाव्य

उयदपुर राज्य (मेवाड़) में यू० सी० रेल्वे के 'मावली-कामली घाट एक्स्टेंशन' लाइन पर काँकरोली स्टेशन है। काँकरोली में वल्लभ संप्रदाय का एक प्रसिद्ध मंदिर है। काँकरोली से डेढ़ मील पर राजनगर नामक क़स्बा है, जहाँ मेवाड़ के सुविख्यात राजनीतिज्ञ एवं वीर महाराणा राजसिंह (वि० सं० १७०९-१७३७) ने वि० सं० १७१८-३२ (ई० स० १६६२-७६) में एक सुविशाल सरोवर खुदवाया, जो राजसमुद्र नाम से प्रसिद्ध है। इस सरोवर का संगमरमर का बाँध और सुंदर खुदाई वाली बड़ी-बड़ी छत्रियाँ दर्शनीय हैं। महाराणा राजसिंह के राजत्व-काल में 'राजप्रशस्ति' नामक २४

---

[१] राजपूताने का इतिहास, जि० २, पृ० ६२७।

[२] श्रीविश्वकर्माख्यमहार्थवीर्य--
माचार्यमुत्पत्तिविधावुपास्य।
स्तंभस्य लक्ष्मातनुते नृपालः
श्रीकुंभकर्णो जयभाषितेन ॥ २ ॥
जयापराजितमुखैर्भणितस्स भेधा यथा।.......॥ ३ ॥
(मूल लेख की छाप से)

सर्गों का एक संस्कृत महाकाव्य लिखा गया था वह काले पत्थर की २५ बड़ी शिलाओं पर खुदवाया जा कर राजसमुद्र के बाँध पर २५ ताकों में लगवाया गया था। इस में आरंभ से महाराणा राजसिंह तक का मेवाड़ का सविस्तर इतिहास और राजसमुद्र का विस्तृत विवरण होने से यह ऐतिहासिकों के लिए बड़े महत्त्व की वस्तु है। यह भारत भर में सब से बड़ा शिलालेख और शिलाओं पर खुदे हुए ग्रंथों में भी सब से बड़ा[1] है। ई० स० १९१७ में महामहोपाध्याय रायबहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचंद जी ओझा ने सर्वप्रथम इस महाकाव्य का सारांश प्रकाशित[2] किया था। अब तक इस का मूल पाठ अप्रकाशित[3] है। इस का प्रत्येक सर्ग एक-एक शिला पर खुदा है। बहुत सी शिलाओं के अंत में लिखा मिलता है कि राजसमुद्र की खुदाई वि० सं० १७१८ माघ वदी ७ से आरंभ हुई और संवत् १७३२ माघ सुदी १५ को उस का कार्य समाप्त हुआ।

---

[1] महामहोपाध्याय रा० ब० गौरीशंकर हीराचंद ओझा; राजपूताने का इतिहास; दूसरी जिल्द, पृ० ८८४।

[2] ऐन्युअल रिपोर्ट ऑव् दि वर्किंग ऑव् दि राजपूताना म्यूज़ियम्, अजमेर (१९१७-१८), पृ० २-६।

[3] भावनगर राज्य (काठियावाड) के पुरातत्वविभाग की ओर से प्रकाशित 'ए कलेक्शन ऑव् प्राकृत ऐंड संस्कृत इन्स्क्रिप्शन्स' (पृ० १४५-५४) और 'भावनगर प्राचीन शोध-संग्रह' (पृ० ७३-९०) में इस महाकाव्य के दो सर्ग (अनुवाद-सहित) छपे हैं। शेष २२ सर्गों को अब तक अप्रकाशित ही समझना चाहिए। मेवाड़ के बृहद् इतिहास 'वीरविनोद' में यह महाकाव्य छपा था, किंतु वह ग्रंथ छपते ही बंद कर दिया गया और अब तक प्रकाश में नहीं आया। किसी तरह उस की इनी-गिनी प्रतियाँ बाहर निकल गई हैं, किंतु उन से प्रत्येक इतिहास-प्रेमी पाठक लाभ नहीं उठा सकता। 'वीरविनोद' में राजप्रशस्ति का जो पाठ है वह भी अनेक स्थलों पर अशुद्ध पढ़ा गया है, इसलिए उस पाठ को हम नितांत शुद्ध एवं प्रामाणिक नहीं मान सकते।

इस महाकाव्य[1] की लिपि साधारण है। उस की भाषा भी चमत्कार पूर्ण नहीं है। कई स्थानों में शुद्ध संस्कृत भी नहीं है। बीच-बीच में मेवाड़ी और मारवाड़ी शब्द देख पड़ते हैं। इसे उत्कृष्ट काव्यों में स्थान नहीं दिया जा सकता। अधिकांश श्लोकों की रचना अनुष्टुभ् वृत्त में हुई है। महाराणा कुंभा के दरबार के विद्वान् कवि अत्रि और उस के पुत्र महेश्वर-रचित प्रशस्तियों की भाषा से इस की तुलना करने पर यह कहीं फीकी जान पड़ती है। इस में ऐतिहासिक वर्णन को विशेष स्थान मिला है। सुमित्र तक के इक्ष्वाकुवंशी राजाओं की वंशावली भागवत-पुराण से ली गई है और उस से आगे की भाटों की ख्यातों के अनुसार। रावल समरसिंह का वृत्तांत 'भाषा के रासा' (अर्थात् पृथ्वीराज रासो) के अनुसार लिखा गया है। कवि के समय से

---

[1] भारत-सरकार के पुरातत्व-विभाग के डाइरेक्टर-जनरल की निम्नलिखित पंक्तियों को पढ़ कर पाठकों को इस महाकाव्य के महत्व का परिचय मिल सकता है—

This Rajaprasasti is a unique record, the only one so far discovered in India where such a large work of no less than 24 cantos is inscribed on stone. The contents of these are briefly noted by Mr. Gauri Shankar H. Ojha and are of great interest and value for the history of the times . Around this were spun numerous other incidents, the genealogies of kings, their battles, peace negotiations, royal amenities, ceremonies, pilgrimages, charities and gifts. Such a poem cannot but be without its peculiar interest to students of history and Mr. Ojha must be congratulated on the discovery of such a fine record.

ऐन्युअल रिपोर्ट ऑव् दि आर्कियॉलॉजिकल सर्वे ऑव् इंडिया (१९१७-१८ ई०), पृ० ३१।

अनुमान डेढ़ सौ वर्ष का वृत्तांत राजकीय पत्र आदि ऐतिहासिक साधनों से लिखा गया है, जो उपादेय है इस में कई घटनाओं के संवत्, मास, पक्ष एवं तिथि आदि का भी निर्देश मिलता है। निम्नलिखित पंक्तियों में हम राजप्रशस्ति महाकाव्य के प्रत्येक सर्ग का सार-मात्र देते हैं।

प्रथम शिला में दुर्गा, गणेश, सूर्य तथा एकलिंगजी आदि देवताओं की स्तुति है। तदनंतर दूसरी शिला से पहला सर्ग आरंभ होता है। इस से जान पड़ता है कि कंठोरी कुल के मधुसूदन और गोस्वामी कुल की वेणी का पुत्र रणछोड़[1] भट्ट तैलंग इस महाकाव्य का रचयिता है। वायुपुराण के अनुसार पार्वती के आँसू से बाप्प (बापा रावल) और चंड नामक शिवगण के रूप में हारीत मुनि की उत्पत्ति का वर्णन कर इस महाकाव्य को रामायण, महाभारत तथा बाणभट्ट एवं श्रीहर्ष के ग्रंथों का समकक्ष बतलाया है।

दूसरे सर्ग मे भागवत पुराण के अनुसार मनु और इक्ष्वाकु से आरंभ कर सुमित्र तक १२२ इक्ष्वाकुवंशी राजाओं का उल्लेख कर अयोध्या के १२ अन्य राजाओं का, जिन में अंतिम विजयादित्य था, निर्देश किया गया है।

तीसरे सर्ग में विजयादित्य से चौदहवें गुहादित्य से आगे का वर्णन है। गुहादित्य के पुत्र बाप्प (बापा) ने एकलिंगजी की भक्ति कर अपने गुरु हारीत-राशि से एक करामाती कड़ा पाया और मौर्यवंशी राजा मनुराज (मान) से चित्रकूट (चित्तोड़) जीता था। बापा के प्रताप-वर्णन के पश्चात् दिल्लीश्वर पृथ्वीराज चौहान के बहनोई समरसिंह का, जो शहाबुद्दीन गोरी से लड़ कर काम आया था, 'भाषा (अर्थात् हिंदी)-रासा'[2] (पृथ्वीराज-रासो) के अनुसार विवरण दिया गया है। बापा से २६ वें राजा कर्ण के पुत्र राहप ने

---

[1] यस्यासीन्मधुसूदनस्तु जनको वेणी च गोस्वामिजा—
भून्माता रणछोड़ एष कृतवान् राजप्रशस्त्याह्वयम्।
काव्यं सान्वयराजसिंहनृपतिश्रीवर्णनाढ्यं महत्...॥ २१ ॥

[2] बध्वा गोरिपतिं दैवात्स्वर्यातः सूर्यबिंबभित्।
भाषारासापुस्तकेस्य युद्धस्योक्तोस्तिविस्तरः ॥ २७ ॥

जोधपुर राज्य में मंडोर के मोकलसी को परास्त कर, राणा उपाधि धारण कर, चित्तोड़ को अपनी राजधानी बनाया।

चौथे सर्ग में नरपति से प्रातः स्मरणीय महाराणा प्रताप तक का विवरण है। पद्मिनी-पति लक्ष्मणसिंह के राजत्व-काल में चित्तोड़ पर अलाउद्दीन की चढ़ाई, महाराणा कुंभा द्वारा कुंभलगढ़ का सुदृढ़ दुर्ग बनवाया जाना, महाराणा साँगा का फतहपुर सीकरी तक जा कर बाबर बादशाह के साथ युद्ध और पीलियाखाल तक मेवाड़ की सीमा का बढ़ना तथा महाराणा प्रताप के मानसिंह और अकबर के साथ के वीर-कार्य उल्लेखनीय हैं। एक रोचक घटना के संबंध मे लिखा है कि राणा प्रताप ने किसी भाट को एक पगड़ी दी थी। वह भाट दिल्ली में बादशाह अकबर को मुजरा करने गया, उस समय उस ने वह पगड़ी अपने हाथ में ले ली। कारण पूछे जाने पर उस ने बतलाया कि यह महाराणा प्रताप की पगड़ी है (जिस ने किसी बादशाह के सामने कभी सिर नहीं झुकाया)। यह सुन बादशाह संतुष्ट हुआ।[1]

पाँचवें सर्ग में महाराणा अमरसिंह (वि० सं० १६५३-७६=ई० स० १५९६-१६१९) के मानसिंह, सलीम और खुर्रम के साथ के युद्धों का वर्णन है। जहाँगीर बादशाह की आज्ञा के अनुसार खुर्रम और अमरसिंह में मित्रतापूर्वक संधि, कर्णसिंह का शूकरक्षेत्र (सोरों) में सोने का तुला-दान, जहाँगीर से विद्रोह करते समय खुर्रम का मेवाड़ में शरण लेना, कर्णसिंह के उत्तराधिकारी जगत्सिंह प्रथम द्वारा डूंगरपुर और देवलिया पर चढ़ाई, संवत् १६८६ (ई० स० १६२९) में उस के ज्येष्ठ पुत्र राजसिंह का जन्म तथा

---

१ ·····कोपि भाटः प्राप्योष्णीषादिकं धनं ॥ ४६ ॥
प्रतापसिंहाद्दिल्लीशं द्रष्टुं यातस्तदंतिके।
यथा प्राप्तस्तदा वद्धं तदुष्णीषं करेदधत् ॥ ४७ ॥
गत्वा सलामं कृत्वा दिल्लीशे नतदेरितः।
किमिदं सोवदद्राणाप्रतापोष्णीषमित्यतः ॥ ४८ ॥
न धृतं मूर्ध्नि दिल्लीशस्तुतोष ज्ञापिताशयः।

जगत्सिंह की तीर्थ-यात्राओं एवं पुण्यकार्यों का वृत्तांत है

छठे सर्ग में महाराणा राजसिंह के पुत्र जयसिंह का जन्म (संवत् १७११), शाहजहाँ बादशाह से मेवाड़ को १४ जिले मिलने और महाराणा के दान-पुण्यों का उल्लेख है।

सातवें सर्ग में महाकाव्य की रीति के अनुसार महाराणा राजसिंह की समीपवर्ती प्रदेशों की विजय-यात्रा का वर्णन मिलता है। महाराणा द्वारा जीते हुए स्थानों में अजमेर, साँभर, मांडल, शाहपुरा, फूलिया, जहाजपुर, सावर, रणथंभोर, बयाना, टोड़ा, फ़तहपुर, दरीबा, बनेड़ा, टोंक, लालसोट, चाटसू और मालपुरा उल्लेखनीय हैं।

आठवें सर्ग से ज्ञात होता है कि वि० सं० १७१४ (ई० स० १६५७) में राणा राजसिंह ने अपने छोटे भाई अरिसिंह को बादशाह औरंगजेब के पास भेजा और बादशाह ने उसे डूंगरपुर दिया। ई० स० १६५९ में राणा ने डूंगरपुर घेर कर वहाँ के रावत को अपना सामंत बनाया और देवलिया के स्वामी रावत हरिसिंह को परास्त कर उस से हाथी और धन प्राप्त किया। इस के सिवा सिरोही के राव की पराजय तथा शत्रुओं के आक्रमण रोकने के लिए देबारी में ऊँची चहारदीवारी और बड़ी गाँव के पास महाराणा का अपनी माता के नाम पर ६,८८०००) रु० के व्यय से जनासागर तालाब बनवाने का उल्लेख है। महाराणा द्वारा उस तालाब की प्रदक्षिणा और सुवर्ण के तुलादान का भी विवरण मिलता है।

नवें सर्ग में लिखा है कि वि० सं० १६९८ (ई० स० १६४१) में अपने कुँवरपदे में विवाह के लिए जैसलमेर जाते समय राजसिंह ने राजसमुद्र की भूमि पसंद[1] की और बीस वर्ष के अनंतर रूपनारायण के दर्शन को जाते

---

[1] श्रीकुमारपदे पूर्वं राजसिंहो ययौ प्रति।
दुर्गं जेसलमेराख्यं पाणिग्रहकृते तदा ॥ ३ ॥
......ग्रामाणां सीम्नि दृष्ट्वा क्ष्मां तडागकरणोचितां
स्वमनः स्थापयामास बद्धुमत्र जलाशयम् ॥ ७ ॥

हुए महाराणा ने बारह गाँवों की सीमा को तालाव[1] के लिए अंकित किया। राजसमुद्र के लिए भिन्न भिन्न बाँधों की नींव की खुदाई वि० सं० १५१८ माघ वदि ७ (ता० १ जनवरी सन् १६६२ ई०) को आरंभ हुई। बहुत बड़ा काम होने से उस के कई विभाग कर प्रत्येक अलग अलग सरदारों आदि को सौंपा गया। नींव में पानी बहुत भर जाने के कारण कई रहटों से पानी निकाला गया। ता० १७ अप्रैल सन् १६६५ ई० को पुरोहित गरीबदास के ज्येष्ठ पुत्र रणछोड़राय के हाथ से पंच-रत्न-सहित आधार-शिला रखी गई[2] और चुनाई आरंभ हुई।

दसवें सर्ग में तालाव का बाँध बनते समय महाराणा-द्वारा किए गए दान-पुण्य और संवत् १७०६ (ई० स० १६६९) मे काँकरोली मे बाँध बनने का उल्लेख है। दूसरे साल नाव में बैठ कर महाराणा ने सरोवर का निरीक्षण किया।

ग्यारहवें सर्ग में राजसमुद्र तालाब और उस के बाँधों की लंबाई-चौड़ाई तथा सीढ़ियों, मंडप, गुंबज, द्वार और साथ के मंदिरों आदि का विवरण है।

बारहवें सर्ग में भी इन का ब्योरा चल रहा है, इस के सिवा तालाब की सीमा के भीतर के बारह गाँव, उस में गिरनेवाले नालों और उस की सीमा के भीतर आए हुए पुराने कुंडों का निर्देश है। विश्वकर्मा के मतानुसार कोई तालाव ६००० गज़ से अधिक लंबा नहीं होना चाहिए, किंतु इस की लंबाई ७००० गज़ है। बाँध के सिवा इस के १२ कोठे, ११ मंडप और ४८

---

[1] शते सप्तदशे पूर्णे अष्टादशमितेऽब्दके।
मासे मार्गे ययौ द्रष्टुं रूपनारायणं हरिम् ॥ ९ ॥
तदेनां वीक्ष्य वसुधां तडागं बद्धुमुद्यतः ।""""॥ १० ॥

[2] गरीबदासस्य पुरोहितस्य
ज्येष्ठः कुमारो रणछोडरायः ।
महाशिलां पञ्चसुरत्नपूर्णा-
मादौ दधे तत्र पदस्य पूर्त्यै ॥ ३७ ॥

छत्रियाँ हैं, जिन में दो संगमरमर की बनी हुई हैं राणा उदयसिंह ने यहाँ पानी रोकना चाहा था, किंतु उस में सफल न होने से उस ने उदयसागर बनवाया। वि० सं० १७३१ (ई० स० १६७४) में लाहौर, सूरत आदि नगरों के कारीगरों की बनाई हुई 'जहाज़'[1] नामक बड़ी नाव सरोवर में डाली गई।

तेरहवें सर्ग में तालाब की प्रतिष्ठा के अवसर पर मित्र राजाओं को निमंत्रण और उन के आगमन के समय महाराणा की तरफ़ से होनेवाली उन की ख़ातिरदारी का सविस्तार वर्णन है।

चौदहवें सर्ग में परमारवंश की महारानी रामरसदे-द्वारा बनवाई हुई बावड़ी की ३००००) रु० के व्यय से प्रतिष्ठा तथा उस समय पुरोहित एवं ब्राह्मणों को दिए गए दानों का उल्लेख है।

पन्द्रहवें सर्ग में प्रतिष्ठा का सविस्तार वर्णन है। वि० सं० १७३२ माघ सुदि ९ (ता० १४ जनवरी सन् १६७६ ई०) को प्रतिष्ठा का कार्य आरंभ हुआ। अष्टमी को महाराणा ने उपवास किया और देह-शुद्धि प्रायश्चित्त के अनंतर नवमी को अपने भाइयों, कुँवरों, रानियों, चाचियों, पुत्र-वधुओं अपने वंश की पुत्रियों तथा पुरोहित गरीबदास आदि के साथ मंडप में प्रवेश कर वरुण आदि देवताओं का पूजन किया। प्रतिष्ठा के लिए तैयार कराए दो मंडपों में नौ कुंडों में अग्नि स्थापित कर हवन आरंभ हुआ। उस दिन महाराणा ने रात्रि-जागरण किया, सरोवर में अन्न, मछलियाँ और कछुए छोड़े, एक गाय आरपार तैराई और तालाब का नाम राजसागर अथवा राजसमुद्र देकर उस की प्रदक्षिणा की।

सोलहवें सर्ग में लिखा है कि वि० सं० १६२२ (ई० स० १५६५) में राणा उदयसिंह ने पालकी में बैठ कर उदयसागर की प्रदक्षिणा की थी, किंतु

---

[1] पूर्णे शते सप्तदशेब्द एकत्रिंशदन्विते श्रावणशुक्लपक्षे।
सुपंचमीदिव्यदिने तडागे जहाजसंज्ञां विदधुः सुनौकाम् ॥ ३५॥
लाहोरसद्गूर्जर सूरतिस्थाः सत्सूत्रधाराः.....

महाराणा राजसिंह ने अपनी रानी, परिजनों और सरदारों के साथ कपड़े के जूते पहन पैदल प्रदक्षिणा की। आगे-आगे वेदपाठी ब्राह्मण चलते जाते थे। ६ दिन में १४ कोस की यह परिक्रमा समाप्त होने पर पूर्णिमा के दिन प्रतिष्ठा की पूर्णाहुति हुई। महाराणा ने ९ धागों को तालाब के चारों ओर फिराया।

सत्रहवें सर्ग में प्रतिष्ठा के समय उपस्थित महाराणा के पुत्र-पौत्र, भाई-भतीजों और सप्त-सागर-दान तथा पौत्र अमरसिंह को साथ बिठाकर, सुवर्ण के तुलादान का, जिसमे १२००० तोले सोना लगा था, विवरण है। सप्तसागर दान के संबंध मे लिखा है कि इस के लिए सोने के सात कुंड बनाए जाते थे। ब्रह्मा का कुंड नमक से, विष्णु का दूध से, शिव का घी से, सूर्य का गुड़ से, इन्द्र का धान्य से, रमा का शक्कर से और गौरी का जल से भरा जाता था। ये सातों भरे हुए सुवर्ण-कुंड दान में दिए जाते थे।[1]

अठारहवें सर्ग में उस अवसर पर महाराणा द्वारा पुरोहित गरीबदास को दिए गए १२ गाँवों का नामोल्लेख है। उसी समय महारानी, गरीबदास के पुत्र रणछोड़राय तथा सलूंबर के राव केसरीसिंह चौहान ने भी चाँदी के तुला-दान किए थे।

उन्नीसवे सर्ग में राजसमुद्र की प्रतिष्ठा के समय ४६००० ब्राह्मणों को दिए हुए दान तथा आमंत्रित अतिथियों के मान-सम्मान का सविस्तर प्रशंसात्मक वर्णन है—

बीसवें सर्ग में प्रतिष्ठा के अवसर पर जोधपुर-नरेश जसवंतसिंह राठोड़, आंबेर (जयपुर) के रामसिंह कछवाहा, बीकानेर के राजा अनूपसिंह, बूँदीपति राव भावसिंह हाड़ा, रामपुरे के मुहकमसिंह चंद्रावत, जैसलमेर-नरेश रावल अमरसिंह भाटी, डूँगरपुर के रावल जसवंतसिंह तथा रीवाँ के राजा भावसिंह बांधवेश आदि विशिष्ट व्यक्तियों की भेंट तथा चारण-भाटों के दान का सविस्तार वर्णन मिलता है। इस अवसर पर पंडितों, चारणों, भाटों आदि को १२२२६८) रु० मूल्य के ५५२ घोड़े तथा १०२८८०) रु० की कीमत के १३

[1] श्लोक १०-१४।

हाथी तथा सिरोपाव आदि दिए गए थे मुख्य शिल्पी को २५०००) रु० इनाम मे मिले

इक्कीसवें सर्ग से पता चलता है कि इस तालाव के बनवाने मे १०५०७६०८) रु०[1] व्यय हुए। इस के सिवा विभिन्न दानों में लगे हुए सोने का वजन भी दिया गया है।

बाईसवें सर्ग से ज्ञात होता है कि वि० सं० १७३५ (ई० स० १६७८) मे युवराज जयसिंह दिल्ली से दो कोस पर बादशाह औरंगजेब से मिला। फिर गंगा-तटस्थ गढ़मुक्तेश्वर में चाँदी का तुलादान कर वह मथुरा गया। वि० स० १७३६ (ई० स० १६७१) में औरंगजेब की मेवाड़ पर चढ़ाई और कुँवर जयसिंह-द्वारा शाहजादे अकबर की अध्यक्षता मे दिल्ली की पराजय का उल्लेख है।

तेईसवें सर्ग से कार्तिक शु० १० वि० सं० १७३७ (ई० स० १६८०) मे महाराणा राजसिंह की मृत्यु होने का पता चलता है।

चौबीसवें सर्ग से जान पड़ता है कि राजसमुद्र पर सोने और चाँदी के जो तुलादान हुए, उन की स्मृति में वहाँ पत्थर के हाथियों वाले तोरण बनाए गए। राजप्रशस्ति महाकाव्य की रचना वि० सं० १७३२ (ई० स० १६७५) मे हुई थी,[2] किन्तु इस में इस से ५-६ वर्ष पीछे तक की घटनाओं का उल्लेख होने से जान पड़ता है कि समय बीतने के साथ साथ पीछे की घटनाएँ लिखी जाकर

---

[1] एका कोटिः पंच लक्षाणि रूप्य-
मुद्राणां वा सत्सहस्राणि सप्त।
लग्नान्यस्मिन् षट्शतान्यष्टकं वै
कार्ये प्रोक्तं पक्ष एव द्वितीये ॥ २ ॥

[2] पूर्णे सप्तदशे शते तपसि वा सत्पूर्णिमाख्ये दिने
द्वात्रिंशन्मितवत्सरे नरपतेः श्रीराजसिंहप्रभोः।
काव्यं राजसमुद्रमिष्टजलधेः सुष्टप्रतिष्ठाविधेः
स्तोत्रं [श्री] रणछोड़भट्टरचितं राजप्रशस्त्याह्वयम् ॥ १२ ॥

अंतिम शिलाओं पर खोदी गई होंगी। इस सर्ग के शेषांश में उक्त महाकाव्य की प्रशंसा पाई जाती है। अंत में मेवाड़ी भाषा में महाराणा राजसिंह की प्रशंसा में दो सोरठे लिखे गए हैं और उन जागीरदारों तथा अफसरों का नाम-निर्देश है, जिन्हों ने तालाब बनते समय कार्य किया था।

यह महाकाव्य अब तक शिलाओं पर मिले हुए ग्रंथों में सब से बड़ा और उदयपुर राज्य के इतिहास के लिए उपयोगी साधन है; किंतु खेद का विषय है कि अब तक इस महत्त्वपूर्ण महाकाव्य का सटिप्पण सर्वांगसुंदर संस्करण प्रकाशित करने की ओर उदयपुर राज्य का ध्यान आकृष्ट नहीं हुआ! भावनगर राज्य के पुरातत्व-विभाग ने आज से ४८ वर्ष पूर्व—ई० स० १८८५ में—इस महाकाव्य के ऐतिहासिक महत्त्व को जानकर इस के दो सर्ग 'भावनगर-प्राचीन-शोधसंग्रह' में सानुवाद प्रकाशित किए थे। तब से अब तक—लगभग आधी शताब्दी में—भारतीय इतिहास एवं पुरातत्व के क्षेत्र में बहुत कुछ नई शोध हो गई है, जिस से इस महाकाव्य में वर्णित ऐतिहासिक घटनाओं को विशुद्ध इतिहास की कसौटी पर कसने के अनेक नए साधन प्रकाश मे आए है। मेवाड़ प्राचीन ऐतिहासिक सामग्री का भंडार है। उस के लिए केवल राज्य की ओर से विद्वान् एवं परिश्रमी पुरातत्त्वान्वेषकों के प्रोत्साहन की आवश्यकता है। इस लिए शायद यह आशा करना व्यर्थ न होगा कि निकट भविष्य मे किसी दिन उदयपुर राज्य में पुरातत्त्व-विभाग की स्थापना होकर किसी सुयोग्य विद्वान् के द्वारा इस ऐतिहासिक महाकाव्य का वर्तमान पद्धति के अनुसार संपादित सर्वोत्तम संस्करण प्रकाशित होगा।

'तुलसीदास' नाम के साथ लगे हुए 'गोसाईं' शब्द का रहस्य

[लेखक—श्रीयुत माताप्रसाद गुप्त, एम्० ए०]

'गोसाईं' शब्द संस्कृत 'गोस्वामी' का एक विकृत रूप है, जिस का अर्थ मूलतः 'इंद्रिय-निग्रही' होता है। किंतु इस शब्द का प्रयोग एक सीमित अर्थ में कई शताब्दियों से होता चला आ रहा है, फलतः कभी कभी जब हम साधारण योगियों और सन्यासियों को भी इस शब्द द्वारा संबोधित करते हैं तो वह अधिकतर हमारी असावधानी का परिचायक होता है। वस्तुतः 'गोसाईं' उपाधि के अधिकारी वे ही साधु माने जाते हैं जो कतिपय विशिष्ट संप्रदायों में दीक्षित होते हैं। ऐसे संप्रदाय गिनती के पाँच हैं—'वृन्दाबनी,' 'गौड़ीय,' 'गोकुलस्थ,' 'राधावल्लभी' और 'दशनामी'।

'वृन्दाबनी गोसाईं' राधा-कृष्ण के उपासक होते हैं। इन के प्रथम आचार्य कदाचित् महात्मा निम्बार्क थे जिन का समय १३ वीं शताब्दी माना जाता है।[1]

'गौड़ीय गोसाईं' कृष्णोपासक होते हैं। इन के आदि आचार्य चैतन्य महाप्रभु थे जिन का गोलोकवास सं० १५८४ में हुआ माना जाता है। नाभादास जी के समय में पूर्वीय भारत में चैतन्य स्वामी कृष्ण का अवतार माने जाते थे, जिस का स्पष्ट उल्लेख उन्हों ने एक छप्पय में किया है।[2] चैतन्य-

---

[1] जन्मकाल सं० १२१९ माना जाता है।

[2] 'भक्तमाल', छप्पय ७२।

देव के प्रेम का आदर्श गोपियों का प्रेम था और यही उन के अनुयाइयों का भी हुआ।

'गोकुलस्थ गोसाईं' उपाधि द्वारा महाप्रभु वल्लभाचार्य के दूसरे पुत्र गोसाईं बिट्ठलनाथ और उन के उत्तराधिकारी अभिहित होते हैं। गोसाईं बिट्ठलनाथ जी का समय सं० १५७२ से सं० १६४४ तक माना जाता है। गोसाईं बिट्ठलनाथ जी वात्सल्य भाव के साथ कृष्ण के उपासक थे। नाभादास जी ने लिखा है कि नंद ने द्वापर में कृष्ण-प्रेम में वात्सल्य-सुख का जो अपूर्व अनुभव किया उसी का अनुभव कलियुग में वल्लभाचार्य के पुत्र बिट्ठलनाथ ने अपने पुत्रों के प्रेम मे किया।[1] फलतः कृष्ण की वात्सल्य-भाव-मयी उपासना ही इस संप्रदाय की प्रमुख विशेषता हुई। अधिष्ठात्रि-देव श्रीनाथ जी हैं, जो गोवर्धन में पहिले स्थापित थे किंतु सं० १७२८ से जो नाथद्वारे में स्थापित हैं।

'राधावल्लभी' संप्रदाय के संस्थापक हितहरिवंश जी थे जो तुलसीदास के समकालीन थे। कहा जाता है कि राधिका जी ने इन्हें स्वप्न में मंत्र दिया था, जिस से प्रेरित हो कर इन्हों ने 'राधावल्लभी' संप्रदाय की स्थापना की। सं० १५८२ में इन्हों ने राधावल्लभ की मूर्ति वृन्दाबन में स्थापित की और वहीं विरक्त भाव से रहने लगे। इन की उपासना के संबंध में लिखते हुए नाभादास जी ने लिखा है कि "इन की भक्ति प्रधानतः श्रीराधा के चरणों में अत्यंत दृढ़ थी और इन्हों ने दंपति के केलिकुंज-संबंधी सेवाओं का भार विशेष रूप से अपने ऊपर लिया था।"[2] फलतः, इस संप्रदाय की भक्ति सखीभाव की मानी जाती है।[3]

---

[1] 'भक्तमाल,' छप्पय ९८।

[2] वही, छप्पय ९०।

[3] 'मूल गोसाईंचरित'-कार ने लिखा है कि "वृन्दाबन से हितहरिवंश ने तुलसीदास के पास अपने एक प्रिय शिष्य के हाथ 'यमुनाष्टक' 'राधा-सुधा-निधि' और 'राधिकातंत्र-महाविधि' नामक ग्रंथ और एक पत्रिका भेजी जो सं० १६०९ जन्माष्टमी की थी। उस पत्रिका में यह लिखा हुआ था और शिष्य से भी हित जी ने

'दशनामी गोसाइयों के गिरि, पुरी, भारती आदि दस भेद होते हैं इसी कारण उन का यह नाम पड़ा। अधिकतर इन्हें शैव-संप्रदाय का अंग माना जाता है, किंतु वस्तुतः शिव को उपासना इस संघ में अनिवार्य नही है। सन् १८७१-८२ में लिखे हुए इस संबंध मे प्रामाणिक माने जाने वाले अपने ग्रंथ 'हिंदू ट्राइब्स ऐंड कास्ट्स ऐज़ रिप्रेज़ेन्टेड ऐट् बनारस' (पृ० २५५) में लिखते हुए एम० ए० शेरिंग साहब कहते हैं, "भारत के इस भाग में दशनामी गोसाईं विष्णु के उपासक होते हैं, यद्यपि कुछ अन्य भागों मे वे शिव-भक्त जान पड़ते हैं। प्रत्येक स्थान पर श्रीशंकराचार्य ही उन के गुरु माने जाते है।" इन का धर्म 'स्मार्त' है जिस के पुनरुद्धारक श्रीशंकराचार्य थे। श्रीशंकराचार्य ने अद्वैत-मत और ज्ञान-मार्ग के पोषक होते हुए भी उस आदर्श की दुरूहता के कारण कुछ देवताओं की उपासना साधन-रूप से मान ली थी—विशेषतः पंच-देव, शिव, विष्णु, सूर्य, गणेश और शक्ति की। 'स्मार्त धर्म' का मूल सिद्धांत इस प्रकार है—ब्रह्म या परब्रह्म ही एक मात्र सत्ता है, वही इस जगत का कारण और विधाता है, और वह शिव, विष्णु और ब्रह्मा या किसी भी देवता से भिन्न है। उस ब्रह्म का ज्ञान ही सब से अधिक श्रेयस्कर है। उस के यथार्थ ज्ञान से मुक्ति और अद्वैतता प्राप्त होती है। किंतु इस लिए कि मनुष्य का मस्तिष्क उस अनिर्वचनीय मूल-कारण के अनुभव के लिए असमर्थ है उस का अनुभव देवताओं के ध्यान द्वारा किया जा सकता है और उस की प्राप्ति के लिए शास्त्रोक्त साधनों को व्यवहार मे लाया जा सकता है। यह धर्म

कहलाया था कि आने वाली कार्तिकी पूर्णिमा के दिन शरीर त्याग की उन की बड़ी आकांक्षा थी इसीलिए वे गोस्वामी जी से आशीर्वाद चाहते थे कि वे कुंज-लाभ करें। इस विनती को सुन कर तुलसीदास ने 'एवमस्तु' कहा और हित जी ने शरीर त्याग कर तदनुसार नित्य-निकुंज में प्रवेश किया।" ('मूल गोसाईं-चरित,' दो० ८।) किंतु 'मूल गोसाईंचरित' की कितनी बातें मान्य हैं यह कहना कठिन है (देखिए 'मूल गोसाईंचरित' की ऐतिहासिकता पर कुछ विचार' 'हिंदुस्तानी,' जुलाई, १९३२ पृ० २५३)।

हिंदुओं के सभी देवताओं का आदर करता है, और निम्नलिखित देवताओं की उपासना का तो शंकराचार्य ही की स्पष्ट अनुमति से उन के शिष्यों ने उपदेश किया था—शिव, विष्णु, कृष्ण, सूर्य, शक्ति, गणेश और भैरव।"[1]

अब प्रश्न यह है कि तुलसीदास ऊपर के पाँच प्रकार के गोसाइयों मे से किस में स्थान पा सकते हैं। यह तो स्पष्ट ही है कि न तो उन्हें 'वृन्दावनी' गोसाईं कहा जा सकता है न 'गौड़ीय' न 'गोकुलस्थ' और न 'राधावल्लभी'। हमे यह देखना है कि क्या वे 'दशनामी' गोसाइयों मे रक्खे जा सकते हैं।

यदि हम गोस्वामी तुलसीदास की रचनाओं को पढ़ कर उन के दार्शनिक और धार्मिक विचारों का समन्वय करते हैं तो हम उन्हें पूरा 'स्मार्त' पाते है। शुद्ध 'वैष्णव' धर्म और 'स्मार्त' धर्म में एक महान् अंतर है, और वह यह है कि 'वैष्णव' धर्म 'एकांतिक' धर्म है, उस के शुद्ध रूप में विष्णु और उन के किसी अवतार के अतिरिक्त किसी अन्य देवता के लिए स्थान नहीं है; 'स्मार्त' धर्म सभी देवताओं को आदर की दृष्टि से देखता है। एक दूसरा अंतर दोनों में यह है कि 'वैष्णव' धर्म विष्णु ही को ईश्वर और सर्वश्रेष्ठ शक्ति मानता है किंतु 'स्मार्त' धर्म त्रिदेवों से परे ब्रह्म को ही सर्वश्रेष्ठ शक्ति, और मूल-कारण मानता है; उस की दृष्टि मे त्रिदेव अथवा किसी भी देवता की उपासना वहीं तक सार्थक है जहाँ तक वह उस अनिर्वचनीय शक्ति का अनुभव करा सकती है। यदि हम इस दृष्टि से गोस्वामी जी की रचनाओं का अध्ययन करते हैं तो हमें पहिले की अपेक्षा दूसरे ही धर्म की ओर उन का स्पष्ट झुकाव जान पड़ता है।

तुलसीदास ने अपनी संपूर्ण रचनाओं में राम को ब्रह्म कहा है और कितने ही स्थलों पर उन्हें ब्रह्मा, विष्णु और शिव से भी ऊपर माना है।

'विधि हरि शंभु नचावन हारे।'

में 'नचावन' शब्द द्वारा अपनी यह धारणा उन्हों ने नितांत स्पष्ट कर दी है, किंतु जो बात अधिक ध्यान देने योग्य है वह यह है कि राम 'हरि' (विष्णु)

---

[1] 'एनसाइक्लोपिडिया अव् रेलिजन ऐंड एथिक्स' के 'स्मार्त' शीर्षक से।

को भी नचाने वाले हैं इसी सिद्धांत को 'मानस' के सती-मोह प्रकरण में एक प्रत्यक्ष घटना के रूप में उन्हों ने इस प्रकार रक्खा है—

सती दीख कौतुक मग जाता।
आगे राम सहित श्री भ्राता॥
फिरि चितवा पाछे प्रभु देखा।
सहित बंधु सिय सुंदर वेषा॥
जहँ चितवहि तहँ प्रभु आसीना।
सेवहिं सिद्ध मुनीस प्रबीना॥
देखे सिव बिधि बिष्णु अनेका।
अमित प्रभाउ एक ते एका॥
बंदत चरन करत प्रभु सेवा।
बिबिधि बेष देखे सब देवा॥
पूजहिं प्रभुहिं देव बहु वेषा।
रामरूप दूसर नहिं देखा॥
अवलोके रघुपति बहुतेरे।
सीता सहित न बेष घनेरे॥
सोइ रघुबर सोइ लछिमन सीता।
सती देखि अति भई सभीता॥[1]

यहाँ भी हम वही बात पाते हैं—सभी देवता जिन में विष्णु भी संमिलित हैं राम के चरणों की बंदना करते हैं और उन की पूजा करते हैं। किंतु इस प्रसंग में इतना और भी ध्यान देने योग्य है कि देवता अनेक वेषों मे राम की पूजा करते हैं किंतु राम का रूप परिवर्तित नहीं होता। यद्यपि सती ने अनेकों राम भी देखे किंतु सीता-राम (अर्थात् माया और ब्रह्म) का वेष उन अनेक परिस्थितियों में भी वही बना रहा। यह तथ्य इस प्रकार से रखने का प्रयोजन यह है कि तुलसीदास राम का निर्देश उस अपरिवर्तनीय

---

१ 'रामचरितमानस', बाल०, ५४, ५५ (रामदास गौड़ का संस्करण)।

मूल-सत्ता के रूप में करना चाहते हैं जिसे दार्शनिक भाषा में ब्रह्म कह कर अभिहित किया जाता है।

वस्तुतः तुलसीदास के राम विष्णु के अवतार नहीं हैं वे स्वयं सगुण ब्रह्म हैं, यदि 'मानस' में एकाध स्थल पर हमें यह भी मिलता है कि राम विष्णु के अवतार हैं तो वह उस 'अध्यात्म-रामायण' की प्रतिच्छाया है जिस में आदि से अंत तक राम को विष्णु का अवतार, विष्णु को ईश्वर, और ईश्वर को सर्वोपरि सत्ता माना गया है। 'मानस' की तो पूरी कथा ही पार्वती की इस शंका के समाधान के लिए कही गई है—

ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज, अकल अनीह अभेद।
सो कि देह धरि होइ नर, जाहि न जानत बेद॥[1]

किंतु स्वयं तुलसीदास ने भी उन राम-ब्रह्म की प्राप्ति के लिए अन्य देवताओं की उपासना की थी—'विनयपत्रिका' के अनेक पदों और स्तोत्रों मे तो उन्हों ने सनातन से चले आते लगभग सभी हिंदू देवियों और देवताओं की बंदना की है। और, 'मानस' के अयोध्याकांड मे चित्रकूट आए हुए अयोध्या के नर-नारियों से भी वह पंचदेव-पूजा करवाई है जो अन्य किसी 'रामायण' में नहीं मिल सकती। वे चौपाइयाँ इस प्रकार हैं—

एहि प्रकार गत बासर सोऊ।
प्रात नहान लाग सब कोऊ॥
करि मज्जन पूजहिं नर नारी।
गनपति गौरि पुरारि तमारी॥
रमा-रमन-पद बंदि बहोरी।
बिनवहिं अंजलि अंचल जोरी॥[2]

ऊपर 'दशनामी' गोसाइयों और 'स्मार्त-धर्म' का परिचय देते हुए जिन पाँच प्रमुख देवों का उल्लेख किया गया है उन्हीं का उल्लेख ऊपर की चौपाइयों

---

[1] 'रामचरितमानस', बाल० ५० (रामदास गौड़ का संस्करण)।

[2] वही, अयोध्या०, २७३।

मे भी हुआ है

एक अन्य प्रकार से भी यह प्रमाणित है कि तुलसीदास स्मार्त थे वह है 'मानस'-रचना के प्रारंभ की तिथि के द्वारा। रामनवमियाँ दो होती हैं, एक स्मार्तों की और दूसरी वैष्णवों की। स्मार्तों की रामनवमियाँ उस दिन पड़ती हैं जिस दिन मध्याह्न में भी नवमी की तिथि बनी रहती है, किंतु वैष्णवों की रामनवमी उस दिन पड़ती है जिस दिन वह तिथि मध्याह्न के पूर्व ही समाप्त हुई रहती है। यदि हम किसी भी वर्ष के पंचांग को उठा कर देखे तो यह भेद स्पष्ट हो जायगा। मानस-प्रारंभ की तिथि तुलसीदास इस प्रकार देते हैं—

संवत सोरह से इकतीसा।
करौं कथा हरिपद धरि सीसा।
नवमी भौमवार मधुमासा।
अवधपुरी यह चरित प्रकासा॥[1]

गणना से यह भली भाँति प्रमाणित है कि वैष्णवों की एक नवमी सं० १६३१ में बुधवार को पड़ती है और स्मार्तों की मंगलवार को। यहाँ पर तुलसीदास ने स्पष्ट ही भौमवार (मंगलवार) को रामनवमी मान कर अपने विश्व-विश्रुत ग्रंथ के प्रणयन का प्रारंभ किया है, फलतः उन के स्मार्त होने में और भी कम संदेह रह जाता है।

'दशनामी' गोसाईं अधिकतर शिवोपासक ही हुआ करते हैं इस कारण बहुधा उन्हें शैव-संप्रदाय की एक शाखा मात्र माना जाता है जो कदाचित् नितांत ठीक नहीं है क्योंकि उन का धर्म 'स्मार्त' है जैसा ऊपर कहा जा चुका है। और शिव के लिए तुलसीदास के हृदय में अत्यंत ऊँचा स्थान है यह एक ऐसा तथ्य है जिसे सभी जानते हैं। अपने 'मानस' के प्रारंभिक तीन कांडों का प्रारंभ ही वे शिव की बंदना से करते हैं और राम की बंदना वे उस के पीछे करते हैं। 'मानस' की भूमिका में पुनः वे कहते हैं—

---

[1] 'रामचरितमानस', बाल० ३४ (रामदास गौड़ का संस्करण)।

गुरु पितु मातु महेस भवानी।
प्रणवौं दीनबंधु दिन दानी॥
सेवक स्वामि सखा सिय पिय के।
हित निरुपधि सब बिधि तुलसी के॥[1]

हित-उपदेश के लिए शंकर को गुरु मानने की बात का समर्थन वे अपने जीवन के अंतिम दिनों में कहे गए नीचे लिखे छंद की दूसरी पंक्ति में स्पष्ट-रूप से कहते हैं—

सीता पति साहेब, सहाय हनुमान नित
हित उपदेस को महेस मान्यों गुरु कै।
मानस बचन काय सरन तिहारे पाय
तुम्हरे भरोसे सुर मैं न जाने सुर कै॥
व्याधि भूत जनित उपाधि काहू खल की
समाधि कीजै तुलसी को जानि जन फुर कै।
कपिनाथ, रघुनाथ, भोलानाथ, भूतनाथ
रोगसिंधु क्यों न डारियत गाय खुर कै॥[2]

संतों ने गुरु और गोविंद में कभी अंतर नहीं किया है, और तुलसीदास ने तो 'विनयपत्रिका' के एक स्तोत्र में जो 'हरिशंकरी' नाम से प्रख्यात है दोनों की स्तुति भी एकत्र की है।[3] इतना ही नहीं, 'विनयपत्रिका' के एक अन्य स्तोत्र में तो शिव को न केवल 'निर्गुणं निर्विकार' कह कर संतोष किया है वरन् 'विष्णु-बिधि-वन्द्य चरणारविन्दं' तक कह डाला है।[4]

प्रश्न यह है कि क्या सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी का निरा वैष्णव

---

[1] 'रामचरितमानस', बाल० १५ (रामदास गौड़ का संस्करण)।

[2] 'बाहुक', ४३।

[3] 'विनयपत्रिका', ४९।

[4] वही, १२।

कभी यह कह सकता था कि राम ब्रह्मा, *विष्णु* और शिव को नचाने वाले है, अथवा उस से भी अधिक यह कि शिव के चरणों की वन्दना *विष्णु* और ब्रह्मा भी करते हैं। यदि ऐसे वैष्णव साधु के सिर की विधिवत् पूजा 'वैरागी' नामक विरक्त-वैष्णव-दल ने न की तो निस्सदेह उस ने अपने दल के इतिहास मे एक असामान्य घटना को स्थान दिया। किंतु न तो कोई इस प्रकार की जनश्रुति ही है और न इस विषय का कोई उल्लेख तुलसीदास ने ही किया है कि वैष्णवों ने भी उन्हे कभी कष्ट पहुँचाया। उलटे, उन्हों ने यह कहा है कि शिव के उपासको और सेवकों ने उन्हे पीड़ा पहुँचाई। 'विनयपत्रिका' के एक पद में वे शिव से प्रार्थना करते हुए कहते हैं—

> गाँव बसत बामदेव कबहुँ न निहोरे।
> अधि भौतिक बाधा भई ते किंकर तोरे॥
> बेगि बोलि बलि बरजिए करतूति कठोरे।
> तुलसी दलि रूँध्यो चहें सठ साखि सिहोरे॥[1]

कितनी आर्त प्रार्थना है—'तुम्हारे गाँव मे बसते हुए भी मैं ने तुम से कभी कोई याचना नहीं की..।' और, 'कवितावली' के एक छंद में तो वे यहाँ तक कहते हैं 'यदि आप मेरी प्रार्थना नहीं सुनते तो यदि मेरे स्वामी आप को कुछ उलाहना देंगे तो उस के लिए मुझे मत उलाहना दीजिएगा, मै अपना कर्तव्य कर चुका। (आप नहीं सुन रहे हैं तो उस के लिए मुझे अपने स्वामी से कहना ही पड़ेगा, तब यदि आप को उलाहना मिले तो उस में मेरा कोई अपराध न होगा)'—

> देवसरि सेवौं, बामदेव, गाँऊ रावरे ही,
> नाम राम ही के माँगी उदर भरत हौं।
> दीबे जोग तुलसी न लेत काहू को कछु
> लिखी न भलाई भाल पोच न करत हौं॥

[1] , ८।

एते पर हू जो कोऊ रावरो ह्वै जोर करै
ताको जोर देवे दीन द्वारे गुदरत हौं।
पाइ कै उराहनो उराहनो न दीजे मोहिं
काल-कला कासीनाथ कहे निबरत हौं ॥[1]

अब, प्रश्न यह है कि किसी ऐसे वैष्णव को शिव के सेवकों ने क्यों कष्ट पहुँचाया होगा जो वैष्णव होता हुआ भी शिव के लिए '*विष्णु*-विधि-वन्द्य चरणारविन्द' पद का प्रयोग करता हो।

बाहुपीड़ा के भयंकर रूप धारण करने पर अपने जीवन से निराश से होते हुए तुलसीदास ने 'बाहुक' के दो छंदों में अपने पिछले जीवन की कुल कथा बड़े सुंदर ढंग से कह डाली है। इन्हीं में से एक इस प्रकार है—

बालपने सूधे मन राम सनमुख भयो
राम नाम लेत माँगि खात टूक टाक हौं।
पर्‌यो लोक-नीति मैं पुनीत प्रीति राम राय
मोह बस बैठ्यो तोरि तरक तराक हौं ॥
खोटे खोटे आचरन आचरत अपनायो
अंजनीकुमार सोध्यो राम पानि पाक हौं।
तुलसी गोसाईं भयो भोंडे दिन भूलि गयो
ताको फल पावत निदान परिपाक हौं ॥[2]

अर्थात् 'बाल्यावस्था में मैं स्वभावतः राम-सन्मुख हुआ, राम का ही नाम ले कर टुकड़े माँगता खाता था। फिर लोकाचारों में पड़ कर जब मोह-वश राम की पुनीत प्रीति को यकायक तोड़ बैठा तब मुझे दुराचरणों में पड़ा हुआ देख कर राम के सेवक हनुमान ने मेरा उद्धार किया और मुझे राम के पवित्र करों की प्राप्ति हुई। किंतु, मैं 'गोसाईं' हो गया और अपने दुर्दिनों को भूल गया उसी का फल अंत में भली भाँति इस रूप में पा रहा हूँ।' उस

---

[1] 'कवितावली', उत्तर० १६५।

[2] 'बाहुक', ४०।

परिणाम की ओर आगे के छंद में इन शब्दों में संकेत किया गया है

ताते तनु पेखियत घोर बरतोर मिस
　　फूटि फूटि निकसत लोन राम राय को॥[1]

इन कुल बातों के आधार पर स्वतः यह धारणा होती है कि 'तुलसीदास' के आगे लगा हुआ 'गोसाईं' शब्द केवल विरक्ति का परिचायक नहीं है। संभवतः वह उन के किसो 'गोसाईं' उपाधि देने वाले संप्रदाय में दीक्षित होने पर उन के नाम के साथ लगा। यह 'गोसाईं' संप्रदाय इस समय के वैष्णव-गोसाईं संप्रदायो में से कोई न था। गोसाईं जी की कृतियों में 'स्मार्त' मत की इतनी गहरी छाप है, और शिव के प्रति उन की इतनी ऊँची भावनाएँ हैं कि अधिकतर संभव यही जान पड़ता है कि वे 'दशनामी' संप्रदाय में दीक्षित हुए थे—या ऐसे ही किसी अन्य शैवोपासक संप्रदाय में जो 'गोसाईं' उपाधि अपने अनुयायियों को देता था और अब वह संप्रदाय लुप्त हो गया है। यह भी निश्चित सा है कि वे 'स्मार्त' अंत तक नहीं बने रहे, और किसी समय पक्के वैष्णव हो गए, कदाचित् इसी कारण शिव के सेवकों ने उन्हें कठिन पीड़ा भी पहुँचाई, किंतु वह 'गोसाईं' उपाधि जो एक बार उन्हें मिल चुकी थी अंत तक उन के नाम के साथ लगी रही और आज भी लगी चली आ रही है। यह क्रिया कालांतर के प्रयोग के कारण इतनी स्वाभाविक सी हो गई है कि अधिकतर हम तुलसीदास का नाम लेने के स्थान पर जब उन का बोध कराना होता है केवल 'गोसाईं जी' या 'गोस्वामी जी' नामक उन की उपाधियों द्वारा ही उन का बोध कराते हैं। किंतु वस्तुतः क्या उन के नाम के साथ लगा हुआ 'गोसाईं' शब्द इतना निरीह है कि हमें उस पर विचार करने की कोई आवश्यकता नहीं? संभवतः उस में एक तत्व छिपा हुआ है जिस के अनुसंधान का प्रयत्न कदाचित् अभी तक नहीं किया गया है। आशा है कि विद्वानों का ध्यान इस संबंध में अवश्य आकर्षित होगा।

---

[1] 'बाहुक', ४१।

मोहेंजो दाड़ो

[लेखक—मौलाना असरार हुसैन]

(जनवरी अंक से संबद्ध)

बाल या तो आगे की तरफ़ से चढ़ा कर पीछे डाल लिए जाते थे या पीछे कुछ छोटे करा लिए जाते थे। जूड़े या चोटी का भी रिवाज था और इस को नारे से पीछे बाँध लिया जाता था। नारों के नमूने जो मोहेंजो दाड़ो में प्राप्त हुए हैं, उन से मालूम होता है कि सोने को पीट पीट कर पतला सा फीता बना लेते थे। उस में जगह जगह पर छेद भी होते थे। इसी से नारो का काम लिया जाता था। लेकिन साधारणतया यह नारा लचकदार सूती फीते का हुआ करता था। मर्द की जो नंगी मूर्ति मोहेंजो दाड़ो में प्राप्त हुई है उस के सिर के वस्त्र की सूरत टोपी की सी है, जो कुछ पीछे की ओर गिरी हुई है। दूसरी मूर्ति में यह टोपी पहली की अपेक्षा अधिक लंबी है। और उस में मुड़ी हुई गोट सी लगी हुई है।

बाल और सिर की पोशाक

एक सिर (जो किसी स्त्री की मूर्ति का है) के देखने से ज्ञात होता है कि बाल खुले हुए पीछे पड़े हैं। काँसे की मूर्ति एक जो किसी नर्तकी की है उस के सिर के बाल एक बड़े जूड़े की भाँति बँधे हुए हैं। यह जूड़ा बाईं ओर के कान से आरंभ होता है और दाहिनी तरफ़ के कंधे पर मुड़ा हुआ है। मिट्टी की मूर्तियों में सिर के बाल टोपी से छिपे हुए मालूम होते हैं और किन्हीं मूर्तियों

के सिरों पर कोई वस्तु पगड़ी की सी मालूम पड़ती है परंतु देवियों के सिरों पर कोई वस्तु या तो नवीन चंद्र के आकार की है या कोई नुकीली वस्तु है जिस के साथ प्याले की भाँति कोई वस्तु सिर के दोनों ओर दिखाई देती है और जिस के किनारों पर फ़ीता लगा हुआ है।

ज़ेवरों के संबंध में कुछ वर्णन पिछले अंक में हो चुका है। यह बताया जा चुका है कि गले का हार, सिरबंद, बाज़ूबंद और अंगूठियाँ मर्द और औरत दोनों व्यवहार करते थे। करधनी, बुंदे और पायज़ेब केवल औरतें पहनती थीं और यह चीज़ें अमीरों के यहाँ सोने चाँदी, चीनी, हाथीदाँत तथा अन्य मूल्यवान पत्थरों की होती थीं और ग़रीबों के यहाँ घोंघे, ताँबे, मिट्टी और हड्डियों की। करधनी कमर पर पहनी जाती थी और इसके बहुत अच्छे नमूने मिस्टर दीक्षित को एक मकान में प्राप्त हुए हैं। यह लंबे लंबे हार के ढंग की हैं जिन में अक़ीक़ इत्यादि मूल्यवान पत्थर लगे हुए हैं। इन पत्थरों के बेधने में बड़ी कुशलता प्रदर्शित हुई है। इन में जगह जगह पर सोना भी व्यवहार में लाया गया है जिस के चिन्ह उन में जहाँ तहाँ अब भी पाए जाते हैं। सस्ती और साधारण करधनियाँ भी पाई गई हैं जिन में अक़ीक़ इत्यादि के स्थान पर सुंदर पकाई हुई मिट्टी के दाने पड़े हुए हैं। परंतु ढंग उन्हीं मूल्यवान् करधनियों का सा है। इन लंबे लंबे हारों के अतिरिक्त जो मुख्यतः करधनी के काम में व्यवहार किए जाते थे छोटे छोटे हार भी पाए गए हैं जो संभवतः चंदनहार की भाँति गले में पहने जाते थे। इस प्रकार का गले में पहनने का हार सिंध-निवासियों को बहुत प्रिय था। और कदाचित् इसी प्रकार बाज़ूबंद और करधनी भी प्रिय थीं। इस प्रकार के हार भिन्न भिन्न बनावटों के होते थे। कुछ गोल, कुछ पहलदार कुछ सुराहीदार इत्यादि। कुछ धातुओं के, उदाहरणार्थ चाँदी, सोना, तांबा इत्यादि के, कुछ घोंघे, हड्डी और मिट्टी इत्यादि के होते थे। लेकिन उन का बड़ा हिस्सा चमकदार पत्थरों का था जिन का अभी वर्णन हुआ है। अंगूठियाँ साधारणतया सादी होती थीं।

ज़ेवर

यह जेवर कुछ तो यों ही विभिन्न स्थलों पर प्राप्त हुए हैं, कुछ मूर्तियों में दिखाए गए हैं जिन की चर्चा बहुत विस्तार से सर जॉन मार्शल की पुस्तक में की गई है। परंतु इस संबंध में यह बड़ी आश्चर्य-जनक बात कही गई है कि इन सब आभूषणों और अलंकारों के होते हुए भी कहीं पर शीशा प्राप्त नहीं हुआ और न शीशे की कोई वस्तु देखने में आई। यद्यपि इराक़ और मिश्र में उस समय शीशा बन चुका था और सर आरेल स्टीन ने बलूचिस्तान और सीस्तान इत्यादि में शीशे की विभिन्न वस्तुएं प्राप्त की थीं।

जेवरों के बाद सर जॉन मार्शल ने उन शस्त्रों की चर्चा की है जो मोहेंजो दाड़ो में प्राप्त हुए हैं। वह लिखते हैं कि जो शस्त्र लड़ाई और शिकार में काम में आते थे वह निम्न हैं—कुल्हाड़े, बरछे, कटार, तीर व कमान, गदा और गोफन। संभवतः इन वस्तुओं में गुलेल न थी। इन सभी अस्त्रों का मिस्टर मैके ने बहुत विस्तार से वर्णन किया है। यह सभी शस्त्र आघात करने के हैं। लेकिन रक्षा के निमित्त अस्त्र, जैसे ढाल और कवच इत्यादि इन में नहीं हैं। और आघात करने वाले शस्त्रों में तलवार भी प्राप्त नहीं हुई है जो कि बहुत ही आश्चर्य की बात है।

शस्त्र

मिस्टर मैके का कहना है कि मिश्र इत्यादि में बरछे की नोक ईसा से ३००० वर्ष पूर्व बहुत उन्नत रूप में तैयार हो गई थी। उपरोक्त शस्त्र जो मोहेंजो दाड़ो में प्राप्त हुए हैं, संभव है कि इन में से कुछ बरछे ही की क़िस्म के हों जिन से कटार या चाक़ू का काम लिया जाता रहा हो। ऐसे तीर जिन के सिरे नुकीले पत्थर के हों मोहेंजो दाड़ो में नहीं पाए गए। ताँबे के सिरों के तीर यदा-कदा मोहेंजो दाड़ो में प्राप्त हुए हैं। यद्यपि इस के बाद मिस्टर मैके ने सूचना दी है कि ताँबे की नोकवाले तीर कई प्राप्त हुए हैं। जो कुछ भी हो इस से यह अनुमान होता है कि तीर व कमान की गिनती उन के व्यवहारिक शस्त्रों में न थी। गदे, पत्थर और ताँबे दोनों चीजों के पाए गए हैं और उन के आकार प्रकार भी तीन हैं। इन में नाशपाती के आकार का गदा बहुत प्रचलित था जैसा कि साधारणतया उस समय में संसार के सभी सभ्य भागों में प्रचलित

था गोफन दो प्रकार के चलते थे और बहुत प्रचलित थे एक तो गोल दूसरे अंडाकार गुलल उस काल मे ईजाद हो चुकी थी या नहीं यह विषय निर्विवाद नहीं। भारी गोलियाँ अवश्य प्राप्त हुई हैं जिन के विषय में यह ख्याल किया जा सकता है कि वह गुलेल के साथ व्यवहार में लाई जाती होंगी, परंतु बिना किसी विशेष प्रमाण के यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता।

शस्त्रों के बाद घर के व्यवहारिक औजार, मिट्टी के विभिन्न प्रकार के साधारण बर्तन, काले और रंगे हुए वर्तन, घरेलू वस्तुएं और खिलौनों इत्यादि की चर्चा है। इस के बाद उन लेखों का वर्णन है जिन के विषय में अभी तक कोई निश्चित निर्णय नहीं हो सका है। धर्म के संबंध में सर जॉन मार्शल ने एक अलग परिच्छेद रक्खा है। उस का प्रारंभिक वर्णन यह है—"धार्मिक चिह्न और अवशेष हड़प्पा और मोहेंजो दाड़ो दोनों स्थलों पर बहुत कम है। कुछ खंडहर जो पाए गए हैं, संभव है शिवालय रहे हों अथवा अन्य किसी प्रकार के पूजा-स्थल रहे हों, लेकिन उन में इस समय कोई ऐसी वस्तु शेष नहीं रही जिस से उन का ठीक ठीक उद्देश्य निश्चित किया जा सके। और न कोई ऐसी स्मृति मौजूद है जिस के आधार पर निश्चय-रूप से उस के धार्मिक या पवित्र होने पर जोर दिया जा सके। अवश्य उस समय के लोगों के धर्म के विषय में यदि कोई राय बनाई जा सकती है तो उस के आधार-रूप वह मुहरें हैं जो इस अवशेषों मे अगणित संख्या में प्राप्त होती हैं या तांबे के पत्र या मिट्टी, धात और पत्थर की मूर्तियाँ हैं जो इधर उधर पड़ी हुई हैं।

धर्म

यह सामान कितना ही कम और कितना ही तुच्छ क्यों न हो परंतु हिंदुस्तान के धर्म के संबंध मे उन विद्या-प्रेमियों के लिए अत्यंत मूल्यवान् है जो आर्यों से पूर्व हिंदुस्तान के धर्म और विश्वास के विषय में कुछ प्रमाण प्रस्तुत करना चाहते हैं। यह सत्य है कि इन विश्वासों का बहुत बड़ा अंश वैदिक तथा वैदिक-काल के बाद के साहित्य में मौजूद है परंतु खोजों का यह बड़ा ढेर, आर्य-काल और अनार्यकाल के विश्वासों में जो भेद है उसे यथार्थ रीति से लक्षित करता है। इस समय तक विद्वानों ने आर्य और अनार्य विश्वासों के निर्णय में जो प्रयत्न

किए हैं उन में आपस में मतभेद है। मोनियर विलियम्स और हाप-किन्स ने साधारण प्रमाणों को सामने रख कर यह विचार प्रकट किया है कि हिंदू धर्म से द्राविड़ या आर्यों से पूर्व की अन्य जातियों के विश्वास यदि कुछ संमिलित हुए हैं तो वह बहुत ही कम हैं बल्कि इतने कम हैं कि उन्हें कोई विशेषता नहीं प्रदान की जा सकती; और जो हैं भी वह हिंदू धर्म के बहुत बर्बर भागों से संबद्ध हैं। इस के प्रत्युत ओपर्ट ने अनार्यों के धर्म को इस से उच्चतर स्थान दिया है। वह लिखता है कि वह (अनार्य) आकाश के एक सर्वशक्तिमान पर विश्वास रखते थे, उसी तरह लगभग उसी शक्ति की पृथ्वी की देवी को भी स्वीकार करते थे। यह दो के दोनों उन अच्छी और बुरी आत्माओं पर जो मनुष्यों को सताती हैं तथा समस्त मनुष्यों और संसार पर राज्य करते हैं। इसी के साथ मरने के बाद पुनर्जन्म का भी विश्वास था। इन दो विचारों में कौन सा विचार मान्य है इस का निर्णय उन अवशेषों से और स्मृति-चिह्नों से हो सकता है जो आर्यों के समय से पूर्व के प्राप्त हुए हैं। इसी कारण हड़प्पा और मोहेंजो दाड़ो का यह नया मसाला इतना महत्त्व रखता है। इस का महत्त्व निस्संदेह उस समय बढ़ जायगा जब कि इन वस्तुओं पर लिखे हुए लेख पूर्णतया पढ़ लिए जायँगे।"

इस भूमिका के अनंतर मोहेंजो दाड़ो की मूर्तियों इत्यादि की चर्चा की गई है और यह दिखाने का प्रयत्न किया गया है कि वर्तमान हिंदू धर्म के अनेक विश्वास पुराने विश्वासों पर आश्रित हैं।

महामाई

इस संबंध में सब से पहली वस्तु महामाई की मूर्ति है। उस के विषय में वह लिखते हैं—

"यहाँ की समस्त वस्तुओं में जिस वस्तु पर सब से पहिले ध्यान आकर्षित होता है वह मिट्टी इत्यादि की मूर्तियाँ हैं। यह मूर्तियाँ मोहें-जो दाड़ो और हड़प्पा दोनों स्थानों पर पाई गई हैं और उन के पड़ोसी देश बलूचिस्तान में भी इस के नमूने प्राप्त हुए हैं। उन में से कुछ मूर्तियाँ तो ऐसी हैं कि जैसे कोई स्त्री आटा गूंध रही है या रोटियों की टोकरी बग़ल में लिए हुए है। मूर्तियों का यह प्रकार संभवतः खिलौने

का कोई प्रकार है जिस मे कदाचित धार्मिक अर्थ निहित नही है दूसरी मूर्तियाँ ऐसी है कि जैसे कोई औरत गोद म बच्चा लिए हुए हो या गर्भावस्था में हो। संभव है कि इस तरह की मूर्तियाँ गर्भावस्था में भेंट व चढ़ावे के लिए तैयार की जाती रही हों। यह बात अच्छी प्रकार विदित है कि हिंदुस्तान के कुछ भागों में गर्भिणी स्त्री, नवजात शिशु और शव के संबंध में एक विशेष धार्मिक रक्षा का अभिप्राय सामने रक्खा जाता है। और गर्भिणी स्त्रियों और बच्चो के लिए यह भय रहता है कि अशुद्ध और खराब आत्माएँ उन पर आक्रमण न करें। जो भी हो मिट्टी की इन मूर्तियों का अधिकांश एक विशिष्ट परंतु समान प्रकार का है, अर्थात प्रत्येक स्त्री प्रायः नग्न खड़ी हुई है और एक पटका सा अपने कमर में बाँधे हुए है। एक सिरबंद, गले में हँसुली सी कोई वस्तु और एक लंबा हार—यह उन का संपूर्ण आभूषण है। बहुधा मूर्तियों के कानों का आभूषण घोंघे के समान प्याले के आकार का है, जो जान पड़ता है कि किसी फीते से सिर के दोनों ओर लटका हुआ है। इस के ऊपर सिरबंद न्यूनाधिक कुछ चाँद की शकल का है।"

यह है सर जॉन मार्शल का वर्णन महामाई की उन मूर्तियों के विषय में जो मोहेंजो दाड़ो मे पाई गई हैं। इस के बाद बलूचिस्तान और पश्चिमी एशिया इत्यादि मे महामाई की जो मूर्तियाँ कुछ थोड़े से भेद के साथ प्राप्त हुई हैं उन का वर्णन किया गया है। इन के विषय में वह लिखते हैं कि—

"हिंदुस्तान से अधिक किसी देश में महामाई की पूजा का विचार प्राचीन-तम काल से इतने सुदृढ़ रूप में नहीं है। कोई गाँव और कोई पुरवा ऐसा नहीं है जहाँ इस का स्थान न हो। हर गाँव मे कुछ विशेष देवियाँ होती हैं जिन की पूजा प्रत्येक गरीब व अमीर ग्रामवासी करता है परंतु माता या महामाई प्रकृति की प्रतिरूप समझी जाती है और इस का विशेष संस्कृत रूप 'शक्ति' है। इसी के प्रतिनिधि ग्राम-देवता कहलाते हैं। गाँवों की विभिन्न देवियाँ भी, जिन के नाम और जिन के काम स्थानीय

दृष्टि से कितने ही विविध क्यों न हों, वास्तव में इसी शक्ति को लक्षित करती हैं। जो कुछ हो इस में तनिक भी संदेह नहीं कि अनार्य आबादी मे जातीय देवियों के अंतर्गत इस का स्थान विशिष्ट रहा है। प्राचीन जातियों मे इस की सर्वप्रियता और पूजा के अतिरिक्त यह बात भी विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि इस की पूजा के अवसरों और त्यौहारों में अग्रणी ब्राह्मण नहीं वरन् नीची जात के लोग होते हैं। उन में से भी किसी विशेष प्राचीन जात के आदमी को ढूँढा जाता है जिस के विषय में यह ख़याल किया जाता है कि यह देवी को प्रसन्न करने के उपायों को जानता है। कुछ ऐसी जातियाँ जो आर्यों के आने से बहुत पूर्व की हैं और जो वास्तव में हिंदू धर्म में भी संमिलित नहीं हैं उन में इस महामाई की पूजा बड़े धूम से विशेष प्रकार से होती है। प्राचीन आर्यों के संबंध में, चाहे वह हिंदुस्तान के हों चाहे कहीं और के, यह उदाहरण कहीं नहीं मिलता कि उन्हों ने किसी देवी को पूजा का इतना बड़ा पद दिया हो जो महामाई को दिया जाता है। वैदिक कर्मकांड मे देवियों का स्थान गौण सा है। यह केवल देवता हैं जिन की प्रतिष्ठा और मान के कारण देवियों का प्रभाव स्वीकार किया गया है। वैदिक आर्यों की पृथिवी देवी प्राचीन लोगों की महामाई से बिल्कुल भिन्न थी। इस मे संदेह नहीं कि वह ऋग्वेद में भी देवी ही स्वीकार की गई है—कभी इकेली कभी आकाश के साथ—और उस से समृद्धि को प्रार्थना भी की गई है। परंतु उस की पूजा प्राचीन देवी (महामाई) की तरह उस समय से की जाने लगी जब आर्य और आर्यों के पूर्व के लोगों में आपस में मेल-जोल हुआ। हड़प्पा में भी जो मुहरें प्राप्त हुई हैं उन से भी महामाई की पूजा का पर्याप्त प्रमाण मिलता है। मुहर की दूसरी ओर एक मर्द और एक औरत की आकृति हैं। मर्द के दाहने हाथ में हँसिए की तरह का एक चाकू है और औरत बैठी हुई दोनों हाथ उठाए हुए मानों रक्षा की प्रार्थना कर रही है और मर्द मानों उसे मार डालने का विचार कर रहा है। इस दृश्य से यह यथार्थ रूप से परिणाम निकाला जा सकता है कि यह मानुषी बलिदान का संकेत कर रही है।"

महामाई की चर्चा के अनन्तर एक देवता की चर्चा है जो हिंदू धर्म के शिव या महेश से बिल्कुल मिलता है सर जॉन मार्शल की खोज यह है कि आर्यों मे शिव का ध्यान भी इस अनार्य विचार से प्रभावित है जिस का वर्णन आगे चल कर विशेष विस्तार से किया गया है। वह इस देवता का वर्णन इस प्रकार करते हैं—

देवता—शेर की आकृति का देवता

"महामाई के साथ साथ एक देवता भी है जो ऐतिहासिक शिव के प्रकार का है। इस की आकृति एक बहुत ही भद्दी मुहर पर अंकित है। मिस्टर मैके ने अभी हाल ही में इस के संबंध मे प्रकाश डाला है। यह देवता जिस के तीन मुख हैं एक हिंदुस्तानी सिंहासन पर बैठा है। बैठने की एक विशेष मुद्रा है जिसे योग की मुद्रा कहनी चाहिए। घुटने के बल एंड़ी से एंड़ी मिली हुई, पंजे नीचे की ओर झुके हुए; जंघे फैले हुए और हाथ और अंगूठे आगे की ओर घुटनों पर लटके हुए हैं। कलाई से ले कर बाजुओं तक बाजूबंद है जिन मे से आठ छोटे और तीन बड़े हैं। और कमर के चारों ओर दो ही बंद बँधे हुए मालूम होते हैं। सिर पर दो सींगें हैं जो सिरबंद से बँधी हुई हैं। इस देवता के दोनों तरफ़ चार जानवर हैं। एक हाथी और एक चीता ठीक दाहिने ओर और एक गैंडा और एक भैंसा बाएँ ओर। तख़्त के नीचे दो हिरन हैं जिन के सिर सीधे और सींग बाईं ओर मुड़े हुए हैं। मुहर के सिरे पर सात अक्षर अंकित हैं जिन का अंतिम अक्षर दाहिनी ओर के किनारे पर जगह की कमी से हाथी और चीते के बीच में आ गया है।"

इस देवता का इतना वर्णन करने के बाद वह तर्क प्रस्तुत किए गए हैं जिन से आर्य-काल के शिव का होना सिद्ध किया गया है। उस का सारांश यह है—

तीन मुख या तीन आँखों का देवता

"उपरोक्त वर्णन से इस देवता का पद और गुण स्पष्ट प्रकट हो गए। पहिली बात यह है कि इस के तीन मुख हैं (त्रिमुखा) जिस से हमे यकायक यह याद आ जाता है कि ऐतिहासिक काल में शिव की मूर्ति में एक तीन, चार या पाँच मुख दिखाए जाते थे और आँखें सदा तीन होती थीं। और

यह कि शिव, ब्रह्मा और विष्णु की प्रसिद्ध त्रिमूर्ति सदा तीन मुखों के साथ दिखाई गई हैं। तीन मुख के शिव (अर्थात् बिना ब्रह्मा और विष्णु के) का एक उत्तम उदाहरण आबू पहाड़ के निकट देवांगना के मंदिरों के खंडहर में मौजूद है और टी० ए० गोपीनाथ राव की पुस्तक 'एलिमेंट्स अव् हिंदू इकानोग्राफी' में भी लिखा है।"

दूसरी बात जो इस आर्य काल के पूर्व के देवता की कड़ी को इस ऐतिहासिक शिव से मिलाती है वह उस की यौगिक मुद्रा है। शिव को योगियों का राजा माना गया है। वह साधु, तपस्वी और त्यागी स्वीकार किए जाते है। बल्कि उन का नाम ही महायोगी बताया जाता है। योग का मुख्य उद्देश्य यह है कि मानसिक क्रियाओं और मन की एकाग्रता के द्वारा परमेश्वर तक पहुँच प्राप्त की जाय, परंतु उसी द्वारा पर-प्राकृतिक शक्तियाँ भी प्राप्त की जाती हैं और इसी लिए कुछ दिनों के बाद योगियों के साथ मानव-दुर्लभता का विचार सन्नद्ध हो गया। शैवमत की भाँति योग का संबंध भी आर्य-काल से पूर्व के लोगों से है। इस लिए राय बहादुर रामप्रसाद चंदा ने इस देवता की आँखों के विषय में विशेषता के साथ ध्यान दिलाया है कि यह योग की अवस्था से मिलती है। इस के अतिरिक्त तीन और मुहरे जो प्राप्त हुई हैं उन पर जो आकृतियाँ अंकित हैं और उन की आसन-मुद्रा से भी योग की अवस्था का अनुमान होता है। इन में देखने में थोड़ी सी भिन्नता जान पड़ती है परंतु वास्तव में यह एक ही देवता की आकृतियाँ हैं।

महायोगी

तीसरी ध्यान देने योग्य बात यह है कि शिव केवल योगिराज ही नहीं हैं बल्कि उन के विषय में यह भी कहा जाता है कि वह पशुओं के स्वामी (पशुपति) भी हैं। इन विचारों की पुष्टि उन जानवरों से होती है जो मोहेंजो दाड़ो के देवता के पास दिखाए गए हैं अर्थात् हाथी, चीता, गैंडा और भैंसा। ऐतिहासिक काल में पशुपित की उपाधि का अर्थ पशुओं के स्वामी का था और समानता के आधार पर पशु से तात्पर्य मनुष्यों के शरीर

पशुओं और गोधन का स्वामी

से लिया गया जिस के स्वामी या चरवाहे शिव हैं। लेकिन वेद-मन्त्रों में पशु का अर्थ जंगली जानवरों का लिया गया है इस लिए यथार्थ रूप में यह परिणाम निकाला जा सकता है कि उस समय देवता को पालतू जानवरों का नहीं वरन् जंगली जानवरों का स्वामी समझा जाता था।

चौथी विशेषता जो इस अज्ञात देवता और शिव को आपस में संबद्ध करती है वह इस के सिर की दो सींगे हैं। इस प्रकार के सींग मोहेंजो दाड़ो की दूसरी मूर्तियों और आकृतियों में भी पाए गए हैं जिन से निस्संदेह यह अनुमान किया जा सकता है कि सींगों का कोई विशेष अर्थ अवश्य है। और निश्चय यह देवी और देवता के विशेष चिह्न हैं। कुछ अवस्थाओं में यह मालूम होता है कि यह पुरोहित इत्यादि के चिह्न हैं लेकिन यह शाखें या सींगें किसी विशेष देवी या देवता के चिह्न नहीं हैं। यह एक देवी देवता को दूसरे देवी देवता से अलग प्रकट करने के लिए नहीं है। लेकिन आर्यों से पूर्व का यह देव-चिह्न यद्यपि साधारणत: वैदिक आर्यों में स्वीकार नहीं किया गया लेकिन वह पूर्णतया नष्ट भी नहीं हो गया। पिछले दिनों में इस ने त्रिशूल की आकृति ग्रहण कर ली और इस रूप में वह शिव का एक विशेष अस्त्र हो कर बना रहा। यद्यपि इस पर दूसरे मतवालों ने अनधिकार अधिकार कर लिया जैसे बौद्धों ने इसे ग्रहण कर लिया जहाँ यह तीन रत्न (त्रिरत्न) के रूप में रहा। सारांश यह कि यह चिह्न यद्यपि स्वयं स्पष्ट किए जाने योग्य है तथापि यह उस जंजीर की एक कड़ी निश्चय रूप से है जो इस देवता को शिव से मिलाती है।

सींग और त्रिशूल

अब अंत में वह हिरन रह गए जो उस देवता के सिंहासन के निकट दिखाए गए हैं। इसी प्रकार के दो हिरन मध्यकालीन शिव की मूर्तियों में भी दिखाए गए हैं। विशेषत: जब वह दक्षिणामूर्ति या योग-दक्षिणामूर्ति की मुद्रा में दिखाए गए हों। और इसी प्रकार उन के हाथ में एक हिरन भी दिखाया गया है। हिंदुस्तान के बौद्ध काल में हिरनों को लक्षित करने की इतनी चलन थी कि

सिंहासन के पास के हिरन

कदाचित् हम ऐसी भूल करने के लिए विवश थे कि हिरनों का ख़याल शैवमत वालों ने बौद्धों से नक़ल किया। परन्तु अब इस बात का प्रमाण मिलता है कि यह ख़याल इस से भी पुराना है और संभावना यह है कि स्वयं बौद्धों ने उसे दूसरों से प्राप्त किया हो जिस प्रकार कि उन्हों ने और बातें भी उस समय के अन्य धर्मों से प्राप्त की थीं।

आर्य-काल से पूर्व के शिव के संबंध में जो विवेचना की गई है उस के अनंतर पत्थरों की पूजा का वर्णन है। इस संबंध में तीन प्रकार के पत्थरों का वर्णन मिलता है जिन के विषय में यह धारणा है कि मोहेंजो दाड़ो के लोगों में उन की पूजा होती थी। अतएव लिंग और योनि की पूजा के संबंध में महा-माई और शिव की ओर पुनर्वार ध्यान आकर्षित कराया गया है। इस विवाद में सृष्टि पर विचार, शक्ति, पुरुष और प्रकृति पर टीका करते हुए इस बात की ओर संकेत किया गया है कि इस समय का शाक्तमत अपने विश्वासों और विचारों में आर्यकाल के पूर्व के विचारों और विश्वासों पर बहुत कुछ आश्रित है।

पत्थरों की पूजा और शाक्तमत

एक मुहर के देखने से यह भी अनुमान होता है कि इस काल में वृक्षों की पूजा भी प्रचलित थी। अतएव मुहर के सिरे पर वृक्ष की दो शाखाएं अर्धवर्तुलाकार पृथ्वी को छूती हुई दिखाई गई हैं। इन दोनों शाखाओं के बीच देवता की आकृति है। देवता का रूप इस प्रकार है—एक नंगा खड़ा हुआ व्यक्ति, बाल बहुत लंबे, त्रिशूल वाले सींग और बाजूबंद जिस को देख कर उपरोक्त तीन मुखों वाले देवता का ध्यान सामने आ जाता है। वृक्ष के सामने एक प्रार्थना करनेवाला आगे झुका हुआ खड़ा है। उस के बाल भी लंबे हैं और सींग और बाजूबंद भी देवता ही की तरह के हैं। केवल इतनी विशेषता है कि सींगों के बीच एक प्रकार की कलग़ी सी मालूम पड़ती है। इस प्रार्थना करने वाले के पीछे एक मिश्रित प्रकार का जंतु खड़ा है। मिश्रित से तात्पर्य यह है कि आधा साँड और आधा बकरा और मुख बिल्कुल आदमी का-सा। इस

वृक्षों की पूजा

आकार के जंतु का चित्र हड़प्पा और मोहेन्जो दाड़ो में साधारणतया देखा गया है। नीचे खेत में सात मूर्तियों की एक क़तार दिखाई देती है जिन की पोशाकें घुटनों तक है और सिरों पर कलगियाँ मालूम होती हैं। वृक्ष की पत्तियों से अनुमान होता है कि वह पीपल का है। जिस की पूजा अब तक सारे हिंदुस्तान में की जाती है जिसे कोई हिंदू काटने या नुक़सान पहुँचाने के लिए तैयार नहीं होता और जिस की छाया में वह किसी झूठी बात के कहने का साहस नहीं करता।

यही वह वृक्ष है जिस के नीचे बुद्ध ने ज्ञान की ज्योति प्राप्त की थी। मोहेंजो दाड़ो में भी इस वृक्ष को ज्ञान और जीवन का वृक्ष समझते थे या नहीं? इसे जानने का हमारे पास कोई साधन नहीं है।

ज्ञान और जीवन का वृक्ष

लेकिन जो कुछ हो इस का अस्तित्व बिना अर्थ के नहीं है। क्योंकि पीपल का वृक्ष जो बुद्ध के समय से ले कर इस समय तक हिंदुस्तान में इतना महत्त्व रखता रहा है वह बाबुल में भी जीवन-वृक्ष समझा जाता था। हड़प्पा और मोहेंजो दाड़ो में उस की उपस्थिति इस बात के लिए पर्याप्त तर्क है कि उस का प्रचलित महत्त्व आर्यकाल से पूर्व का है।

वृक्ष की शाखाओं में जो मुख देखा गया है वह बहुत छोटा है और चित्र भी कुछ मिटा मिटा सा है। परंतु इस नंगी मूर्ति के विषय में देवता होने का कोई प्रमाण नहीं मिलता। यदि इस बात को ध्यान में रक्खें कि हिंदुस्तान में वृक्षों पर साधारणतया देवियाँ होती हैं, इस के अतिरिक्त यह कि मुहर पर दूसरी आकृतियाँ जो दिखाई गई हैं वह स्त्रियों की हैं तो यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि वृक्ष की शाखाओं में जो आकृति प्रदर्शित की गई है वह किसी देवता की न हो कर देवी की आकृति है। प्रार्थना करने वाले के निकट जो मिश्र प्रकार का जंतु खड़ा है, उस का तात्पर्य समझ में नहीं आता। दूसरी मुहरों पर जहाँ इसी प्रकार का दृश्य दिखाया गया है वहाँ बकरा या और कोई सींगों-वाला पशु दिखाया गया है। जो कभी तो प्रार्थना करने वाले के पीछे और कभी

वृक्ष की देवी

देवी और प्रार्थना करने वाले के बीच में दिखाया गया है, जिस से यह जाना जाता है कि यह वह पशु है जो देवी को भेंट चढ़ाया जायगा। परंतु पशु के कल्पित होने से यह सिद्ध होता है कि यह भेंट और बलि के लिए नहीं है। मेरा अपना विचार यह है कि इस की हैसियत एक मध्यस्था देवी की है जो भेंट प्रस्तुत करने वालों की प्रार्थनाओं को बड़ी देवी के संमुख उपस्थित करे। इस लिए कि इराक़ से निकली हुई मुहरों पर भी यही हैसियत प्रदर्शित की गई है। एक और छोटी सी वस्तु भेंट प्रस्तुत करने वाले के पास दिखाई गई है जिस का यथार्थ अनुमान नहीं होता। क्योंकि इस जगह मुहर कुछ टूट गई है। बहुत संभव है कि यह कोई बर्तन या पात्र हो जिस मे कोई सुगंधित पदार्थ हो और यह देवी के बलि के स्थान पर जलाया जाता हो। सात मूर्तियाँ जो नीचे एक पंक्ति में दिखाई गई हैं वह देवी की दासियों की हैं। इन के सिरों पर जो कलगी दिखाई गई है संभव है उन के पर हों। लेकिन अधिक अनुमान यह होता है कि यह छोटी छोटी शाखाएं हैं। जिस प्रकार आज कल भी काफिरिस्तान मे "चीली" की पूजा के अवसर पर वहाँ के सेवकों और परिचारकों को अपने सिरों पर सींग लगाना पड़ता है।

मोहेंजो दाड़ो और हड़प्पा दोनों स्थलों पर वृक्ष-पूजा के दो प्रकार मालूम हुए। एक प्रकार तो यह है कि वृक्ष की आत्मा को मानवी रूप और गुण दे कर उस की पूजा की गई है। इस प्रकार के उदाहरण साँची और भरहुत में हमें मिलते हैं। वृक्षों को या और किसी वस्तु को मानवी रूप और गुण प्रदान कर देना हिंदुस्तानियों के लिए कभी कठिन नहीं रहा है। हिंदुस्तानियों का यह साधारणतया विचार है कि प्रत्येक वृक्ष और वनस्पति अपना एक व्यक्तित्व रखता है और उस में आत्मा है और इस लिए उस के साथ एक प्राणधारी मनुष्य का-सा वर्ताव किया जाता है। उदाहरण के लिए जब कोई वृक्ष काटा जाता है तो सब से पूर्व उस वृक्ष में जो आत्मा होती है उस से क्षमा माँग ली जाती है। गोंड की अनार्य जाति का मनुष्य रात में वृक्ष को कभी न हिलाएगा। और उस का फल-फूल

वृक्ष-पूजा के विभिन्न प्रकार

भी रात्रि में तोड़ना पसंद न करेगा जिस से कि वृक्ष की आत्मा को सोने में कष्ट न हो। कुछ अनार्य जातियों में यह प्रथा है कि स्त्रियाँ अपने पतियों से ब्याहे जाने से पूर्व किसी वृक्ष से ब्याह दी जाती हैं जिस का एक उद्देश्य यह भी है कि दूल्हा दुलहिन भी इसी प्रकार हरे भरे रहें। वृक्षों का आपस में भी ब्याह किया जाता है और तुलसी का पवित्र पौधा प्रतिवर्ष ब्याहा जाता है। बहुधा इस अवसर पर पूजा-पाठ होता है और शालिग्राम को भोग भी चढ़ाया जाता है। इन अवस्थाओं में वृक्ष स्वयं एक देवता माना जाता है और उस की पूजा की जाती है और इस में कोई संदेह नहीं कि सिंध की इन मुहरों में भी यही वस्तु दिखाई देती है।

पशुओं की पूजा

"पशुओं की पूजा के संबंध में जो प्रमाण मोहेंजो दाड़ो में प्राप्त होते है वह वृक्षों की पूजा से कहीं अधिक हैं। मुहर और पत्तरों की नकाशी और विभिन्न प्रकार की मिट्टी की मूर्तियों के संबंध में इस तरह के जो जानवर हमारे सामने आते हैं वह तीन भागों में विभक्त किए जा सकते हैं—(१) वह जो काल्पनिक हैं, (२) वह जिन का काल्पनिक होना विवादग्रस्त है और (३) बिल्कुल प्राकृतिक पशु। इन में से पहिले वर्ग में विभिन्न प्रकार के अजीब-अजीब पशु हैं। उन में से एक आदमी के से मुख का बकरा या भेड़ है। संभव है कि इस से भी अधिक मिश्रित प्रकार के पशु हों। जैसे कुछ बकरा, कुछ भेड़, कुछ साँड, कुछ आदमी। हम ने अभी वृक्ष की देवी के संबंध में इस की कुछ चर्चा की है, जहाँ हम ने अपना यह विचार प्रकट किया है कि यह कोई छोटी क़िस्म की देवी है जो पूजा करने वाले और वास्तविक देवी के बीच की हैसियत रखती है। हमारा यह विचार संभव है ठीक न हो लेकिन इस में कोई संदेह नहीं कि यह बलि या चढ़ावे का कोई पशु नहीं है। और इसी प्रकार के अन्य पशु जो ऐसे अवसरों पर दिखाए गए हैं उन का तात्पर्य भी यही है। बिल्कुल इसी तरह इराक़ में भी मनुष्य के मुख का शेर पाया गया है जिसे देवी या देव स्वीकार किया गया है।"

इसी के निकट लेकिन इस से पेचीदा मुखाकृति उस मिश्रित जानवर को है जो भेड़ा, बकरा, साँड और हाथी सभी कुछ है। एक मुहर पर देवता या देव की आकृति है जो कि आधी पुरुष और आधी बैल की है। यह एक सींग वाले चीते पर आक्रमण कर रहा है। इराक़ में भी एक देवता आधा मनुष्य और आधा सांड के रूप का माना जाता था।

देव

आधे मनुष्य और आधे पशु की किस्म में संभवतः नाग भी आता है। उसी मुहर पर जिस की अभी चर्चा की जा चुकी है काला साँप प्रार्थना करने वाले के समान दिखाई देता है और उस की दुम प्रार्थना करने वाले से लिपटी हुई दिखाई गई है। जो कुछ भी हो मालूम यह होता है कि यह प्रार्थना करने वाला संभवतः स्वयं नाग है। वैदिक काल में नाग पर विश्वास नहीं पाया जाता परंतु बाद के हिंदुस्तानी साहित्य में यह बहुत प्रकट हुआ है और नाग के चित्र या मूर्ति को किसी देवी या देवता के सामने अर्चना करते हुए दिखाना हिंदुस्तानी कला का एक बहुत प्रिय उदाहरण है।

नाग

वह पशु जिन का कल्पित होना अभी विवाद-ग्रस्त है उन में कुछ साँड और भैंसे इत्यादि हैं जिन के केवल एक ही सींग होना दिखाया गया है। संभव है यह जान बूझ कर किया गया हो और यह भी संभव है कि नक़्श करने वाले ने पशु को ऐसे मुँह बनाया हो कि केवल एक ही सींग का प्रगट होना संभव था। परंतु इसी के साथ जब हमारा ख़याल हिंदुस्तान की उस प्राचीन परंपरा के बैल की ओर जाता है जिस के एक सींग होना बताया जाता है तो हमें खयाल होता है कि मोहेंजो दाड़ो के लोगों ने जान बूझ कर एक सींग का पशु दिखाया है। इस एक सींग के जानवर की चर्चा हिंदुस्तान की ग्रामीण कहानियों में बहुधा मिलती है और विष्णु की उपाधि 'एक शृंग' से ऐतिहासिक काल से पूर्व के इस प्राचीन पशु की ओर ध्यान जाता है। तीसरी क़िस्म असली जानवरों की है। उदाहरणार्थ, भैंसे, साँड, गैंडा, बिना कोहान का साँड, चीता और हिंदुस्तानी हाथी। इन के अतिरिक्त और प्रकार के पशु भी मुहरों

पर अंकित पाए गए हैं जैसे भेड़ा, सुअर, कुत्ता, बंदर, रीछ, हिरन इत्यादि इसी प्रकार तोते इत्यादि की किस्म की चिड़ियाँ भी पाई गई हैं इन सब के ठप्पे कुछ तो ताँबे के पत्रों पर पाए गए हैं और कुछ मूर्तियों की सूरत में हैं। इन में से कुछ मूर्तियाँ जो मिट्टी की हैं वह निस्सन्देह बच्चों का खिलौना मालूम पड़ती हैं। शेष जितनी हैं उन में या तो कोई धार्मिक अर्थ है या वह टोने से संबंध रखती हैं। सारांश यह कि सब तस्वीरें और मूर्तियां जो लगभग सब मकानों के आस पास पाई गई हैं उन सब का ठीक ठीक उद्देश्य क्या है इस का उत्तर देना कठिन है। परंतु इसी ढंग की दूसरी मुहरों पर जब हम उपरोक्त विचित्र देवी और देवताओं की अंकित छाप पाते हैं तो हमें यह स्वीकार करना पड़ता है कि यह वास्तविक या कल्पित या संदिग्ध जितने पशु हैं उन सब का कोई न कोई धार्मिक तात्पर्य अवश्य है। यह पूछा जाय कि इन पशुओं को जो धार्मिक महत्त्व दिया जाता था उस का दर्जा क्या है अर्थात् कौन अधिक पवित्र समझा जाता था और कौन कम तो हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि हमारे पास इस स्थापना के लिए पूर्ण प्रमाण नहीं है। किसी वस्तु को धार्मिक रूप या महत्त्व देना और उस की पूजा करना इन दोनों बातों में बड़ा अंतर है। उदाहरणार्थ किसी पशु को निषिद्ध या पवित्र समझना, उस की पूजा करना नहीं है। जैसे आज भी हिंदुस्तान में मछलियों को आटा दिया जाता है, इस लिए कि वह उस स्थल पर आबाद हैं जहाँ उन के पितामह और पूर्व-पुरुष की आत्माएँ हैं। परंतु इस का यह अर्थ कदापि नहीं है कि उन की पूजा की जाती है। जो कुछ हो हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि मिश्रित पशुओं की मूर्तियाँ (जिन के मुख मनुष्यों के दिखाए गए हैं), तीन मुखों की मूर्तियाँ और वृक्षों की देवियाँ तो पूजी जाती थीं। इसी प्रकार बड़े पशु जैसे एक सींग के भैंसे, चीते, हाथी और गैंड़े, घड़ियाल इत्यादि को भी एक प्रकार का देवता समझा जाता था, और शेष पशुओं को एक न एक विचार से केवल धार्मिक महत्त्व दिया जाता था। उदाहरणार्थ पहिले चीते को महामाई की सवारी समझा जाता था। वरन् यह विचार अब भी हिंदुओं में मौजूद है। महामाई की यह सवारी महामाई से अलग कोई वस्तु नहीं समझी

जाती बल्कि महामाई जब क्रोध की अवस्था में होती है तो वही चीते का रूप धारण कर लेती है। बिहार के गोंड़ों में इसे बघई देवी कहते हैं।

पूर्व-ऐतिहासिक काल में गैंडा, भैंसा और साँड इन—पशुओं की पूजा होती थी जिस का प्रमाण सिंध, पंजाब, बलूचिस्तान, हड़प्पा और मोहेंजो दाड़ो से निकली हुई मिट्टी की मूर्तियों से मिलता है। यह बात अवश्य विवादास्पद है कि इस समय भी साँड, तीन मुख वाले देवता से जिसे मैं ने शिव के समान-रूप बताया है, संबद्ध था या नहीं। उस का कोई निश्चयात्मक प्रमाण नहीं मिलता। लेकिन यह तो निश्चय है कि इस की पूजा इस समय प्रचलित थी। और उस काल के अनंतर शैवमत वालों ने भी उसे ग्रहण किया।

गैंडा, भैंसा, साँड, घड़ियाल

घड़ियाल को गंगा की उसी तरह सवारी कहा जाता है जिस तरह कछुए को यमुना की। मछली की भाँति इसे भी कतिपय पवित्र जलाशयों में सुरक्षित रक्खा जाता है। और कुछ स्थलों पर इस की पूजा भी होती है। मध्य प्रांत के 'सूँफर' लोग घड़ियाल को जीवित पकड़ कर उस की पूजा करते हैं। और जब पूजा की क्रिया समाप्त हो जाती है तो उसे फिर ले जा कर नदी में छोड़ देते हैं। बड़ौदा के कतिपय जंगली जातियों में यह रिवाज है कि लकड़ी का घड़ियाल बना कर दो खंभों में लगा देते हैं। और समय समय पर उस की पूजा किया करते हैं। घड़ियाल की दो जातियाँ है। एक घड़ियाल दूसरा मगर। और इन दोनों की पूजा होती है। और उन को घड़ियाल देवता कहा जाता है।

बंदर देवता की पूजा लगभग संपूर्ण हिंदुस्तान में प्रचलित है और विभिन्न अनार्य जातियों में भी इस का रिवाज साधारण है। हनुमान की आकृति आधी मनुष्य और आधी बंदर की है। उस की मूर्ति बहुधा शहरों, गाँवों और क़िलों के फाटक पर रक्षा के ध्यान से स्थापित की जाती है। यह आश्चर्य है कि मोहेंजो दाड़ो में इस की कोई मूर्ति प्राप्त नहीं हुई।

बंदर

पानी की पूजा के विषय में अब तक कोई संतोषप्रद प्रमाण नहीं मिल सका है। लेकिन मोहेंजो दाड़ो के लोगों में इस का जैसा ध्यान रक्खा जाता था और उन के नित्य के जीवन में इस का भाग जितना आवश्यक समझा जाता था उस का अनुमान गुसलखानों और नहाने धोने के उस साधारण प्रबंध से किया जा सकता है जो सब स्थलों और पब्लिक की जगहों पर किया जाता था। कहने का तात्पर्य यह है कि मोहेंजो दाड़ो से अधिक किसी पुराने नगर में नहाने-धोने का ऐसा अच्छा प्रबंध नहीं सिद्ध होता और यह प्रबंध ही इस बात का तर्क है कि स्नान-क्रिया निश्चित रूप से धार्मिक विचार-केंद्र से आवश्यक समझी जाती थी। इतने काल के बाद भी यह कहना कि नहाने पर इतना अधिक जोर और ध्यान धार्मिक कर्त्तव्य के कारण ही हो कदाचित् आश्चर्यजनक न होगा। इस लिए कि एक अनिश्चित प्राचीन काल से हिंदुस्तान में तालाब, जल-स्रोतों और नदियों में स्नान धर्म की नींव पर आश्रित रहा है। प्रत्येक धार्मिक हिंदू प्रातःकाल किसी बहती हुई धारा में स्नान करता है और यदि कोई धारा या नदी न मिल सके तो तालाब, कुएँ और घर के पानी से ही संतोष करता है इस लिए कि एक दिन के पाप इसी प्रकार धोए जा सकते हैं। किसी पवित्र झील, उदाहरणार्थ पुष्कर में स्नान कर लेना तो मानो सारे जन्म के पापों को धो डालना है। लेकिन यद्यपि जल हिंदुओं में भी पवित्र समझा जाता है, उस का यह अर्थ नहीं कि उन के यहाँ पानी की पूजा की जाती है। पानी में पवित्र और स्वच्छ कर देने की शक्ति है इस लिए वह पवित्र समझा जाता है। लेकिन नदी की पूजा इस से विभिन्न वस्तु है।

पानी की पूजा

गंगा और जमुना को देवी समझ कर उन की पूजा की जाती है। नदी-उपासकों का सब से बड़ा पवित्र स्थल सिंध ही में है। पूजा की यह रीति, संभव क्या, बहुत कर के ऐतिहासिक काल से पूर्व की है। लेकिन बिना किसी पक्के प्रमाण के यह दावा करना कि ऐसा ही है, निस्संदेह सतर्कता के विरुद्ध होगा। इस लिए कि नदियों की पूजा वैदिक काल की एक प्रमुख विशेषता है, यह

नदियों की पूजा

संभव है कि अनार्यों ने नहीं वरन् आर्यों ने इस विचार को हिंदू धर्म में स्थान दिया हो। इस के विरुद्ध यह विचार अधिक समझ में आता है कि चूँकि नदी की पूजा भी व्यापक रही है इस लिए आश्चर्य नहीं कि आर्यों से पूर्व के लोगों तथा आर्यों ने भी इसे आप ही आप आरंभ किया हो। यथार्थ बात तो यह है कि आरंभिक साहित्य से यह कहीं नहीं सिद्ध होता कि हिंदुस्तानियों ने साधारण तौर पर कुएँ, तालावों, झीलों और उन में बसने वाली आत्माओं को जो पवित्रता प्रदान की है उस का पता वैदिक आधारों से चल सकता है।

पानी की इस प्रकार की आत्माओं का प्रदर्शन नागों से भी होता है। यद्यपि वह वास्तव मे नाग हैं परंतु यहाँ पर एक विवादग्रस्त प्रश्न सामने आता है। वह यह कि कला और कथाओं के आधार पर नागों

नाग और पानी की आत्माएँ

का पानी से बहुत बड़ा संबंध है और साधारणतः यह कहा जाता है कि वह अपना घर या माँद गहरे समुद्र मे या झीलों और नदियों के गहरे हिस्सों में बनाते हैं। लेकिन साँप की पूजा कई प्रकार से होती है। उन में एक प्रकार यह है कि वह पानी की आत्मा स्वीकार किए जाते हैं। और एक कारण कदाचित् उन का अत्यंत ज़हरीला होना है। इस लिए संभव है कि भय के कारण उन का पवित्र होना स्वीकार किया गया हो। फिर उन के बिलों में रहने के कारण उन के विषय में यह विचार किया गया कि वह पृथ्वी के भीतर के भाग के रहने वाले हैं। और चूँकि वह बहुधा मकानों में दिखाई देते हैं इस से यह विचार उत्पन्न हुआ कि उन की पूजा पितरों अर्थात् पूर्वजों के साथ संबद्ध कर दी जाय। इस के अतिरिक्त उन का संबंध तूफ़ान और बादलों से भी बताया जाता है और इस प्रकार वर्षा द्वारा वह लाभ अथवा हानि पहुँचाने की भी योग्यता रखते हैं। सारांश यह कि उन के विषय में बहुत सी धारणाएँ हैं (जिन में और भी वृद्धि की जा सकती है)। इन में से जिसे चाहिए नाग की पूजा से जोड़ लीजिए। परंतु इन में से कौन सा विचार विशेष मान्य है बिना किसी अधिक प्रमाण के नहीं कहा जा सकता।

उपरोक्त सपूर्ण वर्णन मे जो परिणाम निश्चित रूप से निकलते हैं वह निम्न-लिखित हैं—

सारांश　　(१) मोहंजो दाड़ो मे एक अत्यंत ऊँची और विशाल सभ्यता अब से पाँच हज़ार वर्ष पहले उपस्थित थी।

(२) महामाई और शिव के प्रकार के एक देवता की पूजा की जाती थी।

(३) वृक्षों, पशुओं और पत्थरों की पूजा भी हिंदुस्तान के ऐतिहासिक काल की भाँति होती थी।

(४) पशु कभी अपने प्राकृतिक रूप में कभी अर्ध-मनुष्य या किसी दूसरी पाशविक आकृति में पूजे जाते थे।

(५) शैवमत की भाँति लिंग और योनि की पूजा भी होती थी। महामाई की पूजा के संबंध मे शाक्तमत के चिह्न भी उस काल में मिलते थे।

(६) मूर्तियों को पूजा के संबंध मे सुगंधित वस्तुएं भी देवता के लिए जलाई जाती थीं।

(७) नहाने-धोने को विशेष धार्मिक महत्त्व दिया जाता था।

आधुनिक हिंदू-धर्म जहाँ तक कि उस के कर्म और साधारण विश्वासो का संबंध है इन्ही वस्तुओं पर आश्रित है। समय की गति से यदि कोई थोड़ा बहुत परिवर्तन हुआ तो उस का बहुत खयाल नहीं किया जा सकता। जो कुछ हो इन बातों से यह निश्चित परिणाम निकलता है कि हिंदू-धर्म का वास्तविक आधार आर्य-सभ्यता और संस्कृति नही वरन सिंध का यही प्राचीन धर्म व संस्कृति है। यह ठीक है कि हिंदू धर्म अपने उपरोक्त विश्वासों के आश्रय में आज कला और दर्शन की अत्यंत सूक्ष्म और गहरी बातें उपस्थित करता है। यदि मोहंजो दाड़ो के लोगों ने अपने इन कार्यों में उसी प्रकार के ऊँचे मस्तिष्क के विचारो को सामने नहीं रक्खा था तो इन सब कार्यों को बार्बरिक अंध विश्वासों के अतिरिक्त क्या कहा जा सकता है? लेकिन जिस प्रकार आज उन के पक्ष में कुछ नहीं कहा जा सकता उसी प्रकार उन के विरुद्ध भी कोई मत निर्धारित करना कठिन है। मोहंजो दाड़ो से जो

लेख प्राप्त हुए हैं वह अभी तक पढ़े नहीं जा सके। जिस दिन वह पढ़ लिए जायँगे, कौन कह सकता है कि उस समय हमें उन के मानसिक और ज्ञान-संबंधी बातों के विषय मे और क्या क्या मत क़ायम करने पड़ें। परंतु कम से कम हमें इतना आज भी विवश हो कर स्वीकार करना पड़ेगा कि जिस जाति के अवशेषों से इतनी बड़ी उन्नत सभ्यता प्रकट होती है वह दर्शन तथा अन्य विद्या के भंडार से बिल्कुल रहित नहीं हो सकती।

(समाप्त)

(अनूदित)

समालोचना

कविता

मधुकण—लेखक, श्री भगवतीचरण वर्मा। प्रकाशक, ओआबंधु आश्रम, प्रयाग। पृष्ठ ३०+१२८। साइज २०×३० सोलहपेजी। सजिल्द। मूल्य १॥)

अमरलता—लेखक, श्री शंभूदयाल सक्सेना। प्रकाशक, नवयुवक-ग्रंथ-कुटीर, फर्रुखाबाद। १९३३। पृष्ठ ९६। साइज २०×३० सोलहपेजी। मूल्य ॥)

श्री भगवतीचरण वर्मा हिंदी के उदीयमान कवियों में हैं। 'मधुकण' उन की कविताओं का पहला संग्रह है। हिंदी-पाठक जो कवि की रचनाओं को अब तक केवल पत्र-पत्रिकाओं में पढ़ते थे इस संग्रह को देख कर अवश्य संतुष्ट होंगे। रचनाएँ प्रायः सभी उस वर्ग की हैं जिसे आज कल 'छायावाद' का नाम दिया जाता है। छायावाद का वास्तविक अर्थ क्या है इसे हम आज तक ठीक ठीक न जान सके। इतना हम अवश्य जानते हैं कि छायावादी कहलाने वाली कविताओं के अन्य दोषों में एक उन की अस्पष्टता है। कवि अपनी लंबी भूमिका में एक प्रकार से इसे स्वीकार करता है। वह छायावाद का विश्लेषण करते हुए छायावादी कविता की अस्पष्टता के कारण बताता है। कवि के बताए कारणों को स्वीकार किए बिना भी हम यह कह सकते हैं कि अपने वर्ग के कवियों में औरों की अपेक्षा स्पष्टता लाने में वह बहुत कुछ सफल हुआ है और हम आशा करते हैं कि भविष्य में वह इस ओर विशेष ध्यान देगा। कवि में कल्पना है और उसे कोमल उद्गार भी प्राप्त हैं। परंतु उस की रचनाओं में कुछ विशेष त्रुटियाँ भी हैं। अकसर शब्दों के प्रवाह में पड़ कर कवि विचार का सूत्र टूट जाने देता है। यहाँ पर केवल एक उदाहरण

पर्याप्त होगा। "नूरजहाँ की क़ब्र पर" शीर्षक कविता में 'तुम रजकण के ढेर, उलूकों के तुम भग्न विहार !' इस प्रकार क़ब्र को संबोधित करते हुए वह नूर-जहाँ को संबोधन करने लगता है 'तुम्हारे संकेतों के साथ नाचता था साम्राज्य विशाल' जो नितांत असंबद्ध प्रतीत होता है।

पुस्तक में छोटी बड़ी मिलाकर तेईस कविताएँ हैं तथा 'तारा' नामक एक अतुकांत पद्यमय एकांकी नाटक भी है।

❦ ❦ ❦

'अमरलता' एक ऐतिहासिक शौर्य-काव्य है जो आठ छोटे छोटे सर्गों में समाप्त हुआ है। कथा, जो वीरभूमि राजस्थान के इतिहास से ली गई है संक्षेप मे इस प्रकार है। मोहिलपति माणिकराज अपनी कन्या कोड़िमदे के विवाह को बातचीत मंडोरपति अर्डकमल से करता है। राजकुमारी सखी के मुँह से यह समाचार सुन कर कहती है कि वह मन मे किसी और ही को वरण कर चुकी है और वह है पूगल का शासक भाटी राजकुमार सादूल। यह राजकुमार मोहिल-पति का अतिथि होता है। राजकुमारी का निश्चय पिता को मालूम होता है और वह उस का विवाह सादूल के साथ कर देता है। मंडोर-पति सादूल से युद्ध ठानता है और जिस समय वह अपनी बधू का डोला लेकर घर के लिए प्रस्थान करता है उसे मंडोर सेना मिलती है। घमासान युद्ध के बाद अर्डकमल और सादूल का भीषण द्वंद्व-युद्ध होता है। सादूल काम आता है और उसकी नव-विवाहिता बधू सती हो जाती है। राजपूत जीवन की यह एक साधारण घटना है। कवि ने इसे बड़े ओजस्वी शब्दों में प्रस्तुत किया है। वर्णन शैली संयमित और भाषा परिमार्जित है। अपने ढंग की खड़ी बोली की रचनाओं मे इस पुस्तक को आदर-पूर्ण स्थान मिलना चाहिए और श्रीयुत शंभूदयाल सक्सेना इस सफल रचना के लिए बधाई के पात्र हैं। कठिन शब्दों पर टिप्पणियाँ भी अंकित हैं जिनसे विद्यार्थी वर्ग को सहायता मिलेगी।

कहानी

'हत्यारे' का ब्याह—लेखक, मुंशी कन्हैयालाल। प्रकाशक, लीडर प्रेस, प्रयाग। पृष्ठ २३०। साइज़ २०+३० सोलहपेजी। मूल्य १।)। १९३३।

भ्रम—लेखिका श्रीमती यशोदा देवी प्रकाशक लीडर प्रेस प्रयाग पृष्ठ २३६ साइज २०×३० सोलहपेजी। मूल्य १॥) १९३१।

मुंशी कन्हैयालाल हिंदी के एक कुशल कहानी-लेखक हैं। थोड़े ही दिनों के भीतर उन्हों ने हमारे गल्प-लेखकों के बीच एक आदरणीय स्थान प्राप्त कर लिया है। प्रस्तुत पुस्तक में लेखक की १४ चुनी हुई कहानियाँ संग्रहीत हैं। इन कहानियों मे मनोरंजन की पर्याप्त सामग्री मिलेगी। यदि कला का उद्देश्य केवल मनोरंजन है तो कहानियाँ इस उद्देश्य की पूर्ति करती हुई पाई जायँगी क्यों कि कथानकों की सृष्टि बड़ी पटुता से की गई है। परंतु पाठकों का एक वर्ग है जो केवल कथानकों के निर्माण से संतुष्ट नहीं होता। वह सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विश्लेषण भी चाहता है। इन मे से अधिकांश कहानियों मे प्लॉट की प्रधानता है। यह अभिप्राय नहीं, कि इनमें चरित्र-चित्रण का नितांत अभाव है—क्यों कि जहाँ भी लेखक ने चरित्र-चित्रण या मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का प्रयास किया है उसे सफलता मिली है। लेखक की भाषा अकृत्रिम, बोलचाल की और सर्वत्र मुहावरेदार है। इस संबंध में प्रेमचंद की भाँति लेखक का उर्दू से संसर्ग लाभकर ही सिद्ध हुआ है।

* * *

श्रीमती यशोदा देवी की कहानियाँ भी सर्वथा सुपाठ्य हैं। 'भ्रम' शीर्षक पुस्तक में लेखिका की २३ कहानियाँ एकत्रित की गई हैं। यह सभी हिंदी की पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुकी हैं और अब पुस्तक-रूप मे संग्रहीत हुई हैं। अधिकांश कहानियों का विषय प्रेम है। स्त्री-पात्रों के मनोभावों को प्रदर्शित करने में स्वाभाविक रूप से लेखिका ने विशेष क्षमता प्रदर्शित की है। 'भ्रम' और 'त्याग' शीर्षक कहानियाँ, जो 'सरस्वती' से उद्धृत हैं, उत्तम हुई हैं।

साहित्य का इतिहास

हिंदी साहित्य का इतिहास—लेखक, श्रीयुत व्रजरत्नदास। प्रकाशक, श्री कमलमणि-ग्रंथमाला-कार्यालय, बुलानाला, बनारस। पृष्ठ २१६। साइज २०×३० सोलहपेजी। मूल्य १)। सं० १९८९।

पिछले दो-तीन वर्षों के भीतर हिंदी साहित्य के इतिहास-विषयक कम से कम आधे दर्जन ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं। यह इस बात का शुभ लक्षण है कि हिंदी पाठक इस भुलाए हुए विषय पर अधिकाधिक ध्यान दे रहे हैं। परंतु इन इतिहासों ने मिश्र-बंधुओं तथा पंडित रामचंद्र शुक्ल की खोजों को बहुत आगे बढ़ाया हो यह संदिग्ध है। हाल मे निकलने वाले साहित्य के इतिहासों का उद्देश्य विद्यार्थियों के पठन के लिए, न्यूनाधिक पूर्वोक्त इतिहासों के आधार पर छोटी पुस्तकें प्रस्तुत करना मात्र रहा है। आलोच्य पुस्तक भी इसी उद्देश्य से लिखी गई है।

इस बात से हम परिचित हैं कि श्रीयुत ब्रजरत्नदास की लेखनी की कृतियाँ विचारपूर्ण और व्यवस्थित होती हैं। इस पुस्तक के पहले अध्याय मे विद्यार्थियों की जानकारी के लिए संक्षेप में हिंदी भाषा का विकास वर्णित है। आगे लगभग २०० पृष्ठों में हिंदी साहित्य का इतिहास है। एक अलग अध्याय खड़ी बोली की कविता पर दिया गया है जिस में आदि काल से आज तक की खड़ी बोली की कविता की समीक्षा की गई है। यह अंश इस पुस्तक की विशेषता है।

स्फुट

गंगा का पुरातत्त्वांक (१९३३)—संपादक, राहुल सांकृत्यायन और श्रीरामगोविंद त्रिवेदी। पृष्ठ ३३७ मूल्य ३)। संख्या १८१।

हिंदी में पत्र-पत्रिकाओं के विशेषांकों का बाहुल्य तथा उन के विज्ञापन देख कर इन विशिष्ट प्रयासों के प्रति सतर्क बुद्धि रखनी पड़ती है। इधर जितने भी विशेषांक देखने मे आए उन मे कदाचित् सब से महत्त्वपूर्ण भागलपुर की 'गंगा' का पुरातत्त्वांक है। जिस अंक में ५० से अधिक पुरातत्त्व-संबंधी, भिन्न भिन्न विषयों पर, विशेषज्ञों द्वारा लिखित लेख संग्रहीत हों उस के विषय में एक छोटी टिप्पणी पर्याप्त नहीं हो सकती। हमें यह देख कर संतोष होता है कि बिहार से एक ऐसे मूल्यवान प्रकाशन का आयोजन हुआ। हम संपादकद्वय को उनकी सफलता पर हार्दिक बधाई देते हैं।

हिंदुस्तानी एकेडेमी द्वारा प्रकाशित ग्रंथ

(१) मध्यकालीन भारत की सामाजिक अवस्था—लेखक, मिस्टर अब्दुल्लाह युसुफ़ अली, एम्० ए०, एल्-एल्० एम्० । मूल्य १।)

(२) मध्यकालीन भारतीय संस्कृति—लेखक, राय बहादुर महामहोपाध्याय पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा । सचित्र । मूल्य ३)

(३) कवि-रहस्य—लेखक, डा० गंगानाथ झा । मूल्य १।)

(४) अरब और भारत के संबंध—लेखक, मौलाना सैयद सुलैमान साहब नदवी । अनुवादक, बाबू रामचंद्र वर्मा । मूल्य ४)

(५) हिंदुस्तान की पुरानी सभ्यता—लेखक, डाक्टर बेनीप्रसाद, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, डी० एस्-सी० । मूल्य ६)

(६) जन्तु-जगत—लेखक, बाबू ब्रजेश बहादुर, बी० ए०, एल्-एल्० बी० । सचित्र । मूल्य ६॥)

(७) गोस्वामी तुलसीदास—लेखक, रायसाहब बाबू श्यामसुन्दरदास और श्रीयुत पीतांबरदत्त बड्थ्वाल । सचित्र । मूल्य ३)

(८) सतसई-सप्तक—संग्रहकर्ता, रायसाहब बाबू श्यामसुन्दरदास । मूल्य ६)

(९) चर्म बनाने के सिद्धांत—लेखक, बाबू देवीदत्त अरोरा, बी० एस-सी० । मूल्य ३)

(१०) हिंदी सर्वे कमेटी की रिपोर्ट—संपादक, रायबहादुर लाला सीताराम, बी० ए० । मूल्य १॥)

(११) सौर परिवार—लेखक, डाक्टर गोरखप्रसाद, डी० एस्-सी०, एफ्० आर० ए० एस्० । सचित्र । मूल्य १२)

(१२) अयोध्या का इतिहास—लेखक रायबहादुर लाला सीताराम बी० ए० । सचित्र । मूल्य ३)

(१३) घाघ और भड्डरी—संपादक, पंडित रामनरेश त्रिपाठी । मूल्य ३)

(१४) वेलि क्रिसन रुकमणी री—संपादक, ठाकुर रामसिंह, एम्० ए० और श्री सूर्यकरण पारीक, एम्० ए० । मूल्य ६)

(१५) चंद्रगुप्त विक्रमादित्य—लेखक, श्रीयुत गंगाप्रसाद गुप्त, एम्० ए० । सचित्र । मूल्य ३)

(१६) भोजराज—लेखक, श्रीयुत विश्वेश्वरनाथ रेउ । मूल्य ३॥) सजिल्द, ३) बिना जिल्द ।

(१७) हिंदी उर्दू या हिंदुस्तानी—लेखक, श्रीयुत पंडित पद्मसिंह शर्मा । मूल्य सजिल्द १॥), बिना जिल्द १)

(१८) नातन—लेसिंग के जर्मन नाटक का अनुवाद । अनुवादक—मिर्ज़ा अबुलफ़ज़्ल । मूल्य १।)

(१९) हिंदी भाषा का इतिहास—लेखक, श्रीयुत धीरेंद्र वर्मा, एम० ए० । मूल्य सजिल्द ४), बिना जिल्द ३॥)

(२०) औद्योगिक तथा व्यापारिक भूगोल—लेखक, श्रीयुत शंकरसहाय सक्सेना । मूल्य सजिल्द ५॥), बिना जिल्द ५)

हिंदुस्तानी

तिमाही पत्रिका

की पहिले दो वर्ष की कुछ फाइलें अभी प्राप्त हो सकती हैं । मूल्य पहिले वर्ष का ८) तथा दूसरे वर्ष का ५) ।

प्रकाशक

हिंदुस्तानी एकेडेमी

संयुक्तप्रांत, इलाहाबाद

सोल एजेंट

इंडियन प्रेस लिमिटेड, इलाहाबाद

हिंदुस्तानी

हिंदुस्तानी एकेडेमी की तिमाही पत्रिका

भाग ३ } अक्तूबर १९३३ { अंक ४

मलिक अंबर

[लेखक—डाक्टर बनारसी प्रसाद सक्सेना, एम्० ए०, पी-एच्० डी० (लंदन)]

(१)

बहमनी साम्राज्य के विध्वंस होने के पश्चात् उस की अस्थियों से पाँच छोटी छोटी रियासतों का जन्म हुआ। इन में से एक थी अहमदनगर। इस के जीवन-इतिहास में तलवार की झंकार और युद्ध के भीषण नाद के अतिरिक्त कोई भी ऐसा परिचय नहीं मिलता जो राजनैतिक या धार्मिक दृष्टि से लाभदायक समझा जा सके। अहमद निज़ामशाह से लेकर हुसैन तृतीय तक कोई भी सम्राट् ऐसा नहीं हुआ जिस को उचित या अनुचित पक्ष के समर्थन करने में, हज़ारों क्या बल्कि लाखों योद्धाओं का रक्तपात न करना पड़ा हो। अतएव यह कहना अनुचित न होगा कि आरंभ से ही इस रियासत की प्रकृति में कलह की मात्रा अधिकतर थी अथवा उस के जीवनरक्त में ही विष का समावेश था। बलवान और बलहीन राजाओं के तथा उन के समर्थकों और विरोधियों के षड्यंत्र, धार्मिक अत्याचार की घृणित लीला, यही इस राज्य के जीवन की आदि से अंत तक की कहानी है। आश्चर्य तो यह है कि ऐसी परिस्थिति

होते हुए भी इस रियासत की पताका लगभग एक शताब्दी तक लहराती रही और यहाँ के राजा गर्व से अपनी गर्दन ऊँची किए रहे।

यदि गहरी दृष्टि से देखा जाय तो संसार के अधिकांश क्या, प्रायः सभी राज्यों अथवा साम्राज्यों के उत्थान व पतन का वृत्तांत एक ही समान है। परंतु अहमदनगर के इतिहास में विशेष बात यह है कि एक बार उस का पतन होकर फिर से उस का उत्थान हुआ। कह सकते हैं कि यह बुझते हुए दीपक की अंतिम ज्वाला थी, परंतु इस ज्वाला से जो आग भड़की उस ने बड़े बड़ों के दिलों को कँपा दिया। जो वैभव, जो सफलता, जो कीर्ति एक शताब्दी भर में वहाँ के किसी राजा को प्राप्त नहीं हुई थी, वह पचीस साल के अंदर एक अपरिचित विदेशी हबशी ने अपने बाहुबल और बुद्धिबल से प्राप्त कर ली। कैसी विचित्र घटना है कि जिस राजनैतिक पद्धति का बीज मलिक अंबर ने बोया उस के फल का स्वाद न तो स्वयं उस को और न उस के अनुयाइयों को मिला, बल्कि उस के रस का पान हिंदुओं ने किया और उस से पूरा लाभ उठाया!

अंबर का नाम तो उस काल के सभी ऐतिहासिक ग्रंथों में मिलता है, परंतु स्वतंत्र रूप से उस का हाल कहीं भी नहीं लिखा गया है। खेद की बात तो यह है कि १५९५ ई० के बाद अहमदनगर की रियासत का ब्योरेवार इतिहास फ़रिश्ता को छोड़ कर किसी भी समकालीन ग्रंथकार ने नहीं लिखा। बुरहान द्वितीय की आज्ञानुसार अली-बिन-अज़ीज़ुल्ला तबातबाई ने 'बुरहान मुआसिर' नामी ग्रंथ रचा, परंतु स्वर्गीय सर वूल्सले हेग का मत है कि ऐतिहासिक दृष्टि से यह पुस्तक महत्त्वहीन है, और बात भी ऐसी ही है। इस कारण इस का आश्रय लेना व्यर्थ है। यदि इस की काल्पनिकता को मथ कर सत्ता का अंश निकाला भी जावे तो भी अंबर के जीवन पर अधिक प्रकाश नहीं पड़ता। पूर्वोक्त ईसवी सन् से लेकर दस वर्ष तक अहमदनगर दुर्घटनाओं का शिकार रहा। इसी कारण इस रियासत में न किसी स्थायी शासनपद्धति का सचालन किया जा सका और न किसी शिक्षा-प्रणाली ही की नींव डाली जा सकी। मुरतज़ा निज़ामशाह द्वितीय एवं हुसैन निज़ामशाह के दरबार में किसी बड़े

विद्वान् की उपस्थिति का जिक्र नही आता। यही कारण है कि इन के काल का कोई दरबारी ऐतिहासिक ग्रंथ नहीं मिलता, जिस में इस रियासत के पुनर्जन्मदाता के यश का गान किया गया हो।

जिस समय अंबर ने कर्मक्षेत्र मे पैर रक्खा उस समय अहमदनगर का नाम ही नाम शेष रह गया था। उस का शरीर जीर्ण और उस की कीर्ति शीर्ण हो चुकी थी। शक्तिशाली अकबर ने अहमदनगर के क़िले पर अधिकार कर ही लिया था, और अपने बड़े बड़े सरदारों को दक्षिणी सीमा की देख-रेख के लिए नियुक्त कर दिया था। उधर आदिलशाह व क़ुत्बशाह इस रियासत के टुकड़ों को हड़प करने के लिए मुँह बाए बैठे थे। कहने का मतलब यह है, कि अपने ध्येय की पूर्ति के लिए अंबर को अपने समकालीन सभी राजाओं को शत्रुता मोल लेनी पड़ी। यही कारण है कि यद्यपि मुग़ल, आदिलशाही, व क़ुत्बशाही ग्रंथों में अंबर का परिचय तो अवश्य मिलता है, तथापि विस्तार से हाल नहीं मिलता। भला अपने शत्रु की विशेष चर्चा कोई क्योंकर करता? मुग़लों ने तो इस को बड़े ही कटु और तिरस्कार-पूर्ण वचनों से संबोधित किया है। स्वयं जहाँगीर ने, जो अपनी सभ्यता और शील के लिए प्रसिद्ध है अंबर को 'कलमुँहाँ', 'अभागा', और 'बदज़ात' कह कर अपमानित किया है। मोतमिद ख़ाँ ने उस को 'बदबख़्त' कह कर अपनी घृणा प्रकट की है। खाफ़ी ख़ाँ अपने दक्षिण के इतिहास में लिखता है कि बुरहानपूर के अमीरों ने सम्राट् जहाँगीर के पास एक प्रार्थना-पत्र भेजा जिस में यह वाक्य लिखे थे कि "यदि इस काले रंगवाले और कलुषित वंश के ग़ुलाम की ताड़ना का यथोचित प्रबंध न किया जावेगा तो हम राजपूत वीरों के समान अपने प्राणों की आहुति कर देवेंगे।" बीजापूर और गोलकुंडा वालों ने भी ऐसे ही शब्दों का प्रयोग किया है। मराठों से यह आशा थी कि वह अंबर के जीवन-चरित्र पर कुछ अधिक प्रकाश डालते, क्योंकि एक प्रकार से वह उन के राजनैतिक जीवन का जन्मदाता था, परंतु एक यवन के ऋण को वह क्योंकर स्वीकार करते?

सामग्री की इतनी कमी होते हुए भी समकालीन ग्रंथों में फुटकर हवालों के आधार पर अंबर के जीवन-चरित्र पर थोड़ा बहुत प्रकाश तो अवश्य ही

डाला जा सकता है इस मे तो संदेह ही नही कि वह जाति का हबशी था उस के एक चित्र से जो मिस्टर एन० सी० मेहता के पास है पता चलता है कि वह भुजंग रंग का लंबा तड़ंगा मनुष्य था। उस की बाहे लंबी व गावदुम, उस का सीना चौड़ा, कमर सिंह की कमर की तरह पतली, और ग्रीवा मोटी और मज़बूत थी। उस के शरीर के अंग प्रत्यंग से फुरती टपकती थी, उस के मुख से वीरता, ओठों से दृढ़ता और आँखों से दूरदर्शिता। सच तो यह है कि वह मनुष्य जाति की सरदारी के सभी गुणों से विभूषित था।

बुख़ारा व बग़दाद की बाज़ारों में ख़रीदे हुए गुलामों ने भारतवर्ष के राजनैतिक रंगमंच पर बड़े बड़े मर्यादा-जनक कार्य किए हैं। क़ुतुबुद्दीन ऐबक शम्सुद्दीन इलतुतमिश, ग़यासुद्दीन बलबन के नाम तो इस देश के मध्यकालीन इतिहास में अमिट रूप से अंकित हैं। अंबर भी इसी माला का एक बहुमूल्य रत्न था। जवानी में उदय होने के लिए ही मानो बचपन में इसके भाग्य फूट गए। दैव ने इसको माता पिता के स्नेह अथवा छाया से वंचित कर दिया। सौदागरों के हाथ पड़ कर बग़दाद की बाज़ार में बिकने आया। यहाँ मीर क़ासिम अथवा ख़्वाजा बग़दादी नामधारी सौदागर ने इसको ख़रीद लिया। क़ासिम अपना माल बेचने दक्षिण हिंद में आया। यहाँ अहमदनगर में मीरक दबीर अर्थात् चंगेज़ खां से उस का सौदा पट गया, और उस ने इस ग्राहक के हाथ अंबर को बेच डाला। भाग्य की लीला तो देखो कि मनुष्य को क्या क्या नाच नचाता है! कहाँ अबीसीनिया और कहाँ हिंद, कौन जानता था कि अंबर घर से निकल कर जब विदेश पहुँचेगा तब प्रतिष्ठा और कीर्ति को प्राप्त होगा। चंगेज़ खां स्वयं हबशी था, बात की बात मे अपने देशवासी के गुणों को ताड़ गया। समझ गया कि गुलाम है तो क्या हुआ, है युवक होनहार। अपने पद की पुष्टि के लिए उस ने एक हज़ार गुलामों की एक पलटन बनाई थी, इसी में अंबर को भी दाख़िल कर लिया।

इस समय अहमदनगर का राजा मुरतज़ा प्रथम था। सिंहासनारूढ़ होने के समय वह केवल एक बालक ही था। इसी कारण आगामी छः वर्ष तक रियासत की बागडोर राजमाता ख़्वानज़ा हुमायूं के हाथ में रही। मुरतज़ा को

राजनैतिक कार्य्यों की ओर न रुचि ही थी, और न उस को इस बात की आवश्यकता ही प्रतीत होती थी। वह अपना समय खेल कूद अथवा पढ़ने-लिखने मे ही व्यतीत किया करता था। माँ ने बेटे की लापरवाही को देख अपने हाथ पाँव फैलाना आरंभ किया। बड़े बड़े पदों पर अपने कुटुंबियों को नियुक्त किया और जिन लोगों की ओर से उस को खटका था उन्हे सरकारी नौकरी से अलग कर दिया। शीघ्र ही राज्य के मुख्य कर्मचारी ख्वानज़ा की नीति से असंतुष्ट हो गए और उन्हों ने राजमाता के विरुद्ध षड्यंत्र रचने की ठानी। इस आंदोलन के नेता प्राय: विदेशी हबशी ही थे। इन्हीं ने मुरतज़ा को अपनी माँ के खिलाफ़ उकसाया और उस को पदच्युत करने की सलाह दी। एक बार जब मुरतज़ा को यह स्पष्ट ज्ञान होगया कि वह कितनी कड़ी बेड़ियों से जकड़ा हुआ है, फिर तो बंधन से मुक्त होने के लिए उस ने कोई भी उपाय उठा न रक्खा। जल्द ही उस की तदवीरे सफल हुईं। ख्वानज़ा को शाही अंत:पुर की शान व आराम के बदले क़ैदख़ाने का क्लेश भोगना पड़ा। राज्यकार्य को अपने हाथ में लेते ही मुरतज़ा ने अपनी माँ के पक्षवाले कर्मचारियों को निकाल बाहर किया, उन की जगहों पर अपने नए मित्रमंडल के लोगों को नियुक्त किया। इस अवसर पर मीरक दबीर अर्थात् चंगेज़ खां के भी भाग्य उदय हुए क्योंकि उस को सेनापति की पदवी मिली।

चंगेज़ ने अपने मालिक की जी-जान से सेवा की। १५६९ ई० मे आदिलशाही सेना को राज्यसीमा से मार भगाया, और अली आदिलशाह को बाध्य किया कि वह बीदर व बरार पर निजामशाही अधिकार स्वीकार करे। इस बहादुर सिपाही के यश और कीर्ति की वृद्धि को देख कर अन्य निजामशाही सरदार जलने लगे। बीदर के आक्रमण के समय अवसर पा कर उन्हों ने मुरतज़ा के कान भर दिए कि चंगेज़ खां का हृदय द्वेष और पाप से कलुषित है, अथवा उस का यह विचार है कि बीदर पर अधिकार करके, वहाँ अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित कर ले। चंगेज़ को अपने शत्रुओं के इंद्रजाल का ज़रा भी पता न चला। सीधे सिपाही की तरह वह अपने उद्देश्य की पूर्ति में लगा रहा इसी लिए वह अपने मालिक की शंकाओं का समाधान न कर

पाया अतएव जब एक दिन मुरतजा ने कहा कि 'अब मैं थक गया हूँ, और हम लोगो को घर लौट चलना चाहिए' तब चंगेज ने सरल भाव से यही उत्तर दिया कि 'बीदर पर पूर्णतया आधिपत्य जमाए बिना लौटना अनुचित समझ पड़ता है'। यह सुन कर राजा की शंका और भी बढ़ गई और उस ने राज्य-वैद्य की सहायता से चंगेज को शरबत में विष मिला कर पिला दिया। मरते समय चंगेज ने मुरतजा को एक पत्र लिखा जिस में उस ने अनेक बहुमूल्य उपदेश दिए। रफीउद्दीन अपने ग्रंथ 'तजकिरतुल-मुलूक' मे लिखता है कि 'यदि चंगेज खां कुछ दिन और जीवित रहता तो समस्त दक्षिण खंड में एक तहलका मच जाता'। उस का स्वयं भी यही कहना था कि 'यह मेरी जीवन-अभिलाषा है कि एक बार सम्राट् अकबर से युद्ध करूँ। यदि उस को तलवार की घाट उतर गया तो लोग यही न कहेंगे कि मोरक दबीर मर गया। और यदि विजय प्राप्त हुई तो कालांतर तक संसार के पृष्ठ पर मेरा नाम अंकित रहेगा।' यह थी एक वीर योद्धा की कल्पना।

अपने सेनापति चंगेज खां की मृत्यु के पश्चात् (१५७५ ई०) अबर सरकारी फौज में भरती हो गया, परंतु अब तो निजामशाही राज्य के पतन का नक्षत्र उदय हो गया था। अपनी आयु के अंतिम भाग में मुरतजा पागल हो गया। सनक में आकर एक दिन उस ने अपने पुत्र हुसैन के बिस्तरे में आग लगा दी, मगर हुसैन का भाग्य प्रबल था, साफ़ बच गया। उस का मन पागल पिता से बदला लेने के लिए अधीर हो उठा। जब अवसर मिला तो उस ने मुरतजा को एक हम्माम मे बंद कर के नीचे आग जलवा दी, बेचारा भुन कर कबाब हो गया। पिता के रक्त से अपने हाथों को रंग कर हुसैन गद्दी पर बैठा। आगामी विद्रोह के भय से अपने पेशवा मिरजा खां के कहने से उस ने निजामशाही वंश के पंद्रह राजकुमारो को क़त्ल करवा दिया। मगर तीन वर्ष के भीतर ही मिरजा खां ने विश्वासघात किया और अपने मालिक को मरवा डाला। इस हत्याकांड के पश्चात् उस ने बुरहान द्वितीय के छोटे बेटे इस्माईल को लोहगढ़ के क़िले से ला कर अहमदनगर की गद्दी पर बिठाया। परंतु मिरजा खां बहुत दिन तक सुख से न रह सका। उस के

अत्याचार से राजधानी मे बड़ी हलचल मच गई। अपने विरुद्ध आंदोलन की उमड़ती हुई घटा को देख कर वह प्राण-भय से अहमदनगर से भाग निकला। रियासत के प्रबंध का भार अब जमाल खां के कंधों पर पड़ा। यह दक्षिणी मुसलमान था और इस की शक्ति का आधार था दक्षिणी दल, जिस का वह नेता था।

जमाल खां ने पेशवा पद ग्रहण करते ही एक नए मत का प्रचार आरंभ किया। सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में मुसलमानों के एक क्रांतिकारी दल ने जनता में यह विश्वास फैलाने का प्रयत्न किया कि बारहवें इमाम अथवा इमाम मेहदी का जन्म हो गया है, और अब इसलाम धर्म में एक नई जागृति पैदा होगी। इस मत के अनुयायी महदवी कहलाते थे। जमाल खाँ भी महदवी मत का था, और उस ने इस बात की चेष्टा की कि अहमदनगर इस मत का केंद्र बन जावे। अतएव शिया मत को विलुप्त कर के उस ने महदवी मत को राज्य-धर्म निश्चित किया। समस्त भारतवर्ष के महदवी अहमदनगर मे आ कर जमा हो गए, उन्हों ने जमाल खां को अपना खलीफा स्वीकार किया और उस के लिए अपने तन मन व धन को प्रदान करने को प्रस्तुत हो गए। जमाल खां के धार्मिक विचार व नीति बरार के अमीरों को असह्य हो गई और उन्हों ने सलाबत खाँ के नेतृत्व में उस से लड़ाई छेड़ दी। उधर बीजापूर ने भी आक्रमण कर दिया। जमाल खां ने बड़े साहस से काम लिया, पहले सलाबत खां को मार भगाया, फिर बीजापुरी सेना की ओर बढ़ा। पंद्रह दिन तक दोनों दल एक दूसरे के सामने डटे रहे, अंत में संधि हो गई। जमाल खां रणक्षेत्र से राजधानी वापस आया और उसने अपने कोप को विदेशियों पर उतारा। लगभग ३०० व्यक्तियो को देश-त्याग की सज़ा दी गई। यह दुर्घटना १५९० ई० में घटित हुई।

अंबर को अब सरकारी नौकरी करते हुए पंद्रह वर्ष हो चुके थे। अहमद नगर को स्थिति में जो परिवर्तन हुए उन को वह चुपचाप देखता रहा। इस के सिवा कर ही क्या सकता था। कोई भी तो विदेशी नेता नहीं रह गया था, जिस की वह शरण लेता। जब जमाल खां ने समस्त विदेशियों के विरुद्ध अपना चक्र

चलाया और उन को अहमदनगर से निकाल भगाया तो फिर अबर की क्या हस्ती थी कि वहा रुका रहता और अपनी जान को जोखम में डालता। कुछ दिनों इधर उधर भटकता फिरा, और जैसे बन पड़ा मुसीबत के दिन बिताता रहा। फरिश्ता भी इसी विपत्ति का शिकार हुआ, और उस ने अहमदनगर से भाग कर बीजापूर में शरण ली और वहीं अपने प्रसिद्ध ऐतिहासिक ग्रंथ की रचना की।

अहमदनगर की बिगड़ी दशा देख कर सम्राट् अकबर के मुँह में पानी भर आया। यदि संभव होता तो वह इसी समय इस रियासत को हड़प कर लेता, परंतु उस की शक्ति और ध्यान तो दूसरी ओर लगे थे। अब्दुल्ला खाँ उजबग के बढ़ते हुए राज्य और प्रभाव को देख कर वह भयभीत हो रहा था, और उस ने अपना सारा उत्साह साम्राज्य की उत्तर-पश्चिमी सीमा को सुरक्षित करने में लगा दिया था। तो भी चाल से बाज न आया और उस ने बुरहान द्वितीय को जो बहुत दिनों से उस के आश्रय मे रह रहा था, उभारा कि वह अहमदनगर जा कर सिंहासन पर अधिकार जमाने का उद्योग करे। अकबर ने यह भी प्रस्ताव किया कि वह उस की सहायता के लिए मुग़ल सिपाहियों की एक पलटन उस के साथ कर देगा। परंतु बुरहान ने इसे अस्वीकार किया। वह अपने परिश्रम में सफल हुआ। जमाल खाँ लड़ाई में मारा गया और इस्माईल पकड़ा गया। तत्पश्चात् बुरहान गद्दी पर बैठा। अपने पूर्वजों की तरह उस ने शिया मत का फिर से प्रचार किया, और देश से निकाले हुए विदेशियों को फिर से बुला लिया।

अकबर को आशा थी कि बुरहान उस का उपकार मानेगा और गद्दी पर बैठने के बाद उस का आधिपत्य स्वीकार करेगा। परंतु बुरहान ने ऐसा करने से साफ इन्कार कर दिया। इस पर अकबर बहुत रुष्ट हुआ, और बदला लेने का अवसर ढूँढ़ने लगा। बेचारा बुरहान एक दिन भी सुख की नींद न सो पाया। बराबर आंतरिक व बाह्य झगड़ों मे फँसा रहा। लगातार परिश्रम, रोग और चिंता से उस का शरीर शिथिल पड़ गया और वह १५९५ ई० में परलोक को सिधारा। उस का मरना था कि अहमदनगर में गृह-कलह

आरंभ हो गया। इस समय रियासत में अमीरों के चार दल थे।

(१) मियां मंझू और उस के दक्षिणी अनुयायी। यह लोग अहमद द्वितीय के पक्ष में थे, और बीजापूर की सीमा पर इस आशा में पड़ाव डाले हुए थे, कि इब्राहीम द्वितीय उन की सहायता करेगा।

(२) अफरीक़ा-निवासी अभंग ख़ां व हब्श ख़ां, जो कुमार अली के पक्ष में थे। यह लोग भी दक्षिणी सीमा पर उसी उद्देश्य से पड़ाव डाले हुए थे, जिस से कि प्रथम दल वाले।

(३) इख़लास ख़ां, जो एक अन्य अफरीक़ी दल का नेता था, दौलताबाद के समीप डेरा डाले था और एक अज्ञात बालक मोतीशाह का पक्ष ग्रहण किए हुए था।

(४) चाँदबीबी अहमदनगर में शिशु बहादुर की रक्षा का भार अपने सिर पर लिए थी।

आरंभ में इख़लास ख़ाँ व मियाँ मंझू एक राय के थे। परंतु बाद को दोनों के बीच मे झगड़ा हो गया और इख़लास ख़ाँ ने मोतीशाह को अपना नेता निश्चित कर लिया। इस पर मियाँ मंझू ने राजकुमार सुलतान मुराद से जो इस समय गुजरात का मंडलाधीश था सहायता की याचना की। अकबर तो इस अवसर की ताक लगाए बैठा ही था। उस ने शीघ्र ही मुराद और ख़ानख़ानां को आज्ञा दे दी कि अपनी अपनी सुसज्जित सेना को ले कर मंझू की मदद को पहुँचें। खानदेश के राजा अली ख़ाँ को भी इसी आशय का पत्र लिखा गया। मुराद व ख़ानख़ानां ने बड़ी शीघ्रता से काम लिया और अहमदनगर पहुँच कर क़िले पर घेरा डाल दिया। राजा अली ख़ाँ भी आ तो पहुँचा, परंतु उस की सहानुभूति दक्षिणी भाईयों के साथ थी। इख़लास ख़ाँ और अभंग ख़ाँ ने घेरा विच्छेद करने की कोशिश अवश्य की परंतु मुग़ल सरदारों ने दोनों को परास्त किया। मुराद और खानख़ानां के बीच द्वेष भाव होने के कारण इस विजय से यथोचित लाभ न उठाया जा सका। अंत में गोलकुंडा व बीजापूर से सहायक-सेना के आगमन का समाचार सुन कर मुराद ने चाँदबीबी से संधि कर ली। मुग़लों को अपने परिश्रम के

बदले में बरार का सूबा मिला।

आई हुई विपत्ति को इस ढंग से टाल कर चाँदबीबी ने बहादुरशाह का राज्याभिषेक कराया। मियाँ मंझू ने गृहयुद्ध छेड़ने की एक बार और कोशिश की परंतु इब्राहीम द्वितीय ने उस को और उस के नेता अहमद को बीजापूर बुला लिया। अहमदनगर में मुहम्मद खाँ ने पेशवा पद को ग्रहण किया परंतु उस ने अपने गर्व और अत्याचार से अमीरों को इतना तंग कर दिया कि चाँदबीबी को बीजापूर से सहायता माँगनी पड़ी। इब्राहीम ने सुहैल खाँ के साथ एक सेना भेजी जो चार मास तक अहमदनगर पर घेरा डाले रही। मुहम्मद खाँ ने खानखानां से सहायता के लिए प्रस्ताव किया। परंतु उस की चाल पकड़ी गई, और वह बंदी कर लिया गया। चाँदबीबी ने अब अभंग खाँ को पेशवा के पद पर नियुक्त किया।

अभंग खाँ के नया पद ग्रहण करते ही विदेशियों के भाग्य उदय हो गए। उस ने हबशियों की एक सेना एकत्रित की और उन का यथोचित सम्मान किया। उस की उदारता का हाल सुन कर हबशियों की टोलियों की टोलियाँ जो अब तक छिन्न-भिन्न थीं अहमदनगर आईं। अंबर से भी न रहा गया, वह भी उसी ओर चल दिया। ऊपर कहा जा चुका है कि जमाल खाँ के अत्याचार से तंग हो कर अंबर अहमदनगर से भाग निकला या देशच्युत कर दिया गया था। कुछ दिनों इधर उधर भटकने के बाद जब जीविका का कहीं सहारा न रहा तो वह बीजापूर पहुँचा और उस ने वहाँ सरकारी नौकरी कर ली। वहीं से बैठे बैठे अहमदनगर की दुर्दशा का तमाशा देखता रहा। सच तो यह है कि बीजापुर में उस का जी नही लगता था, परंतु अहमदनगर आने की भी तो सुविधा न थी। अब जब अवसर मिला तो वह चूका नहीं। ज्यों ही वह अपने पुराने शहर मे आ पहुँचा, उस को ठिकाने की नौकरी मिल गई। अभंग खाँ ने उसे अपनी सेना में दाखिल कर लिया।

शीघ्र ही मुग़लों के अनाचार से विवश हो कर अभंग खाँ को युद्ध के लिए तैयारी करनी पड़ी। पूर्व नीति के अनुसार उस ने बीजापुर से सहायता माँगी। परंतु खांनखानां के बल और चातुर्य के सामने गोलकुंडा

व बीजापुर के संयुक्त सैन्य-दल भी न ठहर सके। १५९७ ई० के फ़रवरी मास में गोदावरी के किनारे सोनपत के स्थान पर दक्षिणियों की सर्वनाश-कर पराजय हुई। अहमदनगर पर दुर्भाग्य के काले बादल घिरने लगे, उस के पतन में कोई कसर तो रह न गई, यदि थी भी तो वह शीघ्र ही पूरी हो गई। अभंग ख़ाँ ने अपने हाथ पाँव फैलाना आरंभ किया, और इस बात का उद्योग किया कि राज्यकार्य की बागडोर पूर्णतया उसी के हाथ में आ जावे। चाँदबीबी इस ढिठाई को क्योंकर सह सकती थी? परिणाम यह हुआ कि दोनों के परस्पर के संबंध में गुत्थियाँ पड़ गईं, यहाँ तक कि अभंग ख़ाँ चाँद को क़ैद करने का अवसर ढूंढने लगा। चाँदबीबी बड़ी चतुर थी; उस ने किले के फाटक बंद कर लिए और सुरक्षित हो कर बैठ रही। मगर अभंग ख़ाँ ने क़िले को घेर लिया। जब अकबर को इस गृहकलह का पता चला तो उस ने दानियाल और ख़ानख़ानां को दक्षिण भेजा, और स्वयं भी उस ने उसी ओर प्रस्थान किया। ख़ानख़ानां और दानियाल ने अहमदनगर पर आक्रमण किया। अभंग ख़ाँ ने उन को रास्ते में ही रोक लेने का प्रयत्न किया, परन्तु शाही सेना को देखते ही घबड़ा गया और चाँदबीबी की सहायता क्या करे मैदान से निकल भागा और जुन्नार पहुँच कर दम लिया। आपत्तिकाल में मर्यादा को छोड़ कर चाँदबीबी ने अपने महल के ख़्वाजा-सरा चीता ख़ाँ से सलाह ली और क़िले को मुग़लों के हाथ सौंप देने का प्रस्ताव किया। चीता ख़ाँ ने विश्वासघात किया। सेना को एकत्रित करके यह घोषणा कर दी कि चाँदबीबी तो मुग़लों से मिली हुई है। सिपाही कोप के मारे अंधे हो गए और आवेश में आ कर उन्हों ने बड़ा ही अनर्थ कर डाला अर्थात् निरपराधिनी चाँदबीबी की जान ले ली। इधर मुग़लों ने क़िले की दीवारों में सुरंगें पूरी कर ली थीं और उन में बारूद भर दी थी। ज्यों ही उन को चाँदबीबी के वध का पता चला उन्हों ने बारूद में आग लगा दी। धाँय धाँय कर दीवारें जगह जगह पर गिर पड़ीं, मुग़ल सैनिक धँस पड़े; उन्हों ने बहादुर निज़ामशाह को क़ैद कर लिया और क़िले पर अपना झंडा गाड़ दिया।

(२)

इस प्रकार १५९९ ई० में अहमदनगर की स्वतंत्रता का अंत हो गया, परंतु कई कारणों से मुग़लों का आधिपत्य उस पर पूर्णतया न जम सका। मुख्य कारण तो यह था कि सलीम के राज्यविद्रोह ने अकबर को दक्षिण से बड़े वेग से भागने के लिए बाध्य कर दिया। दूसरे यह कि बहुत से सरदार जो निज़ामशाही नौकरी से छूट गए थे वह इस बात का प्रयत्न करने लगे कि अपने लिए छोटी छोटी स्वतंत्र रियासतें स्थापित कर लें। इन सरदारों में से दो मुख्य थे, एक तो अंबर और दूसरा राजू पौलाद। जिस समय अभंग ख़ाँ अहमद-नगर दुर्ग का घेरा किए हुए था उस समय अंबर ने अपनी तत्परता और कार्य-कुशलता से अपने मालिक को ऐसा प्रसन्न किया कि उस ने इस को १५० सवारों का नायक बना दिया। परंतु जब मुग़लों के आगमन से भयभीत हो कर अभंग ख़ाँ भाग गया तब अंबर भी रियासत के सीमांत प्रांत की ओर चल दिया। नहबंदी वा फ़रिश्ता दोनों का कथन है कि तिलिंगाना की सीमा से बीड़ के एक कोस तक, अहमदनगर के दक्षिण चार कोस तक और दौलताबाद से बीस कोस च्यूल के बंदरगाह तक अंबर ही का दौरदौरा था। यहाँ उस ने चोरों व डाकुओं की ताड़ना की और शांति स्थापित की। थोड़े ही दिनों में उस के पास लगभग तीन हज़ार घुड़सवारों की एक सुसज्जित सेना एकत्रित हो गई। इसी फ़ौज को ले कर उस ने बीदर पर छापा मारा। क़िले वालों ने उस का सामना किया परंतु अंबर ने दम के दम में उन को परास्त कर लिया। यह पहली स्वतंत्र विजय थी, जो अंबर ने अपने बाहुबल से प्राप्त की इस के बाद उस का उत्साह और धैर्य दिनों दिन बढ़ता ही गया।

जैसे अंबर निर्जीव रियासत के एक प्रांत में अपनी मनमानी कर रहा था, ठीक उसी प्रकार राजू पौलाद भी दूसरे प्रांत में अपना आधिपत्य जमा रहा था। उस ने दौलताबाद की उत्तरी सीमा से ले कर गुजरात तक और दक्षिण की ओर अहमदनगर के छः कोस इर्दगिर्द तक का देश अपने क़ाबू में कर लिया था। पौलाद वास्तव में अमीर सआदत ख़ाँ का ग़ुलाम था, परंतु अभंग ख़ाँ के कहने में आ कर उस ने विश्वासघात किया और अपने मालिक

की जायदाद पर अधिकार कर लिया। मुग़लों की विजय के बाद उस ने एक निज़ामशाही राजकुमार मुरतज़ा को जो गद्दी पर बिठलाया जा चुका था अपना अधिपति स्वीकार किया और आवश्यकतानुसार उस को औसा का दुर्ग व कुछ गाँव भी दे दिए। थोड़े ही दिनों में उस ने आठ या नौ हज़ार घुड़-सवार इकट्ठा कर लिए और मुग़लों के थानों पर छापा मारने लगा। जो कोई मिलता उसे लूटता खसोटता और कभी कभी तो घोड़े, हाथी, बारदाना तक उड़ा ले जाता। मगर जब उस ने अंबर की उन्नति को देखा तो उस के हृदय में ईर्षा की आग धधकने लगी। परिणाम यह हुआ कि दोनों के बीच में झगड़ा उठ खड़ा हुआ, और एक दूसरे की जान का ग्राहक बन गया।

चतुर ख़ानख़ानां अभी दक्षिण में ही था। जब उस को अंबर व फ़ौलाद के परस्पर झगड़ों का पता चला तो उस की समझ में आया कि अवसर अच्छा है एक एक करके दोनों को परास्त कर के इन के बल व वृद्धि की जड़ ही काट दे। इस विचार के अनुसार, १६०१ ई० में ख़ानख़ानां ने एक फ़ौज इस आशय से भेजी कि तिलिंगाना की सीमा पर जो अंबर के प्रदेश हैं उन को छीन ले। मुग़लों को आरंभ में अपने उद्देश्य में सफलता तो हुई, परंतु अंबर ने शीघ्र ही उन को मार भगाया। अब ख़ानख़ानां ने अपने ज्येष्ठ पुत्र ईरज को ५००० सवार के साथ अंबर की ताड़ना के लिए भेजा। नांदेर के निकट दोनों दलों में घोर युद्ध हुआ, अंबर घायल हो कर घोड़े से गिर पड़ा। संभव था कि वह क़ैद भी हो जाता, परंतु उस के हबशी और दक्षिणी भृत्य उस को रणक्षेत्र से उठा ले गए। स्वस्थ हो जाने पर उस ने फिर फ़ौज भरती करना आरंभ कर दिया। यह देख कर ख़ानख़ानां ने उस से सन्धि की बात चलाई। अंबर को राजू की ओर से तो खटका था ही। इस कारण इस अव-सर को ग़नीमत समझ कर वह ख़ानख़ानां से भेंट करने गया। मुग़लों ने उस का यथोचित सत्कार किया। दोनों ने आपस में सलाह कर के अपने अपने देश की सीमा नियत कर ली।

इस घटना के थोड़े ही दिनों बाद कुछ दक्षिणी सरदारों ने अंबर का साथ छोड़ दिया और मुरतज़ा निज़ामशाह से मिल कर उसे इस बात पर

तैयार किया कि वह अंबर को परास्त करे इन लोगों ने औसा के निकट एक फौज भी जमा की, परंतु लड़ाई में अंबर ही की जीत हुई और मुरतज़ा को संधि कर लेनी पड़ी। अब तो निज़ामशाह पुतले की तरह अंबर के वश में आ गया। यह १६०३ ई० में उस को ले कर परिंदा के दुर्ग की ओर बढ़ा। वहाँ के रक्षक संभल खाँ ने फाटक बंद कर लिए और यह संदेश भेजा कि, वह मुरतज़ा को तो क़िले में आने देगा परंतु अंबर को नहीं, क्योंकि वह मुग़लों से मिला हुआ है। एक महीने तक यह खींच-तान चलती रही। अंत में संभल खाँ क़िले से भाग गया। अंबर ने उस में प्रवेश किया और वहीं मुरतज़ा को सिंहासनारूढ़ किया। इस के बाद निज़ामशाह इसी क़िले में रहने लगा।

अंबर का प्रतिद्वंदी राजू बराबर मुग़लों से लड़ता ही रहा। उस के छापों से तंग आ कर एक बार दानियाल ने, जो इस समय दक्षिणी मुग़ल प्रदेश में सम्राट् अकबर का प्रतिनिधि था, राजू को कहला भेजा कि यदि मर्द हो तो मैदान में आ कर लड़ो, इस छुप्पा-चोरी से क्या फ़ायदा। राजू ने जवाब दिया कि यदि मैं रणक्षेत्र में आकर तुम से लड़ूँ और तुम्हारी फ़ौज को कुछ हानि पहुँच जावे तो तुम्हारी सहायता के लिए तो सम्राट् अकबर दस गुनी और फ़ौज भेज देगा, परंतु यदि मुझे हानि पहुँची तो भला मेरी मदद को कौन आवेगा? मैं तो मुफ़्त में ही मर मिटूँगा। लेकिन हाँ, मैं अपने कार्यक्रम से बाज़ न आऊँगा, चाहे मुझे आगरे तक ही क्यों न जाना पड़े। फ़रिश्ता का कहना है कि जब १६०४ ई० में राजकुमार दानियाल नासिक व दौलताबाद के रास्ते अहमदनगर आदिलशाह की लड़की से ब्याह करने जा रहा था, तब उस ने राजू से संधि के लिए प्रस्ताव किया। इस के इन्कार करने पर इस को दंड देने को एक मुग़ल सेना भेजी गई जिस से भयभीत हो कर राजू अपने देश को भाग गया। परंतु रफ़ीउद्दीन शीराज़ी का कथन इस से भिन्न है। इस के मतानुसार राजू और दानियाल के बीच में संधि हो गई और निश्चय यह हुआ कि कुछ स्थानों का कर दोनों आधा आधा बाँट लेवें, इसी नीति का पालन करने के लिए हर स्थान में मुग़ल तथा राजू दोनों के ही प्रतिनिधि रहते थे। कहने का मतलब यह है कि राजू के बल व कीर्ति की वृद्धि दिनोदिन

होती जा रही थी।

यह देख कर मुरतज़ा के भी जी में विचार आया कि उस की सहायता से वह अंबर के प्रभुत्व से छुटकारा पा ले। राजू के पास उस ने अंबर की शिकायतें लिख भेजीं और उस को अपने पास बुलाया। राजू तो इस अवसर के लिए मुँह खोले बैठा ही था। तुरंत परिंदा जा पहुँचा और अंबर के सर्वनाश करने की आज्ञा प्राप्त कर ली। इन दोनों के बीच कई लड़ाइयाँ हुई, परंतु अंबर की हर बार पराजय हुई। विवश हो कर उस ने ख़ानख़ानां से सहायता की प्रार्थना की, और मुग़ल सेना की मदद से राजू को दौलताबाद भगा दिया। इसी बीच राजकुमार दानियाल की मृत्यु बुरहानपूर में हो गई, जिस कारण ख़ानख़ानां को जालनापूर से बुरहानपूर आना पड़ा। अब बदला लेने के विचार से, अंबर ने एक बड़ी फ़ौज एकत्रित की, परंतु ख़ानख़ानां के कहने से उस ने राजू से संधि कर ली।

परिंदा पहुँच कर अंबर को मालूम हुआ कि राजू की कार्यवाही में बहुत कुछ मुरतज़ा का हाथ था। यह जान कर वह बहुत ही क्रुद्ध हुआ और उस ने मुरतज़ा को पदच्युत करने का विचार किया। परंतु आदिलशाह के कहने से इस को कार्य-रूप में परिणत नहीं किया। अब अंबर के जीवन में एक नए अध्याय का प्रारंभ हुआ। आदिलशाह व ख़ानख़ानां दोनों ही ने जान लिया कि वह होनहार सिपाही है, विशेष कर आदिलशाह तो उस की वीरता और कार्यकुशलता को देख कर बहुत ही मुग्ध हो गया और दिनों दिन उस से घनिष्ठता बढ़ाने लगा। दूरदर्शी नीतिज्ञ की तरह उस को इस बात का पूर्ण विश्वास हो गया कि उस के राज्य की भविष्य में रक्षा का केवल एक ही उपाय है कि वह अहमदनगर के निर्जीव शरीर में फिर से जान डालने का प्रयत्न करे। इस कार्य को सफल करने के लिए उस को अंबर ही एक योग्य व्यक्ति जान पड़ा। इसी कारण आदिलशाह ने उस को यह सलाह दी कि वह मुरतज़ा से बिगाड़ करने के स्थान में उस से मित्र-भाव बनाए रहे। क्योंकि यदि अहमदनगर की यश व कीर्ति के पुनर्जन्म की संभावना थी, तो मुरतज़ा के नाम के बल पर ही थी। अतएव अंबर मुरतज़ा को ले कर जुन्नार पहुँचा,

और वहाँ निजामशाही झंडा फिर से गाड़ दिया अपने कुरटी मालिक को अधिक विश्वास दिलाने के लिए उस ने अपनी लड़की का विवाह भी उस के साथ कर दिया। इस में एक गुप्त चाल यह भी थी कि अभी तक तो उस की स्थिति एक गुलाम की थी, परंतु अब उस का नाता शाही खानदान से हो गया और वह अमीर व वज़ीर की पदवी को बिना आपत्ति के ग्रहण कर सकता था। यह बात इस शताब्दी में निस्सार प्रतीत होती है, परंतु मध्यकालीन भारत में इस का जितना बड़ा महत्त्व था, उस की पूर्ण विवेचना करना यहाँ आवश्यक नहीं। अंबर अब चंगेज़खानी या अभंगखानी अंबर नहीं रहा।

आदिलशाह ने अंबर को अच्छी सम्मति ही नही दी परंतु उस की स्थिति को अधिक दृढ़ करने के लिए कंधार के क़िले को भी उसे सौंप दिया। इस कृपादृष्टि के वास्ते धन्यवाद देते हुए अंबर ने आदिलशाह को लिखा कि 'जब तक मेरे शरीर में प्राण हैं, मैं मुग़लों का विरोध करूँगा, संभव है कि उन्हें दक्षिण से निकाल भी दूँ'। कहने की आवश्यकता नहीं कि अंबर ने इस प्रतिज्ञा का तन मन धन से पालन किया। कंधार के मिलते ही अंबर को अब इस बात की जल्दी पड़ी कि किसी प्रकार राजू का काम तमाम करे। शीघ्र ही उस ने एक फ़ौज राजू को परास्त करने को भेजी। बड़े परिश्रम के बाद वैरो गिरफ़्तार हुआ और उस का बध कर डाला गया। अब अहमद-नगर भर में अंबर का तूती बोलने लगा। उसी का बोल बाला था।

इसी समय सम्राट् अकबर का आगरे में देहांत हो गया। इस दुर्घटना के ठीक एक सप्ताह बाद अर्थात् २४ अक्तूबर, १६०५ ई० को सुलतान सलीम सिंहासनारूढ़ हुआ और उस ने नूरुद्दीन जहाँगीर की उपाधि ग्रहण की। राज-नीति के क्रम में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। जो अकबर की अभिलाषाएँ थी वही अब जहाँगीर की आकांक्षाएं बन गईं। केवल भिन्नता इतनी थी कि न तो स्वर्गीय सम्राट् का सा उत्साह ही किसी में था और न वैसी कार्य-कुशलता। थोड़े ही दिनों बाद जहाँगीर ने खानखानां को दक्षिण से बुला लिया। खानखानां का जाना था कि अंबर और भी स्वतंत्र हो गया। अब वह निडर हो कर अपना काम कर सकता था। पहले तो उस ने इस बात का प्रबंध

किया कि दौलताबाद को फिर से आबाद करदे। मुग़लों के लगातार आक्रमणों और मराठा सरदारों की लूट मार के कारण यह समृद्ध शहर, बिल्कुल एक जंगल के समान हो गया था। अंबर ने यहाँ के शासन व रक्षा का ठीक ठीक बंदोबस्त किया और यहाँ की प्रजा को बहुत प्रकार की सुविधाएँ पहुँचाईं, उन को इस बात का विश्वास दिलाने का भी प्रयत्न किया कि वह बिना खटके इस शहर में रह सकते हैं। शीघ्र ही दौलताबाद में पहले की-सी रौनक आ गई। यही नहीं, चारों ओर का देश भी अंबर के हाथ लग गया और लोगों को यह प्रत्यक्ष पता चलने लगा कि अहमदनगर के सोते हुए भाग्य फिर से चेत रहे हैं। दो वर्ष के भीतर उस ने मुग़लों के हाथ से अहमदनगर की समस्त रियासत वापस ले ली।

विवश हो कर जहाँगीर ने फिर से ख़ानख़ानां को दक्षिण भेजा और उस को ताकीद करदी कि शीघ्र अंबर की चढ़ती हुई ताक़त को दबा दे। अंबर ने अपने कार्यक्रम से तो मुग़लों को रुष्ट कर ही दिया था इस लिए उस को अब आवश्यकता इस बात की प्रतीत हुई कि वह आदिलशाह से अपनी मित्रता और भी दृढ़ करे। अतएव उस ने यह प्रस्ताव बीजापूर भेजा कि यदि शाह उचित समझे तो अपने किसी अमीर की लड़की के साथ उस के बेटे का ब्याह करादे। आदिलशाह ने इस को स्वीकार किया और याक़ूत ख़ाँ हबशी की लड़की की सगाई अंबर के बेटे अज़ीज़ुल्मुल्क के साथ कर दी। बारात बीजापूर गई, ४० दिन तक वहाँ ख़ूब उत्सव समारोह रहा। वर व वधू का स्वागत फ़रवरी १६०९ ई० में अहमदनगर की नई राजधानी जुन्नार में हुआ। यह थी अंबर और आदिलशाह की चुनौती ख़ानख़ानां और उस के मालिक जहाँगीर को। ख़ानख़ानां ने परिश्रम तो बहुत किया, परंतु अपने अधीन अधिकारियों को क़ाबू में न ला सका, इस लिए अंबर के विरुद्ध कुछ करते धरते न बन पड़ा।

जहाँगीर ने इस उद्देश्य से कि सरकारी कर्मचारियों में अधिक एकता हो जावेगी, १६१० ई० में अमीरुलउमरा मिरज़ा शरीफ़, आसफ़ ख़ाँ जाफ़र-बेग और शाहज़ादा परवेज़ को दक्षिण प्रांत में भेजा। इन लोगों के आने के

बाद अपने स्वतन्त्र मत के अनुसार खानखाना ने वर्षा ऋतु में ही शत्रु पर धावा बोल दिया, परन्तु अपने साथ खाने पीने का पर्याप्त सामान न लिया। भला अंबर कब चूकने वाला था मुग़लों को धोखा दे कर घाटियों में घसीट ले गया और वहाँ उन्हें भूखों मारा। समस्त अधिकारी खानखानां से रुष्ट हो गए और उस पर विश्वासघात व अयोग्यता का दोष लगाने लगे। वास्तव में मुग़लों को इस अदूरदर्शिता से हानि भी बहुत हुई। अहमदनगर का क़िला उन के हाथ से निकल गया। आसफ़ ख़ाँ सम्राट् को लिख ही चुका था कि विना आप की उपस्थिति के कुछ काम बन नहीं सकता। जब जहाँगीर ने इस प्रस्ताव को अपनी कार्यकारिणी समिति के सामने रक्खा तो खानजहाँ लोदी ने कहा कि 'आप के जाने की आवश्यकता नहीं। मैं बीड़ा उठाता हूँ कि इस काम को विना पूरा किए मुँह न दिखाऊँगा।' जहाँगीर उस की बातों में आ गया और उसे दक्षिण भेज दिया। खानजहाँ ने दक्षिण पहुँचते ही जहाँगीर को लिख भेजा कि जब तक खानखानां यहाँ रहेगा, कोई काम नहीं बन सकता। सम्राट् ने तुरंत ही खानखानां को वापस बुला लिया, और खानजहाँ की कारगुज़ारी की प्रतीक्षा करने लगा।

खानजहाँ ने एक बड़ी महत्त्वपूर्ण युक्ति सोची, या यों भी कह सकते है, कि सरकार की ओर से इस का प्रस्ताव हुआ कि अब्दुल्ला ख़ाँ गुजरात से चल कर नासिक व त्रिंबक की ओर से व खानजहाँ व मानसिंह इत्यादि बरार व खानदेश की ओर से अहमदनगर में प्रवेश करें और चारों तरफ़ से शत्रु को घेर कर उस का सर्वनाश कर दें। युक्ति तो बड़ी सूक्ष्म की थी परंतु अब्दुल्ला ख़ाँ की लापरवाही के कारण असफल रही। हार का हाल सुन कर जहाँगीर बहुत क्रुद्ध हुआ। एक बार विचार किया कि स्वयं जा कर कार्य पूरा करे परंतु विचार स्थगित कर दिया। खानखानां की योग्यता का मूल्य सब लोगों को मालूम हुआ, और वह फिर से दक्षिण भेजा गया। जब वह १६१२ ई० में दक्षिण पहुँचा तो उस के लिए मैदान साफ़ था। जाफ़र बेग आसफ़ ख़ाँ और शरीफ दोनो ही मर चुके थे।

अंबर इस समय बड़ी आपत्ति में था। हबशी अमीर एक एक करके

सब उस के विरुद्ध होते चले जा रहे थे। खानखानां बड़ी चालाकी से इस वैमनस्य की अग्नि को प्रज्वलित कर रहा था। यहाँ तक कि अमीरों ने सेनापति इखलास खाँ तक को क़ैद कर लिया और मुरतज़ा से कहा कि अंबर को पदच्युत कर के किसी दूसरे योग्य पुरुष को पेशवा व वकील नियत करे। इन लोगों ने इधर शाहज़ादा परवेज़ और खानखानां के पास भी प्रार्थना-पत्र भेजे। इन में से कुछ को खानखानां ने अच्छी जागीरें दीं और कुछ को अच्छे मंसब दिए। अपनी शक्ति को क्षीण होते देख कर अंबर ने आदिलशाह से विनय की कि वह मुल्ला मुहम्मद लारी को भेज दे कि वह आकर परस्पर की फूट को मिटा दे। मुल्ला जी आए तो, परंतु जिस उद्देश्य से वह बुलाए गए थे उस की पूर्ति नहीं हुई, बल्कि अंबर की फौज पर उन की उपस्थिति का उलटा ही प्रभाव पड़ा। हबशी अमीर तो लालच में फँसे थे, वह भला क्यों कर कहना मान सकते थे? दूसरे जब उन्हों ने देखा कि मुल्ला जी और मुग़ल उप-सेनापति में मित्रता है तो वह और भी निडर हो गए। यह बात देख कर अंबर को भी संदेह होने लगा और उस ने आदिलशाह को लिख भेजा कि मुल्ला जी को बुला लें। कहते हैं कि जब मुल्ला जी वापस जा रहे थे तो रास्ते में मुग़ल सेनापति शाहनवाज़ खाँ और उस के भाई दाराब खाँ ने पालकी के समीप आ कर उन को प्रणाम किया। इस सम्मान का प्रायश्चित्त मुल्ला जी को बीजापूर पहुँच कर करना पड़ा। वहाँ उन की सब जागीरें छीन ली गईं और वह दो वर्ष तक बेकार बैठे रहे। यह सब अंबर को प्रसन्न करने के लिए किया गया था।

विद्रोही हबशी अमीर प्रति दिन मुग़ल उप-सेनापति से यही प्रस्ताव करते थे कि वह अंबर से युद्ध आरंभ कर दे। बहुत सोच समझ कर शाहनवाज़ खाँ ने इस बात को स्वीकार किया और अहमदनगर में प्रवेश किया। लड़ता झगड़ता पटन तक तो पहुँच ही गया; यहाँ उस ने पड़ाव डाल दिया। शीघ्र ही चरों ने आकर समाचार दिया कि अंबर भी ४०,००० सिपाहियों का दल-बादल लिए हुए इसी ओर बढ़ा चला आ रहा है। शाहनवाज़ का पड़ाव बहुत ही सुरक्षित स्थान में था क्योंकि उस के चारों

ओर नदी बह रही था, इस लिए वह जरा भी भयभीत नही हुआ दूसरे दिन अबर आ ही पहुँचा बडी ही घमासान लडाई हई अबर की सना छिन्न भिन्न होगई और स्वयं उस को भी मैदान से भागना पड़ा। शत्रु ने खिरकी पर, जो अब निजामशाही राजधानी थी आक्रमण कर दिया, और वहाँ के समस्त विशाल भवनों व महलों को तोड़ फोड़ डाला। अबर बेचारा यह सब देखता रहा, ऐसी दशा मे कर ही क्या सकता था। इस अवसर पर 'तज्किरतुल-मुलूक' का लेखक भी अहमदनगर में अंबर की फ़ौज मे मौजूद था। उसी ने यह तमाम ब्योरा दिया है। मुग़ल आक्रमण और अमीरों के विद्रोह का परिणाम यह हुआ कि नवजीवित रियासत के हाथ से मुल्क का बहुत सा भाग निकल गया और मुग़लों की विजय पताका लहराने लगी। खानखानां भी अब अपना सिर ऊँचा कर सकता था।

अहमदनगर की यह क्षणिक दुर्दशा हो ही रही थी कि शाहज़ादा खुर्रम भी अपनी सेना ले कर दक्षिण आ पहुँचा। बीजापूर व गोलकुडा ने डर कर सधि कर ली। विवश हो कर अंबर ने भी अपना मस्तक झुका दिया। उमड़ती हुई आँधी के सामने आ कर कौन अपने प्राण देता? परंतु शाहज़ादा के वापस जाने के बाद अंबर ने फिर अपनी चाले चलना आरंभ कर दी। १५२० ई० में उस सधि का जो चार वर्ष पहले मुग़लों के साथ की थी उल्लंघन किया। अहमदनगर और बरार का अधिक भाग फिर से उस के हाथों में आ गया और मुग़लों को मुँह की खानी पड़ी। खानखानां तो बहुत ही लज्जित हुआ, यहाँ तक कि रो पड़ा। जहाँगीर को लिख भेजा कि यदि शीघ्र सहायता न आई तो वह जान दे देगा। विवश हो कर सम्राट् ने शाहजहाँ को दूसरी बार दक्षिण भेजा। आते ही उस ने फिर मैदान मारा। बीजापुर व गोलकुंडा को अपनी तरफ़ तोड़ कर अबंर को अकेला कर दिया। अत में १६२१ ई० में तीनों रियासतों ने संधि कर ली और बीजापुर ने अठारह लाख, गोलकुडा ने बीस लाख और अहमदनगर बारह लाख कर देना स्वीकार किया। इस के थोड़े दिनों बाद शाहजहाँ ने अपने पिता की आज्ञा का उल्लंघन किया और विद्रोही हो गया। इस अवसर पर अबंर

ने जो नीति बरती उस का सविस्तर हाल डाक्टर बेनी प्रसाद के 'जहाँगीर' नामक ग्रंथ मे लिखा हुआ है। यह आंदोलन अहमदनगर के लिए लाभ-दायक ही हुआ। क्योंकि जब साम्राज्य की सारी शक्ति शाहजहाँ को परास्त करने में लगी थी तब अंबर को अपने खोए हुए वैभव की प्राप्ति का अच्छा अवसर मिला। अहमदनगर की स्वतंत्रता की पताका फिर से लहराने लगी। इस के लिए वह अंबर का ही ऋणी था। उस ने एक ओर तो बीजा-पुर को नीचा दिखाया और दूसरी ओर भागे हुए शाहजादा शाहजहाँ को आश्रय दे कर अपनी उदारता का परिचय दिया। इस प्रकार उस ने सारा जीवन अहमदनगर की सेवा में ही बिताया और उस को पुनरुज्जीवित करके १६२६ ई० में स्वर्ग की राह ली। सत्य तो यह है कि दक्षिण के इतिहास में इस का नाम सुनहरे अक्षरों में लिखे जाने के योग्य है।

राजस्थानी का दूहा छंद

[लेखक—श्रीयुत नरोत्तमदास स्वामी, एम० ए०]

दोहा उत्तरकालीन अपभ्रंश का एक प्रमुख छंद है। अपभ्रंश-काल में उस का प्रयोग समस्त देश के साहित्य में पाया जाता है। राजस्थानी, गुजराती, और हिंदी का वह सब से महत्त्वपूर्ण छंद है। इन भाषाओं के साहित्य में जितना प्रयोग इस छंद का हुआ है उतना शायद ही किसी अन्य छंद का हुआ हो। सुदूर बिहार-प्रांत के वज्रयानी बौद्ध-सिद्धों की रचना में भी इस का प्रयोग मिलता है। इस छंद का संबंध आरंभ में लोक-कविता[1] से था, ऐसा जान पड़ता है; क्योंकि पुरानी अपभ्रंश की कविता में इस का प्रयोग नहीं मिलता। हिंदी और गुजराती भाषा-भाषी प्रांतों की ग्रामीण जनता में आज भी इस छंद का बहुत प्रचार है। जनता में प्रचार पाने के बाद इस छंद ने साहित्य में भी प्रवेश किया।

लिखित साहित्य में इस छंद का सबसे प्रथम प्रयोग वज्रयानी बौद्ध सिद्ध सुरह पा की रचनाओं में पाया जाता है[2]। सुरह पा का समय विक्रम की नवीं शताब्दी का प्रथम भाग है। इस के बाद ग्यारहवीं शताब्दी के अंत में माहेश्वर सूरि की 'संयम-मंजरी' नामक पुस्तक में इस का प्रयोग मिलता

---

१ Folk Poetry.

२ जह मन पवन न संचरइ, रवि ससि नाह पवेस।
तहि वट चित्त विसाम करु, सरहे कहिअ उवेस॥

—डा० हरप्रसाद शास्त्री के 'बौद्धगान ओ दोहा' में संग्रहीत।

है। प्राचीन दोहों का सब से बड़ा संग्रह हेमचंद्र के प्राकृत-व्याकरण के अप-भ्रंश-भाग मे है। वे दोहे हेमचंद्र की अपनी रचनाएँ नहीं हैं किंतु वे उस समय जन-समाज में प्रचलित थे और उन्हीं का संग्रह हेमचंद्र ने कर दिया है। हेमचंद्र के बाद तो दोहा छंद सब छंदों में प्रमुख बन गया।

उत्तर-कालीन लेखकों ने दोहा शब्द की उत्पत्ति संस्कृत शब्द 'दोग्धक' से की है। हेमचंद्र के व्याकरण मे उद्धृत दोहों की एक संस्कृत टीका दोग्धक-वृत्ति या दोधकवृत्ति के नाम से मिलती है। उस से भी यही सूचित होता है। पर वास्तव मे दोहा की उत्पत्ति 'दोग्धक' या 'दोधक' शब्द से नहीं हुई है। बाद के विद्वानों ने दोहा शब्द को शुद्ध करके संस्कृत 'दोग्धक' या 'दोधक' बना लिया है, जिस प्रकार देशी चड धातु से संस्कृत चट् धातु बना डाली और फिर चड को चट् से निकली हुई बता दिया। संस्कृत 'द्विधा' शब्द का प्राकृत मे दोहा रूप बनता है। हमारी सम्मति मे यह 'द्विधा' शब्द ही दोहा शब्द का मूल है। दोहा छंद द्विधा, अर्थात् दो प्रकार से यानी दो पंक्तियों में, लिखा जाता है अतः उस का नाम ही धीरे-धीरे दोहा पड़ गया, ऐसा जान पड़ता है।

राजस्थानी का दूहा छंद हिंदी का दोहा ही है। हिंदी में दोहा एक ही प्रकार का होता है पर राजस्थानी पिंगल मे उस के चार भेद किए गए हैं। सोरठा भी राजस्थानी में दूहे के अंतर्गत ही माना गया है। दूहा छंद के चार भेद नीचे लिखे अनुसार हैं—

१. दूहो।
२. सोरठियो या सोरठो।
३. बड़ो या अंतमेल दूहो।
४. तूँवेरी दूहो या मध्यमेल दूहो।

(१) पहले भेद को दूहो ही कहा जाता है, उस का कोई अलग नाम नहीं है। उस के लक्षण हिंदी के दोहे से मिलते हैं अर्थात् पहले और तीसरे चरणों मे तेरह-तेरह तथा दूसरे और चौथे चरणों मे ग्यारह-ग्यारह मात्राएँ होती हैं और दूसरे और चौथे चरणों का तुक मिलता है।

उदाहरण

किय हूकल चंचल कुलल, गइ आँधक गडक्क ।
दरस्यउ सरि सुरिताण-दल चलचल ग्यारे चक्क ॥

—राउ जइतसीरउ छंद ।

धमके जंगी ढोल , सुरणाई बाजै सरस ।
घुरै दमामा घोर , सिंधूड़ा ढाढी चवै ॥

—गोरा-बादलरी बात ।

(२) दूसरे भेद का नाम सोरठियो दूहो है । हिंदी में इसे सोरठा कहते हैं । यह भेद आरम्भ में सोरठा या सौराष्ट्र (आधुनिक काठियावाड़) प्रांत में प्रचलित हुआ । सौराष्ट्र के कवि हो उस का विशेष प्रयोग करते थे । अतः सोरठ के नाम पर यह सोरठियो दूहो कहलाया । राजस्थानी-साहित्य मे दूहे के सब भेदों मे यह सर्वश्रेष्ठ माना जाता है, जैसा कि प्रसिद्ध है—

सोरठियो दूहो भलो , भलि मरवणरी बात ।
जोबण-छाई धण भली , तारॉ-छाई रात ॥

अर्थात्—दूहों में सोरठियो दूहो अच्छा होता है, कथाओं में ढोला—मारवणी कथा अच्छी है, स्त्रियों में यौवन से छाई स्त्री होती है और रातों मे तारों से भरी रात अच्छी होती है ।

करुण, वीर और शृंगार के वर्णन के लिए, विशेषतः करुण के वर्णन के लिए, यह सोरठिया दूहा बड़ा ही उपयुक्त छंद है । राजस्थानी में ऐसे भाव-पूर्ण स्थानों में इसी का प्रयोग मिलता है । हिंदी मे इस का प्रयोग विशेष नहीं पाया जाता । राजस्थान में राजिया, किशनिया, बीजरा, जेठवा, नागजी, नाथिया, मोतिया आदि के सैकड़ों सोरठिये दूहे आज भी लोगों की जिह्वा पर मिलते हैं ।

इस के लक्षण हिंदी के सोरठे से मिलते हैं अर्थात् पहले और तीसरे चरणों में ग्यारह-ग्यारह, तथा दूसरे और चौथे चरणों मे तेरह-तेरह मात्राएँ होती हैं और तुक पहले तथा तीसरे चरणों का मिलता है ।

उदाहरण

टोळीसूँ टळताँह, हिरणा मन माठा हुआ।
वाला वी छड़ताँह, जीवै किण विध, जेठवा ॥
जळ पीधो जाडेह, पाबासररे पावटे।
नैनकिये नाडेह, जीव न धापै, जेठवा ॥
आसी सावण मास, दरखा रुत आसी वळे।
साईनाँरो साथ, वळे न आसी, वींजरा ॥

—राजस्थानी सुभाषित।

३) तीसरे भेद का नाम वडो दूहो है। इस का प्रयोग हिंदी में नहीं इस के पहले और चौथे चरणों मे ग्यारह-ग्यारह, तथा दूसरे और रणों में तेरह-तेरह, मात्राएँ होती हैं और पहले तथा चौथे चरणों का ता है। दोनों छोर (अर्थात् आदि और अंत) के चरणों का तुक मिलने ंतमेळ दूहो भी कहते हैं। युद्ध-वर्णन में इस का प्रयोग विशेष हुआ है।

उदाहरण

मसतकि बाँधे मौड़, धारे भुज हिंदू-धरम।
मेछ-घडा दिसि मल्हपिओ, रतनागिर राठौड़ ॥

—राव रतनसीजीरी वचनिका।

तोड़े खगि तुरकाण, रिणपड़ि ऊपडिओ रुघौ।
भाटी भला भमाड़िया, जेसळगिर जोधाण ॥

—राव रतनसीजीरी वचनिका।

माथो धोई मेटि, ऊभी सूरजि साँमुही।
मोहण बेली मारुई, ताह उपन्नी पेटि ॥

—ढोला मारवणीरा दूहा।

(४) चौथे भेद का नाम तूँवेरी दूहो है। इस का प्रयोग भी हिंदी में ा है। यह बड़े दूहे का उलटा है। इस के पहले और चौथे चरणों में ह, तथा दूसरे और तीसरे चरण में ग्यारह-ग्यारह, मात्राएँ होती हैं ूरे और तीसरे चरणों का तुक मिलता है, मध्य के दो चरणों का तुक

मिलने से इसे मध्यमेल दूहा भी कहते हैं इस का प्रयोग राजस्थानी साहित्य में भी कम हुआ है

उदाहरण

राम चरण जुग रूप अं, सह वरणाँ सिर ताज ।
रहै मुकट-मण राज, आखर अवरां ऊपरै ।।

—रघुनाथ-रूपक ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दूहे के प्रत्येक भेद में उस के चार चरणों में से, दो में तेरह-तेरह, और दो में ग्यारह-ग्यारह, मात्राएँ होती हैं। उन के उलट-फेर से ही ये विभिन्न भेद बनते हैं।

यह भी ध्यान रखने योग्य है कि तुक सदा ग्यारह-ग्यारह मात्राओंवाले चरणों का ही मिलता है।

नीचे दूहे के सब भेदों का कोष्टक दिया जाता है—

दूहे का कोष्टक

भेद का नाम	हिंदी नाम	मात्राएँ				तुक किस-किस चरण का मिलता है।
		पहला चरण	दूसरा चरण	तीसरा चरण	चौथा चरण	
१. दूहो	दोहा	१३	११	१३	११	२।४
२. सोरठियो दूहो (सोरठो)	सोरठा	११	१३	११	१३	१।३
३. बडो दूहो (अंतमेल दूहो)	×	११	१३	१३	११	१।४
४. तूँवेरी दूहो (मध्यमेल दूहो)	×	१३	११	११	१३	२।३

रवींद्रनाथ ठाकुर की चित्रकला

[लेखक—श्रीयुत रामचंद्र टंडन, एम० ए०, एल्-एल्० बी०]

सन् १९२८ ई० में, रवींद्रनाथ ठाकुर ने सारे ससार को आश्चर्य में डाल दिया। सन् १९१३ में आप को अपनी साहित्य-सेवा के उपलक्ष मे प्रसिद्ध नोबेल पुरस्कार प्राप्त हुआ था। तब से आप की ख्याति मे उत्तरोत्तर वृद्धि होती रही है। आप ने इस बीच अनेक मौलिक तथा अनूदित ग्रंथ प्रकाशित किए और यह बात आप की अद्भुत साहित्यिक कार्यशीलता की परिचायक है। आप की प्रतिष्ठा एक साहित्यिक होने तक सीमित न रही; धीरे धीरे आप हमारे युग के एक विचारक और ऋषि गिने गए। परंतु कौन जानता था कि यह वृद्ध कवि अपने भीतर एक और गुण छिपाए हुए है और वह है रेखा तथा रंगों—अर्थात् चित्रकला—द्वारा एक नए जगत की रचना करने की सामर्थ्य! कवि अपना बहुत सा समय चित्रों के खींचने मे व्यतीत कर रहा है, यह बात लोगों से छिपी हुई थी। और जब तक यह आकस्मिक सूचना न मिली कि कवि अपने सैकड़ों चित्र पेरिस में प्रदर्शित कर रहा है, यह बात बहुत सफलता-पूर्वक गुप्त रक्खी गई। एक जगत्-प्रसिद्ध कवि का, कला के क्षेत्र में, वह भी ६७ वर्ष की परिपक्व अवस्था में, अवतीर्ण होना, कला और साहित्य दोनों ही के इतिहास में एक बिल्कुल नवीन घटना है। यह घटना बिना रसज्ञों का ध्यान आकर्षित किए नहीं रह सकती थी, और इस ने वास्तव मे पूर्व और पश्चिम दोनों ही दिशा के देशों में, कला के पारखियों का ध्यान आकर्षित किया भी है। यह घटना इस बात का भी एक

प्रस्तावना

नवीन उदाहरण है कि समय की गति ने कवि के रचनात्मक उत्साह को मंद नहीं पड़ने दिया है और इस वृद्धावस्था में भी उस में युवावस्था की स्फूर्ति शेष है। अब तो रवींद्रनाथ की चित्रकला के नमूने यूरोप की प्रायः सभी बड़ी राजधानियों में तथा कलकत्ते में प्रदर्शित हो चुके हैं और सर्वत्र न केवल इन की यथेष्ट चर्चा हुई है वरन् कलाविदों में इन्हों ने बड़ा मनोरंजन तथा कुतूहल उत्पन्न किया है। प्रश्न यह उठता है कि इन चित्रों के विषय में हम क्या समझें। क्या इन्हें हम एक क्रीड़ाशील प्रकृति का अनायास प्रयत्न मात्र खयाल करें, अथवा इन्हें एक नया माध्यम समझें जिस के द्वारा कवि संसार को अपना संदेश देना चाहता है ?

इन प्रश्नों का उत्तर देने से पूर्व यह देखना आवश्यक है कि इस चित्रकला की सृष्टि कैसे हुई।

कवि की चित्रकला का प्रारंभ

इस संबंध में दो भिन्न मत हैं। एक तो यह कहता है कि कवि ने इस कार्य के लिए पूरी पूरी तैयारी कर ली थी, तब इसे आरंभ किया। इस प्रकार का मत कवि के कुछ चेले और प्रशंसक प्रस्तुत करते हैं। कलकत्ता गवर्नमेंट आर्ट स्कूल के प्रिंसिपल श्रीयुत मुकुल दे[1] बताते हैं कि कवि की चित्रकला में दिलचस्पी बहुत पुरानी है। सन् १९०७ से तो अवश्य कवि को चित्रकला से विशेष प्रेम है। यही नहीं, सन् १९१३ में, रामगढ़ की पहाड़ यात्रा के अवसर पर कवि ने कुछ चित्र बनाए थे, जो दे महोदय के पास सुरक्षित हैं। इस के अतिरिक्त दे महोदय ने कवि के कला-प्रिय पूर्व-पुरुषों की ओर भी ध्यान दिलाया है। लखनऊ के गवर्नमेंट स्कूल अव् आर्ट के प्रिंसिपल श्रीयुत असितकुमार हल्दार जो कवि के एक दूसरे चेले हैं कवि के चित्रों में उन सभी गुणों का अनुभव करते हैं जो कवि की कविताओं में। उन का कहना है कि—"कवि की लेखनी जिस सौंदर्य और उद्भ्रांति की सहज

[1] 'एग्ज़िबिशन अव् ड्राइंग्ज़ बाइ रवींद्रनाथ टैगोर', भूमिका, पृ० ४
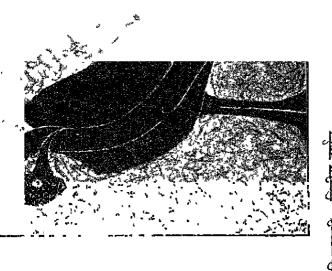
कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर की चित्रकारी—द्वितीय दर्शन

सृष्टि करती है, उस की उस समय पुनरावृत्ति हो जाती है जब वह अपनी तूलिका ग्रहण करता है।"[1] इस प्रकार यदि हम इन कला-विदों के मतों को ग्रहण करें तो हमें यह मानना पड़ेगा कि रवींद्रनाथ की चित्रकला न केवल इस दृष्टि से पूर्ण ठहरेगी कि वह कवि कि शिक्षा और तैयारी का परिणाम है वरन् इस दृष्टि से भी कि कवि की रचनाएँ वास्तव में बहुत सुंदर हुई हैं।

इस के प्रत्युत दूसरा मत—और यह मत डाक्टर आनंद कुमार-स्वामी[2] ऐसे बड़े कला के समालोचक का है—कवि की तैयारी की नितांत उपेक्षा करता है। कवि की चित्रकला-संबंधी शिक्षा को वह कोरी निर्धारित करता है। कवि के चित्रकला के नमूनों को यह 'बालोपम' कृतियाँ समझता है और उन्हें कवि की क्रीड़ाशील कल्पना के परिणाम ठहराता है।

कवि, जैसा कि हम उसे जानते हैं, अपने जीवन में अथक रूप से सदा नए माध्यमों की खोज करता रहा है। साहित्य के क्षेत्र में ही उस ने कविता, नाटक, निबंध, गल्प, उपन्यास, गद्य-गीत इत्यादि अनेक माध्यमों में अभ्यास किया है। कहा जाता है कि संगीत और नृत्यकला के क्षेत्रो में भी कवि ने कुछ नवीन रागों तथा मुद्राओं की सृष्टि की है। अभी पिछले वर्ष ही यह सुनने में आया था कि कवि मूर्तिकला का अभ्यास कर रहा है। अतएव कवि के चित्रकला-विषयक प्रयोग मुझे एक नए माध्यम की खोज मात्र मालूम पड़ते हैं और इन के द्वारा वह अपनी रचनात्मक स्फूर्ति का निदर्शन कराना चाहता है। भेद केवल इतना ही है कि साहित्य के क्षेत्र में तो वह एक उद्देश्य लेकर उठता है और उस की पूर्ति मे प्रयत्नशील होता है, चित्रकला मे वह अपने आप को बहने देता है। उस का कोई उद्देश्य नहीं। वह आकस्मिक सृष्टि की शरण लेता है। परंतु इस के विषय मे हम विशेष आगे कहेंगे।

हमें स्वयं चित्रों पर विचार करना चाहिए।

कवि ने अपने प्रारंभिक चित्र, बंगाली रचनाओं की सुलिखित हस्त-

---

[1] 'रूपलेखा', जिल्द ३, अंक १०-११, पृष्ठ ७।

[2] 'रूपम्', संख्या ४२-४३-४४, पृष्ठ ३१।

लिखित प्रतियों पर अंकित किए थे रवीन्द्रनाथ की बँगला लिखावट अपनी सुघरता के लिए विशेष प्रसिद्ध है इन हस्तलिखित प्रतियों पर जब काट छाँट कर सुधार किए जाते तो निश्चय ही उन की सुंदरता में बहुत अंतर पड़ जाता। हस्त-लिखित प्रतियों पर बने हुए काट-छाँट के चिह्न कवि को बहुत खटकते और इन के द्वारा उसे सौष्ठव का हनन होता जान पड़ता। इन भद्दे चिह्नों को सौष्ठव प्रदान करने की इच्छा और चिंता कवि को हुई। और कवि ने इस क्रिया में जो रेखाएं खींचीं उन्हीं द्वारा कवि के प्रथम चित्रों का जन्म हुआ।

इस सौष्ठव-संबंधी प्रेरणा के विषय में जो कवि के अंतर में जाग्रत हुई, कवि आप लिखता है—

"बाल्य काल से मेरी जो एक मात्र शिक्षा हुई वह संगति की शिक्षा थी—यह संगति चाहे विचार की संगति हो, चाहे ध्वनि की। मैं ने यह सीखा था कि संगति उस वस्तु को जो अव्यवस्थित हो, और स्वयं तुच्छ हो, एक वास्तविकता प्रदान कर देती है। इस लिए जब मेरी हस्तलिखित प्रतियों के खरोंचे, अपराधियों की भाँति मुक्ति के लिए चिल्लाए और मेरे नेत्रों को अपनी असंगति के दोष से त्रस्त करने लगे, तब मैं ने बहुधा अपने प्रत्यक्ष कार्य की अपेक्षा उन्हें सौष्ठव की पूर्णता प्रदान करने में अधिक समय लगाया।"[1]

हस्त-लिखित प्रतियों के शोध बहुधा एक से अधिक आड़ी लकीरों के रूप में होते और उन काली पंक्तियों के बीच में सफेद रेखाएं रहतीं। कवि साधारणतः इन स्थलों को दूसरी लकीरों से घेरा देता और तब काट-छाँट के चिह्न, कागज के पृष्ठ पर फैले हुए अनेक द्वीपों की भाँति दिखाई देने लगते। इन में से प्रत्येक का आकार तथा रूप भिन्न होता। अब यदि यह द्वीप-समूह आपस में जोड़ दिया जाय तो उस से कई प्रकार के रूपों के निकल आने की संभावना होती। कवि मानो किसी गुप्त और रहस्यमयी प्रेरणा द्वारा इन अनेक रूपों में से केवल एक ऐसे रूप की कल्पना करता जो उस की बुद्धि में

---

[1] 'रूपम्', संख्या ४२-४३-४४, पृष्ठ २७ पर उद्धृत।
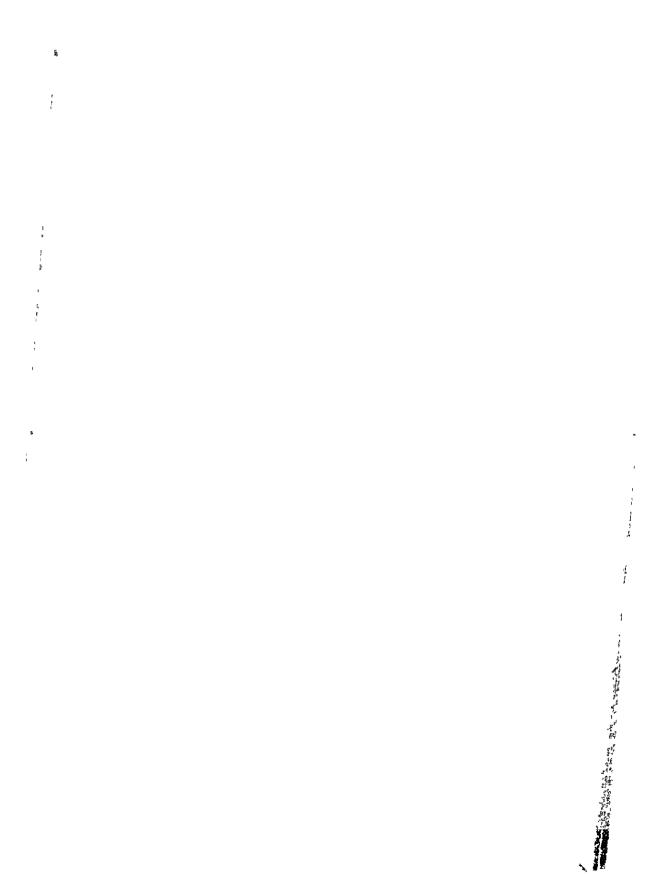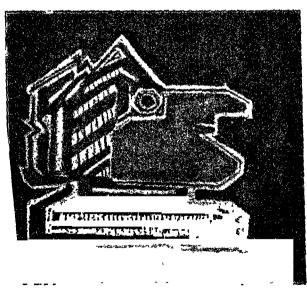
कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर की चित्रकारी—द्वितीय दर्श
(चित्रकार के अनुग्रह से

इन सब में स्पष्ट होता, अथवा यों कहिए कि स्वयं अधिकांश अंकित होता और संकेत मात्र पाने पर प्रकट हो जाता। इस संकेत का प्रस्तुत करना कवि का कार्य होता। इस क्रिया में कवि का एक मात्र यही उद्देश्य होता कि पृष्ठ भर पर फैले हुए शोध-चिह्नों का भद्दापन जाता रहे और यह आपस में इस प्रकार संबद्ध हो जायँ कि उन की स्थित में असंगति न रह जाय वरन् उन में एक प्रकार का मेल स्थापित हो जाय। इस उद्देश्य को मन में रख कर और उस सौष्ठव-संबंधी प्रेरणा में विश्वास रखते हुए कवि बड़ी शीघ्रता से अपनी तूलिका चलाता। इस रचना में कभी कभी अत्यंत सुंदर रूप निकल आते जो प्राकृतिक रूपों के अनुकरण जान पड़ते। परंतु निरूपण के उद्देश्य से कवि अपने चित्रों की रचना न करता। स्फुट, आकस्मिक स्थितियों के समूह में से, वह अपनी सौष्ठव प्रदान करने वाली रेखावलियों द्वारा ऐसी ऐसी आकृतियाँ तथा चित्र बना सका है जिन के अंतिम रूप की स्वयं उसे कोई कल्पना न थी। उस की क्रिया द्वारा उन रूपों और आकारों को जन्म मिला जो मानो जन्म पाने की प्रतीक्षा में पहले से बैठे रहे हों।

कवि के चित्रकला-संबंधी रचनात्मक कार्य का यह तो प्रारंभिक रूप रहा। इसे उस की चित्रकारी का प्रथम दर्शन कह कर निर्दिष्ट किया जाय तो अनुचित न होगा। यह बात स्पष्ट हो गई होगी कि कवि बाह्य जगत के विशेष पदार्थों की सरूपता उत्पन्न करने का कोई प्रयत्न नहीं करता। उस की कला का उद्देश्य निरूपण नहीं। अपनी रचनात्मक स्फूर्ति को वह भाग्य या दैवयोग का आश्रय लेने देता है। इस से अधिक कुछ नहीं, कवि के भीतर हम एक ऐसी प्रेरणा देखते हैं जो स्फुट, अव्यवस्थित वस्तुओं और चिह्नों को संगति तथा सौष्ठव प्रदान करना चाहती है।

कवि की कला के आने वाले विकास पर ध्यान देने से पूर्व क्षण भर के लिए, कवि के, स्वयं अपनी कला-विषयक सिद्धांत पर भी ध्यान देना असंगत न होगा। वह लिखता है कि—

कवि का अपनी कला के संबंध में सिद्धांत

"इस उद्धार के कार्य में तत्पर रहते हुए मैं एक गहन तत्व की खोज कर सका हूँ। वह यह कि

आकृतियों के विश्व में रसाओं के सहज चुनाव की एक निरंतर क्रिया चल रही है इन रसाओं में जो सर्वोत्तम होती है वही जीवित रहती है अर्थात् जिस में स्वयं सौष्ठव का गुण है। और मैंने यह अनुभव किया कि इन अगेही, भिन्न-जातीयों की बेकारी समस्या का हल करना और उन में पारस्परिक समीकरण उत्पन्न करना स्वयं एक रचनात्मक कार्य है।'[1]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि कवि इस विश्व में आकस्मिक, स्फुट, विरोधी आकृतियों की स्थिति स्वीकार करता है और उन के समीकरण तथा सुंदर परिणति की संभावना में विश्वास रखता है। और इस परिणति में सहायता पहुँचाने के कार्य को स्वयं रचनात्मक कार्य समझता है। इस दृष्टि से विचार करने पर रवींद्रनाथ का कार्य एक ऐसा महत्त्व धारण कर लेता है जो कि उस की वास्तविक और प्रत्यक्ष सिद्धि से कहीं बढ़ कर है।

एक विषय और है जिस पर क्षण भर विचार कर लेना उचित होगा। वह यह कि कवि की चित्रकला तथा कविता में आपस में क्या संबंध है।

कवि की चित्रकला तथा कविता का संबंध

कवि ने स्वयं प्रसिद्ध फ्रांसीसी कला-समालोचक मुशेर बीदू से यह स्वीकार किया था कि इन दोनों में कोई संबंध नहीं है। कवि के रूप में उस के संमुख कोई कल्पना होती है, कोई मानसिक चित्र होता है, जिस का वह यथातथ्य चित्रण करता है या करने का प्रयास करता है। उदाहरणार्थ उस के सामने या उस की कल्पना में कोई वाटिका, दृश्य या मुखाकृति है। कवि इन्हें उसी प्रकार यथार्थ रूप में चित्रण करने का प्रयत्न करेगा जिस प्रकार कि चित्रकार करता। भेद केवल माध्यम का है। परंतु रवींद्रनाथ अपनी चित्र-कला में ऐसा नहीं करते। जिस समय वह चित्रकार बनते हैं उस समय वह नकल करने का कार्य छोड़ देते हैं। जैसा पहले कहा जा चुका है उन के चित्र उन की पूर्व-चिंतित मानसिक कल्पना के निदर्शन नहीं होते। अपने चित्रों के विषयों को पहिले से विचार लेना तो दूर रहा जिस समय कवि चित्रण के

---

[1] 'रूपम्', संख्या ४२-४३-४४, पृ० २८।
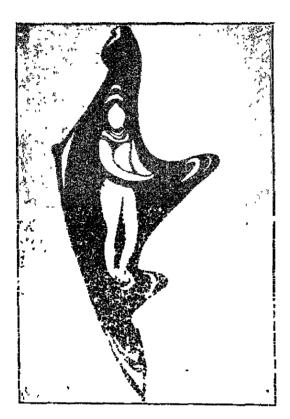
कविवर रवींद्रनाथ ठाकुर की चित्रकारी—द्वितीय दर्शन

(चित्रकार के अनुग्रह से)

कार्य में लगा रहता है उसे इस बात का पता नहीं रहता कि अमुक चित्र का अंतत: क्या रूप होगा। अतएव मुशेर बीद् के शब्दों में, "कविता की रचना करते समय तो वह (कवि) चित्रकार की भाँति कार्य करता है; और जब वह चित्रकार का कार्य करने बैठता है तो उसे कवि की भाँति करता है। उस की यह संपूर्ण कृति इन दो कलाओं या विज्ञानों की सीमांत-रेखा पर अवस्थित है।"[1]

अब देखना यह है कि कवि की चित्रकला का विकास किस भाँति होता है। इस विकास की दूसरी सीढ़ी क्या है? हम यह देखते हैं कि कवि पहिली सीढ़ी से विकास की दूसरी सीढ़ी पर बड़े वेग

चित्रकला का दूसरा दर्जा

से पहुँच जाता है। एक बार जब उस ने इस तत्व को स्वीकार कर लिया कि विश्व में आकस्मिक, स्फुट, और विषम आकृतियों का अस्तित्व है तो वह उन के उद्धार-कार्य में अपनी हस्त-लिखित प्रतियों तक सीमित नहीं रहता। वह इस क्षेत्र के बाहर भी अपनी इसी क्रिया में यत्नशील होता है। हस्तलिखित प्रतियों के शोधों को चित्रों में परि-वर्तित करने का धंधा कवि ने बहुत समय हुए छोड़ दिया। यह तो वह स्थान था जहाँ से उस ने कार्यारंभ किया था। सौभाग्यवश उसे अब अन्य आधार प्राप्त हो गए हैं जिन पर वह प्रयोग करता रहता है। परंतु उस की सब से अंतिम कृतियों में भी उस की प्रथम शैली के चिह्न मिलेंगे। अर्थात् प्रत्येक चित्रण के बीज-रूप या गर्भ-रूप आकस्मिक, स्फुट स्थितियाँ अवश्य होंगी। बीज-रूप कुछ ऐसे चिह्न अवश्य होते हैं। जिन के चारों ओर यह रचना की जाती है। उसे इस बीज की खोज रहती है। इस के मिल जाने पर उस का कार्य आरंभ होता है। कुछ अज्ञात नियम कार्य करने लगते हैं। वह बड़ी शीघ्रता से अपनी लेखनी या तूलिका चलाता है और एक नई सृष्टि होने लगती है। आरंभ में यह आकार पहचाने नहीं जाते। धीरे धीरे, चाहे अपने ही आंतरिक विकास के कारण, चाहे इस कारण कि जो प्रभाव उन्हें उत्पन्न कर रहा है वह स्वयं

[1] 'रूपम्', संख्या ४२-४३-४४, पृ० २८।

इस बाह्य जगत की स्मृति से अवलिप्त है, यह आकार, जिसे हम प्रकृति कहते हैं उस से कुछ समानता प्राप्त करने लगते हैं कभी उन में कोई मुखाकृति प्रकट हो जाती है, कभी उन में कोई आकार एक संभावित जंतु का रूप धर लेता है; कभी ऐसा भी होता है वह अस्पष्ट रह जाते हैं या यों कहिए कि वह अपने भाग्य का निर्णय नहीं कर पाते।

कवि की चित्रकला के इस दूसरे दर्शन में हम यह पाते हैं; कि उस की सौष्ठव अनुगामी प्रेरणा वस्तु-जगत के अनुभवों से संबद्ध हो गई है। यह विकास क्रमिक तथा स्वाभाविक है। प्रथम दर्शन के चित्रों का मूल्य शिल्प अथवा नक्शों के रूप में था; दूसरे दर्शन में, चित्रों में प्राकृतिक रूपों विशेषतया, जंतु-रूपों का प्राधान्य है। दोनों दर्शनों में कवि की प्रेरणा एक ही समान काम करती है। इस विकास का पूर्वाभास हमें उन चित्रों में ही मिल जाता है जो कवि ने १९३० में बर्मिंघम की सिटी आर्ट गैलरी में प्रदर्शित किए थे। उस समय कवि के चित्रकारी के जीवन का तीसरा वर्ष समाप्त न हुआ था। बाद के चित्रों में पहले की अपेक्षा सहजता में कमी है और ऐसा जान पड़ने लगता है कि कवि की रचना में निरूपण एक हेतु बन रहा है। हम यह बता चुके हैं कि १९२८ की रचनाओं में यह प्रवृत्ति नहीं मिलती। इस काल के उदाहरणों में हमें अज्ञात और संभावित जंतु-आकारों की बहुतायत मिलती है। कुछ मनुष्याकृतियाँ भी प्रकट होती हैं और यह आकृतियाँ यद्यपि सुंदर रेखाओं द्वारा प्रदर्शित हैं तथापि इन का मूल्य उन के शिल्प में है, प्रकृति की अनुरूपता में नहीं।

तीसरे या अंतिम दर्शन में हम कवि को प्रायः निरूपणात्मक चित्रकार के रूप में पाते हैं। उस की कृतियों में मानवी मुखाकृति प्रधान हो गई है।

तीसरा दर्शन

इस के अपवाद बहुत कम हैं। मनुष्याकृति कहीं अकेली कहीं समूह में प्राप्त होती है। कहीं कहीं बहुत बड़े समूह प्रकट होते हैं। चित्रण में विस्तार या प्रपंच की वृद्धि हो गई है। जिस मात्रा में कवि-चित्रकार में निश्चय की वृद्धि हुई उसी मात्रा में सहजता का ह्रास हुआ है। प्राकृतिक दृश्य भी थोड़ी संख्या में
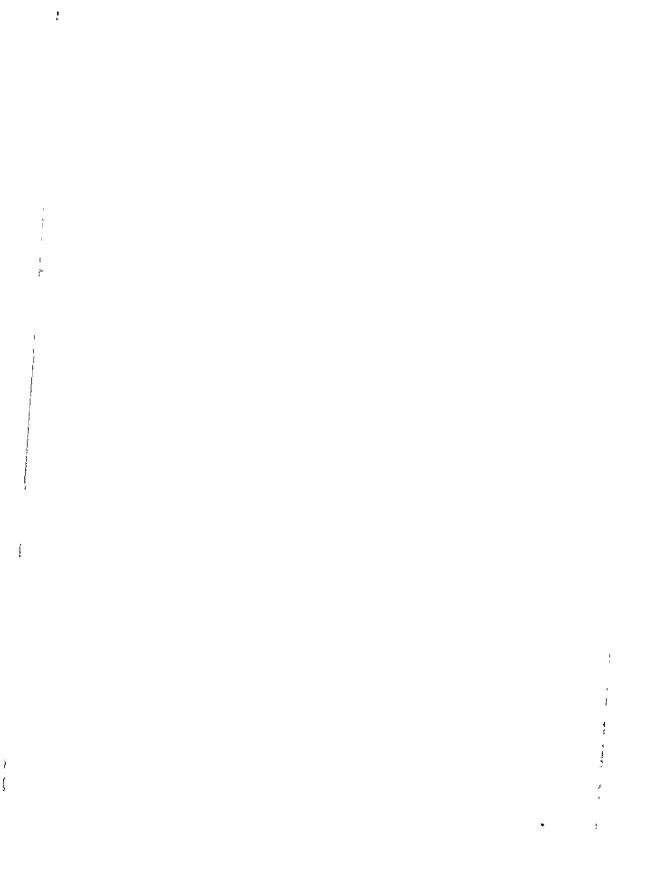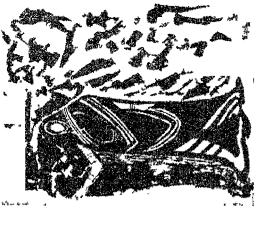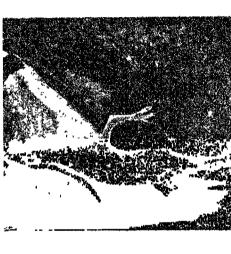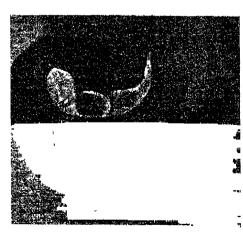
चित्रित हुए हैं। इन सभी चित्रों में पहले की अपेक्षा बाह्य जगत की अनुरूपता लाने का विशेष प्रयास दिखाई देता है। एक कौतूहल-पूर्ण विकास इस काल का यह भी है कि हमें ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिन में प्राकृतिक वस्तुओं के रूपों को बिगाड़ कर और मानवी आकृति को जान-बूझ कर वीभत्स रूप में दिखाने का प्रयास किया गया है। इस दर्शन के उदाहरणों में बड़ी विभिन्नता है और उन के वर्गीकरण का कार्य सहज नहीं बल्कि अधिकाधिक कठिन होता गया है।

यदि विचार-पूर्वक देखा जाय तो इस तीसरे या अंतिम दर्शन में भी कवि-चित्रकार की रचना-शैली में विशेष अंतर नहीं आया है। क्रमिक विकास अवश्य है परंतु चित्रकार अपना कार्य सदा एक आकस्मिक स्थिति या आकृति को बीज-रूप मान कर उस के इर्द-गिर्द करता है। यह बात भी पहले की भाँति ही है कि चित्रण कार्य में लगे रहते हुए वह चित्र की अंतिम परिणति की कल्पना नहीं करता। इस प्रकार इन तीनों दर्शनों में कवि अपने सिद्धांत-रूप विचारों से पृथक् नहीं जाता।

यह प्रश्न बहुधा पूछा जाता है कि अमुक चित्र का क्या अर्थ या तात्पर्य है? इस संबंध में कहना यह है कि जहाँ चित्रकार स्पष्ट रूप से निरूपण के उद्देश्य से चित्रण करता है वहाँ भी चित्रों के नाम-

चित्रों का अर्थ

करण में कभी कभी कठिनाई होती है। कारण यह कि चित्रकार की तूलिका से कभी कभी अकस्मात् ऐसे आकार प्रकट हो आते हैं जिन्हें वह बनाना नहीं चाहता। और इन अनायास रचनाओं पर उस का वश नहीं रह जाता। रवींद्रनाथ के यहाँ यह कठिनाई कहीं अधिक बढ़ जाती है। क्योंकि जैसा हम देख चुके हैं उन के चित्रण निरूपण के उद्देश्य से नहीं होते और इस प्रकार उन की सभी कृतियाँ अनायास कृतियों की श्रेणी में रक्खी जायँगी। किसी विचार या विषय का चित्रण कवि की चित्रकारियों का उद्देश्य ही नहीं, अतएव उन के अर्थ भी नहीं हैं। कवि की चित्रकला का यदि कोई मूल्य है तो वह उस की रेखाओं की सुंदरता का। कवि स्वयं यह स्वीकार करता है कि उस की रचनाओं में विचारों का

चित्रण नही है

बर्मिंघम सिटी म्यूजियम आर्ट गैलरी का आर कवि के चित्रों के प्रदर्शन के समय एक पुस्तिका प्रकाशित हुई थी। उस की भूमिका में रवींद्रनाथ ने लिखा है --

"मेरे चित्र रेखाओं की सहायता से की गई मेरी काविताएं हैं। यदि किसी कारण उन की स्वीकृति हुई तो वह कारण यह होना चाहिए कि उन में रूप की कोई विशेषता है, और सौष्ठव है जो स्थायी है, यह नहीं कि वह किसी विचार या वास्तविकता को चित्रित करते हैं।"[1]

इसी कारण कवि अपने चित्रों में शीर्षक नहीं देता।

सितंबर सन् १९३० मे कवि ने अपने चित्रों के प्रदर्शन के अवसर पर मॉस्को में एक वक्तव्य प्रकाशित किया था। वह भी महत्त्व-पूर्ण है। उस वक्तव्य मे कवि ने लिखा था—

"लोग बहुधा मुझ से मेरे चित्रों के अर्थ पूछते हैं। मैं अपने चित्रों की भाँति ही मौन रह जाता हूँ। वह अपने भाव स्वयं व्यक्त करते हैं; भावों की व्याख्या उन का उद्देश्य नहीं। अपने वाह्य रूप से विभिन्न वह कोई आशय नही रखते। यदि यह वाह्य रूप कोई स्थायी मूल्य रखता है तो वह ग्राह्य होते हैं, जीवित रहते है अन्यथा त्याग दिए जाते हैं और भुला दिए जाते हैं, चाहे उन में कोई वैज्ञानिक अर्थ निहित हो चाहे नैतिक तात्पर्य।"[2]

जिस समय कि रवींद्रनाथ से, अपनी कृतियों के नामकरण करने के लिए आग्रह किया जा रहा था, उस समय उन्हों ने बँगला मे एक पत्र 'माडर्न रिव्यू' के संपादक श्रीयुत रामानंद चटर्जी के पास भेजा था जिस का स्वतंत्र अनुवाद इस प्रकार है—

"चित्रों का नामकरण करना नितांत असंभव है। मैं कारण बताता हूँ। किसी विषय को सोच कर मैं चित्रण नहीं करता। अकस्मात् किसी

---

[1] 'रूपम्', संख्या ४२-४३-४४, पृ० २८।

[2] 'माडर्न रिव्यू', जनवरी १९३२, पृ० १६।
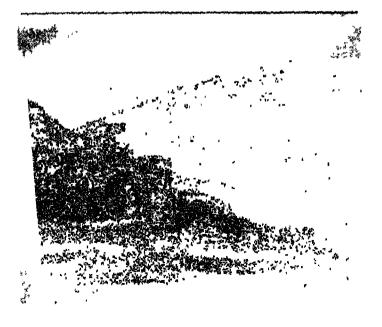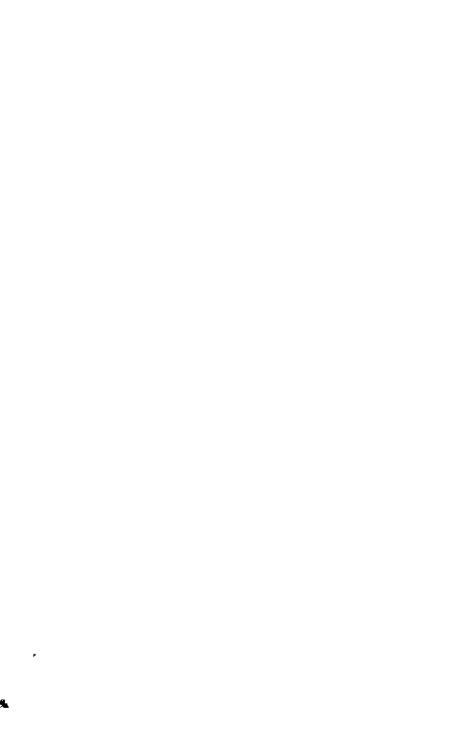
अज्ञानकुल की किसी वस्तु का आकार मेरी चलती हुई लेखनी की नोक पर प्रकट हो जाता है - जिस प्रकार कि राजा जनक के हल की नोक पर सीता का जन्म हुआ था। परंतु उस अकस्मात जन्मित शिशु के नामकरण का कार्य सरल था। विशेष कर इस लिए कि यह नाम किसी एक विषय का नहीं था। परंतु मेरी चित्र-पुत्रियाँ अनेक हैं। वह बिना बुलाई आई हैं। उन के नामों का खाता मैं कैसे बनाऊँ अथवा उन का वर्गीकरण मैं किस प्रकार करूँ ? मैं जानता हूँ कि जब तक किसी आकार के साथ एक नाम न जुड़ा हो तब तक उस से परिचय का संतोष नहीं होता। इस कारण मेरी सलाह यह है कि जो सज्जन इन चित्रों को देखें या लें उन का नामकरण स्वयं कर लें और इस प्रकार इन अनाथों को नामों की शरण दें।"[1]

इन स्पष्ट और बार बार कहे गए कवि-चित्रकार के वक्तव्यों के होते हुए भी उस के कुछ बंगाली प्रशंसक हैं जो कि इन चित्रों में अद्भुत और रहस्यमय अर्थ देखते हैं तथा दूसरों को दिखाने का प्रयत्न करते हैं। उदाहरणार्थ श्रीयुत मुकुल दे को लीजिए, जो कलकत्ता आर्ट स्कूल के प्रिंसिपल हैं और स्वयं भी प्रतिष्ठा-प्राप्त चित्रकार हैं। रवींद्रनाथ ठाकुर के चित्रों के एक अलबम की भूमिका में आप लिखते हैं

"यह सत्य है कि रहस्यवाद का एक भाव रवींद्रनाथ के अधिकांश चित्रों में व्याप्त है। परंतु एक बार यह परदा उठा कि उस का अर्थ दिन के प्रकाश की भाँति स्पष्ट हो जाता है।[2]

यह उदाहरण अकेला नहीं है। हम ने उन लोगों को जो कवि की रहस्यवादी साहित्यिक रचनाओं से परिचित हैं, इन चित्रों के विचित्र अर्थ लगाते देखा है। जो लोग कवि के वक्तव्यों से भी संतुष्ट न हों उन के विषय में क्या कहा जाय ? प्रसिद्ध कला-समालोचक डाक्टर आनंद कुमारस्वामी की सम्मति का इस संबंध में आश्रय लेना पड़ता है। आप लिखते हैं—

[1] 'माडर्न रिव्यु', जनवरी १९३२, पृ० ११६।

[2] 'एग्ज़िबिशन अव् पाइंटिंग्ज बाई रवींद्रनाथ टैगोर' की भूमिका, पृ० ७।

'रवींद्रनाथ एक बड़े और सुजान कवि तथा संसार के नागरिक हैं, जिन्हें व्यक्तिगत अनुभव द्वारा तथा एशिया और यूरोप के इतिहास की जानकारी द्वारा जीवन से परिचय प्राप्त है। केवल इसी कारण यह परिणाम निकालना कि उन की चित्रकारियाँ भी चातुर्यपूर्ण या गूढ़ हैं, उचित नहीं। उन में गुप्त आध्यात्मिक संकेतों का ढूँढना भूल होगी; वह इस लिए नहीं हैं कि गुप्त भाषा या पहेली की भाँति बूझी जायें।"[१]

हल्दार महोदय यथार्थ के अधिक निकट हैं जब वह कहते हैं कि -

"यह चित्र हमें एक रहस्यमय अंक की भाँति चकित करते हैं परंतु उन में कोई गहन दार्शनिक आशय नहीं है। न वह हमें कोई चित्रकला-संबंधी नवीन शिल्प-ज्ञान सिखाते हैं।"[२]

चित्रों के अर्थ के विषय में जो कुछ लिखा गया है वह पर्याप्त होगा। बात यह है कि जिस प्रकार इन चित्रों के नाम नहीं हैं उसी प्रकार उन के अर्थ भी नहीं हैं। उन का मूल्य जो कुछ है उन के आकारों की संगति और सौष्ठव में है, इस बात में नहीं कि वह किसी विचार को या आशय को व्यक्त करते हैं।

रवींद्रनाथ के शिल्प-ज्ञान के संबंध में विशेष कहने की आवश्यकता नहीं है। हल्दार का ऊपर उद्धृत वाक्य यह बताता है कि यह चित्र कोई नवीन शिल्प-ज्ञान नहीं सिखाते। वास्तव में कवि के चित्रों में शिल्प-विषयक अनेक दोष मिलेंगे। परंतु श्रीयुत मुकुल दे कवि के शिल्प-ज्ञान की भी बड़ी प्रशंसा करते हैं।

शिल्प-ज्ञान

उन का कथन है कि आधी सदी से अधिक काल तक संसार के सर्वश्रेष्ठ चित्रकारों के संपर्क द्वारा तथा अपने मनन द्वारा शिल्प-संबंधी सूक्ष्म ज्ञान कवि ने प्राप्त किया है।[३]

---

१ 'रूपम', संख्या ४२-४३-४४, पृ० ३१।

२ 'रूपलेखा', जिल्द ३, संख्या १०-११, पृष्ठ ११।

३ 'एग्ज़िबिशन अव् ड्राइंग्ज़ बाई रवींद्रनाथ टैगोर' की भूमिका, पृ० ८।

डाक्टर आनंद कुमारस्वामी की सम्मति अधिक तीव्र है। वह कहते हैं—

"यह प्रकट है कि कवि ने अपने दीर्घ जीवन में बहुत से चित्र देखे होंगे, परंतु कोई ऐसी बात नहीं है जो यह बतलावे कि उन में वह पैठे भी हैं।"[1]

उपसंहार

यह बात स्पष्ट हो गई होगी कि रवींद्रनाथ ठाकुर की चित्र-रचना का उद्देश्य किसी संदेश को प्रकट करना नहीं है। यह चित्र उन की रचनात्मक स्फूर्ति तथा क्रीड़ा-शील कल्पना के परिणाम हैं। यह भी प्रकट हो गया होगा कि इन का संबंध किसी चित्र-परंपरा से नहीं। उन का संबंध कवि के साहित्यिक कार्य से भी नहीं है। यह चित्र अपनी जगह पर बिल्कुल अलग है। न वह पूर्व की वस्तु हैं, न पश्चिम की। वर्तमान बंगाली शिल्प-शैली से, जिस के नेता कवि के भतीजे अवनींद्र तथा गगनेंद्र ठाकुर हैं, इस का संबंध जोड़ना भूल होगी।

आजकल यूरोप में कला के कुछ दायरों में आदिम चित्रकारियों की नकल करने की तथा उन के आभास लाने की चलन-सी हो गई है। परंतु वह बनावटी बातें हैं। रवींद्रनाथ के यहाँ हमें वास्तविक आदिम चित्रकारी के नमूने मिलेंगे। इन चित्रों की मौलिकता में कोई संदेह नहीं हो सकता। इन के अर्थ नहीं हैं इस लिए यह एक अर्थ में रहस्यमय भी हैं। यह कहा जा सकता है कि रवींद्रनाथ की रचनात्मक कृतियों में इन का मूल्य अवश्य है।

स्वतः इन रचनाओं का मूल्य अभी नहीं बताया जा सकता। जिस समय इन के मूल्य के आँकने का समय आवेगा, उस समय आशा है कि यह परीक्षा में सफल होंगी — न केवल इस लिए कि उन में मौलिकता है वरन् इस लिए भी कि वह रेखा तथा रंगों द्वारा वास्तविक सौंदर्य प्रकट करने में समर्थ हुई हैं।

---

[1] 'रूपम्', संख्या ४२-४३-४४, पृ० ३२।

फारसी लिपि में हिंदी पुस्तकें

[लेखक—श्रीयुत भगवद्दयाल वर्मा, एम० ए०]

दक्षिण भारत के पुस्तकालयों में मुझे कुछ पुस्तकें ऐसी मिली हैं जो फारसी लिपि में लिखी हुई हैं, परंतु उन की भाषा हिंदी है। उन हस्त-लिखित पुस्तकों पर जो उन के नाम, लेखक के नाम इत्यादि लिखे थे वह बहुधा यथार्थ-सूचक न थे, क्योंकि उर्दू, फ़ारसी जानने वाला सूची-कर्ता उन हिंदी वाक्यों को समझ नहीं सका था। हिंदी के शब्द जब फारसी लिपि में लिखे जाते हैं तो एक ही शब्द कई प्रकार से पढ़ा जा सकता है। उदाहरणार्थ, میں ही लीजिए—यह मैं, में, मीन और मियन आसानी से पढ़ा जा सकता है, और مدن को मंडल, मुंडन और मिडन पढ़ सकते हैं।

यह पुस्तकें उर्दू या फारसी लिपि में इस लिए लिखी गई थीं, कि बहुधा पढ़ने वाले गुण-ग्राहक विद्वान् मुग़ल बादशाहों के समय में फ़ारसी लिपि बहुत जल्दी पढ़ सकते थे, और हिंदी पढ़ने का मुहावरा उन्हें बहुत कम था। वह हिंदी के शब्दों के अर्थ तो जानते थे, परंतु नागरी लिपि आसानी से नहीं पढ़ सकते थे।

ऐसी पुस्तकों के पढ़ने का अभ्यास करने, उन्हें संग्रह करने तथा हिंदी में लिप्यंतर करने से कुछ लाभ हो सकेगा, ऐसी मेरी धारणा है। एक तो हिंदी के पुराने आश्रय-दाताओं व कवियों का पता चलेगा। यह भी बहुत संभव है कि कुछ ऐसी पुस्तकें मिल जायँ जो अब मूल नागरी में नहीं मिलतीं और अपने दूसरे वेष में जीवित हैं। कुछ शब्दों के उच्चारण पुराने समय में क्या थे इस का भी कहीं कहीं पता चलेगा। इस में संदेह नहीं कि इन पुस्तकों का साहित्यिक शोध करने में उतनी ही कठिनाइयों का सामना होगा जितना एक

धार्मिक सुधार में होता है। मैंने जो निम्न-लिखित उदाहरणों में लिप्यंतर किया है उस में त्रुटियाँ संभवतः रह गई हैं। पाठकों से प्रार्थना है कि विचार करके मतलब समझ लें।

ऐसी पुस्तकें बंबई, पूना और हैदराबाद (दक्षिण) के पुस्तकालयों में मिलती हैं। मैं इस लेख में दो तीन पुस्तकों का संक्षेप में दिग्दर्शन मात्र कराता हूँ।

पूना के 'भारत इतिहास संशोधक मंडल' की लायब्रेरी में एक पुस्तक 'अर्जुन-सुभद्रा-हरण' नामक है। इस में दोहे और चौपाइयाँ हिंदी भाषा में हैं, परंतु लिपि फ़ारसी है। दूसरी पुस्तक 'सूरसागर' है। आज कल हमारे 'सूर' की बिखरी हुई कविता को इकट्ठा करके एक शुद्ध संस्करण छापने का प्रयत्न यू० पी० में हो रहा है। ऐसे समय में कतिपय स्थानों पर मुक़ाबिला करने के लिए यह पुस्तक सहायता दे सकेगी।

बंबई की 'जामेअ मस्जिद' की लायब्रेरी में फ़ारसी लिपि में कई हिंदी पुस्तकें हैं। उन में से कुछ का विवरण यहाँ दिया जाता है—

एक पुस्तक के पृष्ठ पर नाम तो उर्दू में लिखा गया है—'रिसाला मौसीक़ी हिंदी', परंतु अंदर पढ़ने से यह पता लगा कि उस में एक पुस्तिका 'सुंदरशृंगार' नामक है, जिस के अंत में लिखा है 'इति श्रीमन् महाकवि-राजविरचितम् सुंदरशृंगार समाप्तम्।' इसी में 'रूपमाला' और 'राग सागर' पुस्तिकाएँ हैं। यह पुस्तकें मुग़ल बादशाहों की नीति पर रोशनी डालती हैं; इनकी कविता भी अच्छी है, इस लिए उन से कुछ छंद उद्धृत करना कदाचित् अनुचित न होगा।

वंदना

देवी पूज सरस्वती, पूजूँ हर के पाय।
नमस्कार कर जोर के, कहै महाकवि राय॥

शाहजहाँ की प्रशंसा

नगर आगरो बसत है, जमुना तट अस्थान।
तहाँ पातसाही करै, बैठो साहजहान॥

साहि यशो कवि सुख तनिन करें गुण वरनं जायं ।
ज्यूँ तारे सब गगन के, मुट्ठी में न समायँ ॥

भैरवीं का रूप

भैरों शशि[1] छवि, सिर जटा, सेत वसन, सिर नैन ।
मुंडन की माला गरें, सुद्ध[2] रूप, सुख दैन ॥

मालकोस का रूप

मालकोस नीलो वसन, सेत छरी है हाथ ।
मोतिन की माला गरे, रसिक सखिन के साथ ॥[3]

('रूपमाला' से)

बादशाह के पूर्व-पुरुष

जिन पुरखन के बंस में, उपज्यो साहिजहान ।
तिन साहन के नाँव को, अब कवि करें बखान ॥

('सुंदरसिंगार' से)

इस के आगे एक 'छप्पय' में, शाहजहाँ मुग़ल बादशाह, के पूर्वजों के नाम दिए हैं जो इतिहास-सिद्ध हैं, और शाहजहाँ के फरमानों की मुहरों में पाए जाते हैं। इस के आगे एक 'कवित्त तृभंगी लच्छन' दिया है, फिर दोहरे हैं—

साहजहाँ तिन्ह कविन को, दीनो अगणित दान ।
तिन में सुंदर सिव कवि को, कियो बहुत सन्मान ॥
नक[4] भूकन अंसब दए, हे हाथी सिर पाय ।
प्रथम देव 'कवि-राय' पद, बहुर 'महाकवि-राय' ॥

---

[1] यह शब्द 'शिव' भी पढ़ा जा सकता है ।

[2] यह शब्द 'सिद्ध' भी पढ़ा जा सकता है ।

[3] इस के आगे हिंडोल, दीपक, श्रीराग, मेघ इत्यादि रागों के रूप दिए हैं ।

[4] यह शब्द 'निक' भी पढ़ा जा सकता है ।

सिप्र ग्वालियर[1] नगर का, बासी है कविराज।
तासों साह मया करी, बड़े गरीब नवाज़॥
अब कवि को मन यों बढ़्यो तब फिर कियो बिचार।
बरनो नायक नायिका, किये ग्रंथ बिस्तार॥
सुंदर कुल सिंगार है, सकल रसन को सार।
तातें बरन्यो या ग्रंथ को फिर सुंदरसिंगार॥

('सुंदरसिंगार' से)

दोहरा

जो सुंदर सिंगार कों पढ़े गुने सुजान।
तिहि मानों संसार में कियो सुधा-रस पान॥
संवत सोरह सै बरस बीते अठतर सीत।
कातिक सुदि सतमी गुरौ[2], रच्यो ग्रंथ कर प्रीत॥

('सुंदरसिंगार' से)

बंबई के वेस्ट इंडिया प्रिंस अव् वेल्ज़ म्यूज़ियम में एक हस्तलिखित पुस्तक 'नौरस नामा' है, जिसे कहा जाता है कि इब्राहीम आदिल शाह सानी (१५८०—१६२७ ई०) ने लिखा था। परंतु 'तारीखे-आलम-आराए-अब्बासी' में लिखा है कि यह पुस्तक मौलाना मलिक कुमी और मौलाना ज़हूरी ने लिखी थी, और बादशाह का नाम कर दिया था। अस्तु, 'नौरस नामा' के आदि में जो पंक्तियाँ हैं, वे मैं यहाँ लिप्यंतर करके लिखता हूँ—

मैं रूप गाओ सारू गुणि जन गजपती।
जग जग जीयो आसिस द्यौं सदा सरसती॥

ध्रुव

या अक्करंग चंद्र चंद्रमा रास मोती।

[1] यह ग्वालियर, महाराजा सिंधिया की राजधानी की ओर संकेत है।
[2] यह तारीख़ ११ अक्तूबर सन् १६२१ ई० से मुताबिक आती है।

या इद्र इन्दु चंदना पैराक्त शती।
या विद्या वीदड़ (?) चंद्रा जल भागीरती॥

अभोग

या कपालि चंद्र चंदना संकल विनि भूती।
या बदन छाह्र चंद चंदना आरती जोती।
यो कवीत आखें इब्राहीम मंतार गुरु पती॥

उपरोक्त पुस्तकों की भाषा को तो 'हिंदी' कहने में कोई संदेह ही नहीं; परंतु कुछ पुस्तकें ऐसी भी हैं जो भाषा में उस समय की 'उर्दू' कही जाती है, परंतु उन से भी पता लगता है कि उस समय हिंदी की क्या दशा थी। सतारा के पास रियासत औंध के चीफ़ साहेब श्रीमंत बालासाहेब पंत प्रतिनिधि बी० ए० बड़े उदार, साहित्य और कला-प्रेमी हैं। आप की लायब्रेरी मे एक हस्त-लिखित पुस्तक है जिस का नाम 'इब्राहीम नामा' है। यह पुस्तक भी उपरोक्त इब्राहीम आदिल शाह सानी की प्रशंसा में एक कवि अब्दुल ने लिखी थी, जिसे बादशाह ने देहली से बुलाया था। इस कविता की छंद-रचना तो फ़ारसी की धारा पर है परंतु भाषा ऐसी है जिस में अस्सी फ़ी-सदी हिंदी शब्द हैं। यह रचना सन १६०३-४ ई० मे समाप्त हुई थी, जब कि उत्तर-भारत मे शाहिशाह अकबर राज्य करता था। ऐसी पुस्तकें भी हिंदी साहित्य के पुनीत भवन के एक कोने में स्थान पाने योग्य हैं। इन में हिंदी व उर्दू की मित्रता और शत्रुता का पता चलता है। यदि हिंदी-भाषा के विद्वान् इन के संबंध में अपनी बहुमूल्य सम्मति दें तो इन का भी कुछ उद्धार हो जाय।

जरा विचार-पूर्वक सुनिए कि एक मुसलमान बादशाह के दरबार में एक मुसलमान कवि क्या गाता है। गाने के तर्ज़ पर ध्यान न दीजिए, भाव का प्रभाव देखिए—पाठकों के मनोरंजन के लिए नागरी लिप्यंतर के साथ मूल फ़ारसी लिपि भी नोट मे दे रहा हूँ। जिस में दोनों का मिलान किया जा सके—

बादशाह की प्रशंसा में कवि ने लिखा है—

न ऐसा सुना को न देखा अयान[1] ।
दिया लच्छमी जोर[2] देवे सो दान ॥

۲—کہوں بسم اول تو اللہ لائے
کلی مکھہ کھلی جبہہ بہکری دوائے -
۳—بچن میٹھہ رس جو پڑیں بوند آئے
بھنور کان عارف بھولیں پاس دھائے -
۴—ولے چت جلاوو نکو سکے اوران
صفت چہار چونٹہ ڈال تجھہ ایک پان -
۵—سجکا عقل بازو فکر کر اوڈان
نسہری جرم است تجھہ شاخ گہان -
۶—توہیں توجھہ تہیں ہو حکمت سب سریا
توہیں روپ عالم لے اپنا بھریا -
۷—کہا گنج مخفی تہی پرکٹ نمائے
نہ تہا کچھہ سو روشن کہا جگ تو آئے -
۸—رچیا کہمل جل منڈلی بھشمار
بچھایا طرف جد یہہ عالم نگار -
۹—دھریا رات پردا دیوا دیس لائے
بھریا گنج قدرت پٹارا پھرائے -
۱۰—سوتر باندھہ ارواح پتلی کھلاؤ
ہر ایک جلس کی روپ ہوشے دکھاؤ -
۱۱—نبوجھیا کہوں اوس سوتر کا جوماؤ
رہے تھونتہ بہوتیک نا سدھہ پاؤ -
۱۲—کہوا ہو رہیا عقل عالم حیران
نہ دسکا علم اوس کلہہ کا بیان -

[1]प्रगट । [2]इकट्ठे, जोड़कर ।

सुमन पास यह शाह होवे तो आय।
नज़र देख जिस रूप[1] को निध सिद्धि पाय॥
सूरज सोल बारह कला लागती।
चाँद सोलह कला आगली॥
सूरज चाँद दो मिल अठाईस कला।
कला रूप तिन आग चौंसठ कला[2]॥

बादशाह की बदान्यता और न्याय की प्रशंसा में ठेठ हिंदी उपमाएँ उपयोग में लाई गई हैं :—

ज्यों अद्ल[3] लक़वा[4] खिड़ी ना करे।
जिसा धोबला बाज़[5] अँख[6] में करे॥
सिकोंदे शमी[7] समुंद[8] पर सेत नीर।
रखया आन दुरम्याँ[9] सो बाली सुमेर[10]॥
किया शाह का दान दरिया[11] अपार।
दिसे हाथ सो कँवल बिच आशकार[12]॥
रहें इस ज्यों सब जगत फूल कर।
अजब[13] हो कँवल थो[14] रतनों[15] सु भर॥

यह सम्भव है कि ऐसी मिश्र भाषा को हिंदी के पुजारी हिंदी न कहें, और उर्दू के परस्तार (पूजक) इसे उर्दू न कहें। परंतु ऐसी पुस्तकों से यह पता अवश्य लगता है कि यह दोनों बहिनें कब तक और क्यों साथ साथ रहीं-सहीं, और हँसी-खेलीं; और फिर कब और क्यों इन में बिछोह हो गया। ऐसी पुस्तकों के अवलोकन से कानों में ऐसी करुणामयी आवाज़ आने लगती है मानो उर्दू अपनी बहिन हिंदी से कह रही है :—

[1]भर। [2]कला के दो अर्थ लिए हैं :—एक तो ज्योतिष की कला, दूसरे क्रिया, गुण। [3]न्याय। [4]दक्षिणा। [5]एक शिकारी पक्षी। [6]आँख। [7]बरती। [8]समुद्र। [9]बीचों बीच। [10]सुमेरु पर्वत। [11]नदी। [12]प्रगट। [13]अद्भुत बात। [14]से। [15]रतन का बहु बचन 'नों' लगा कर बनाया है।

यार हम तुम एक थे हमगूं[1] बादामे दो मग़ज़[2]।
कौन सा पत्थर कि जिसने लाके दो टुकड़े किए ॥

इस का उत्तर हिंदी अपनी देववाणी में इस प्रकार देती है :—

यूयं वयं वयं यूयमित्यासीन्मतिरावयोः।
किं जातमधुना येन यूयं यूयं वयं वयम् ॥

उर्दू अपनी मस्जिद अलाहिदा ही बना रही है जिस में फ़ारसी और अर्बी के स्तंभ लगाए जा रहे हैं; और हिंदी अपना देवालय अलग ही खड़ा कर रही है जिसमें संस्कृत के तोरण सजाए जा रहे हैं।

ऐसी प्रवृत्ति हमारे देश तथा साहित्य के लिए कहाँ तक हितकर हो सकती है इस पर विद्वान विचार करें।

[1]समान। [2]दो गिरी वाली बादाम।

सुकवि उजयारे

[लेखक—पंडित मयाशंकर याज्ञिक]

रत्नपूर्णा वसुंधरा में विविध रत्न छिपे पड़े हैं। खोज करने से ही उन का पता चलता है। सब के सामने आने पर, रत्न-पारखी उन की परीक्षा कर के उन का मूल्य निर्धारित करते हैं। हिंदी के अनेक ग्रंथ-रत्न क़स्बों और गाँवों में पड़े नष्ट हो रहे हैं। अनुसंधान करने पर कितने ही उत्तम प्राचीन कवियों का पता चलता है। ऐसे ही एक कविरत्न का परिचय हम पाठकों के समक्ष उपस्थित करते हैं।

हिंदी साहित्य के इतिहास-लेखकों को शायद अभी तक सुकवि उजयारे का पता नहीं था। 'शिवसिंहसरोज' वा 'कविता-कौमुदी' में इन का नाम नहीं आया है, और न 'मिश्र-बंधु-विनोद' में ही इन का उल्लेख है। सुकवि उजयारे-लिखित दो ग्रंथ हमारे देखने में आए हैं—एक 'जुगुल-विलास', और दूसरा 'रस-चंद्रिका'। 'जुगुल-विलास' में कवि ने अपना वंश-वर्णन किया है—

> महा गुनाढ्य सनाढ्य कुल, जहाँ धनाढ्य अपार।
> मही माहि मूढ्योतिया, भागीरथी उदार॥
> नंदलाल तिन के तनय, नवल साह सुभ तासु।
> तिन सुत उजियारे कियो, यह रस जुगुलप्रकास॥
> व्यास बंस अवतंस हुअ, घासीराम प्रकास।
> तिन सुत सुत संबंध कवि, किअ मंदाबन वास॥

इस से विदित होता है कि कवि का निवास स्थान वृन्दाबन था। परन्तु

प्राचीन कवियों की चाल के अनुसार राज दरबारों का आश्रय ढूँढने के लिए उजयारे जी ने देश में भ्रमण भी काफी किया था इन की कविता में जयपुर, भरतपुर, हाथरस इत्यादि स्थानों का वर्णन है और वहाँ के राजाओं की प्रशंसा के छंद मौजूद हैं। 'जुगुल-विलास' और 'रस-चंद्रिका' में जयपुर के महाराज प्रतापसिंह, भरतपुर राज्य-संस्थापक महाराज सूरजमल के पुत्र नवलसिंह, हाथरस के ठाकुर दयाराम इत्यादि के यश वर्णित हैं। मालूम होता है इन्हीं राजाओं के दरबारों में सुकवि उजयारे को आश्रय मिला था। इस से अधिक बातें सुकवि महोदय के बारे में नहीं मालूम हो सकी हैं।

'जुगुल-विलास' संवत् १८३७ में चैत्र बदी ७ रविवार को समाप्त हुआ था। हाथरस के रहने वाले चैनसुख के पुत्र जुगुल दीवान के लिए यह ग्रंथ लिखा गया था। इस में भावभेद, रसभेद इत्यादि का वर्णन है। रस और उन के विभाव, अनुभाव आदि लक्षण तथा उदाहरण सहित विस्तार-पूर्वक लिखे गए हैं। बीच बीच में प्रश्न और उत्तर के रूप में विषय को समझाने का प्रयत्न किया गया है। 'जुगुल-विलास' में रसों का वर्णन अत्यंत उत्तम ढंग से किया गया है।

दूसरा ग्रंथ 'रस-चंद्रिका' जयपुर निवासी छाजूराम के पुत्र दौलतराम वैश्य के लिए लिखा गया था। इस में बहुत थोड़े छंद नवीन हैं। ग्रंथ का अधिक भाग 'जुगल-विलास' से बिलकुल मिलता है। 'रस-चंद्रिका' में केवल जयपुर वर्णन, दौलत राम की प्रशंसा आदि के छंद अधिक हैं।

अब हम सुकवि उजयारे की कविता के कुछ नमूने उद्धृत करते हैं—

गंगा-स्नान से शिव स्वरूप की प्राप्ति का वर्णन अनेक संस्कृत और हिंदी कवियों ने किया है। किंतु, उजयारे जी का इस विषय का छंद अपने ढंग का अनोखा है—

गंगा-न्हान जात है न मानत है मेरी सीख,
जानत न जाने कहा वाकी टेक टरेगी।
पाप को समूह सबै जात छेम जर जात,
एक हू न हाथ रहै तीनो ताप हरेगी॥

उजयारे देह लैके देय वा न देय फेर,

जो पै कहूं दैहै तो भुजंग अंग भरेगी।

भस्म लगाय आग आँख पजराय,

कालकूट कंठ लाय तेरे मूड़ पाँय धरेगी॥

गंगा जी की महिमा कितने सुंदर ढग से दिखाई गई है। गंगा स्नान से मोक्ष होने की पूरी संभावना है। यदि शरीर फिर मिला भी तो वह शिव का रूप होगा और गंगा सिर पर चढ़ कर बहेगी। व्याज-निंदा का कैसा सुंदर उदाहरण है।

सरस्वती जी की स्तुति भी ऐसी ही भाव-पूर्ण है—

सारदा बुद्धि विसारद सुद्धि,

समृद्ध हियै उपजावनवारी।

आपुहि तै प्रगटै घट संघट,

ब्रह्म स्वरूप जनावन वारी॥

व्यापक है जड़ चेतन में,

उजियारे विवेक बतावन वारी।

बीन के युक्ति प्रवीन धरै यों,

कृपा करौ बीन बजावन वारी॥

एक शृंगार और दूसरा करुण रस का उदाहरण दे कर लेख को समाप्त करते हैं।

संयोग शृंगार—

नंदलला ब्रषभानलली मिलि,

केलि भली विधि सौं अनुसारे।

भाँतिनि भाँतिनि के परिरंभ,

अनंग उमंगनि अंग बिहारे॥

मोती गिरे कुच पै कच खूटत,

यौं उपमा उमही उजियारे।

राहु ने चंद गह्यो अपराध में
मानों अहस पै आछित डारे ॥

परनिष्ट करुण रस—

जा दिन ते रघुनाथ गये बन,
साथ सुलच्छिन सीय गई है।
चेतन की गति कौन कहै,
जड़हूनि बिछोह की छोह छई है॥
आतप ताप तपै दिन यों,
सब रातिहूँ रोवति राति गई है।
तारनि के मिसु ठानि मनों,
असुआँनि की बूँदनि मूँद भई है॥

दोनों पुस्तकों में कवि का नाम कहीं 'उजियारे लाल' और कहीं 'उजिआरे लाल' लिखा मिला है।

हिंदी के अनेक ग्रंथ राजपूताने के गाँवों में पड़े हुए हैं। राजपूताने के नरेशों से प्रार्थना कर के प्रत्येक राज्य में खोज का काम किया जाय तो निसंदेह सहस्रों ग्रंथ सहज में ही प्राप्त हो सकते हैं।

औरंगज़ेब

[लेखक—डाक्टर ताराचंद, एम्० ए०, डी० फ़िल्० (ऑक्सन)]

सन् १६५८ में, तीस वर्ष के लंबे और समृद्धिशाली शासन के उपरांत शाहजहाँ बहुत बीमार पड़ा और इस कारण उत्तराधिकार के प्रश्न ने महत्त्व धारण कर लिया। उस के चार बेटे थे परंतु चारों राजगद्दी ग्रहण करने के इच्छुक थे। इन में दारा शिकोह सब से बड़ा था। वह अपने पिता का प्रिय था और सम्राट् की बीमारी के समय राजकीय शासन का अधिकांश उसी के हाथों में था। दारा धार्मिक तथा अध्यात्मिक प्रश्नों में बहुत दिलचस्पी लेता था। उस ने वेदांत का अध्ययन तथा उपनिषदों का अनुवाद किया था। परंतु उस में शासकोचित गुण न थे। उसे युद्धों का अनुभव न था और व्यवहारिक कार्यों में उस की योग्यता बहुत थोड़ी थी। दरबारियों की चाटुकारिता ने तथा पिता के दुलार ने उसे अहंकारी, आराम-पसंद तथा निर्बल बना दिया था। दूसरा पुत्र शुजा, बहादुर तथा बुद्धिमान था परंतु राजनीतिज्ञ और दृढ़ न था। सब से छोटा मुराद बिल्कुल निकम्मा था। तीसरा बेटा औरंगज़ेब निस्संदेह शाहजहाँ के सब बेटों में योग्य था। उस ने साम्राज्य के सभी युद्धों में भाग लिया था और उस ने कुशल सेनापति तथा शांत और वीर योद्धा के रूप में अपनी योग्यता प्रकट की थी। वह मनुष्यों का जन्म-सिद्ध नेता था और उन के साथ व्यवहार करना जानता था। वह चतुर, परिश्रमी तथा प्रत्युत्पन्नमति था। शासन में उस की योग्यता बढ़ी चढ़ी थी, राजनीतिज्ञ अद्वितीय था। दुर्भाग्यवश अपने पिता से उस का सदा खिंचाव रहा। कठिन से कठिन कार्यों पर वह नियुक्त किया जाता और उन कार्यों की पूर्ति

उत्तराधिकार के लिए युद्ध

के लिए पर्याप्त सहायता न पहुँचाई जाती। सदा उसे भर्त्सना सहन करनी पड़ती, और सदा उस पर संदेह किया जाता अपने पिता की बीमारी का समाचार पा कर सभी बेटे अपने अपने उद्देश्य की पूर्ति में लगे। दारा, जो कि अपने पिता के पास था, शाहजहाँ द्वारा उत्तराधिकारी निर्वाचित हुआ। शुजा तथा मुराद ने अपने आप ताज पहन लिए, परंतु औरंगज़ेब अवसर की प्रतीक्षा मे रहा। अंत मे उस ने शुजा और मुराद से मेल किया और तीनों भाई अपने प्रांतों को छोड़ कर सेना-सहित राजधानी की ओर बढ़े। औरंगज़ेब और मुराद की सेनाएँ उज्जैन के पास दीपालपुर में मिल गईं। दारा ने जैसिंह को शुजा का सामना करने और जसवंत सिंह को मुराद और औरंगज़ेब को रोकने के लिए भेजा। जैसिंह की सेना ने शुजा का बनारस के निकट परास्त किया और शुजा को बनारस मे शरण लेनी पड़ी। जसवंत सिंह ने मुराद और औरंगज़ेब का धरमत में सामना किया। परंतु कुछ अधिकारियों के धोखा दे जाने के कारण जसवंत सिंह हार गया और वह भाग कर जोधपुर गया। औरंगज़ेब और मुराद की सेनाएँ अब आगे बढ़ीं और चंबल नदी पार करके आगरा के निकट समूगढ़ मे पहुँच गईं। दारा ने इस स्थल पर युद्ध किया परंतु उस के सहायकों मे मत-भेद तथा आपस की ईर्ष्या चल रही थी और उस के मुख्य सेनापतियों में से एक विद्रोही प्रमाणित हुआ। दारा अपने भाई के मुक़ाबले में सेनापतित्व नही कर सकता था और न उस की सेना को वह शिक्षा तथा अनुभव प्राप्त था जो कि औरंगज़ेब की सेना ने अनेक युद्धों मे प्राप्त किया था। परिणाम यह हुआ कि दारा की पूरी तरह से हार रही और युद्ध-क्षेत्र छोड़ कर उसे दिल्ली भागना पड़ा।

औरंगज़ेब ने आगरे में प्रवेश किया, और शाहजहाँ को क़ैद कर के शासन का अधिकार अपने हाथों में कर लिया।

मुराद, जिस ने औरंगज़ेब की बढ़ती हुई शक्ति पर आपत्ति की, किसी चाल से क़ैद कर लिया गया और ग्वालियर में बंदी रक्खा गया। बाद में उस पर अभियोग लगाया गया और उसे मृत्यु-दंड मिला। औरंगज़ेब ने अब दारा का पीछा किया। दारा उस के आगमन का हाल पा कर दिल्ली से भाग कर

पंजाब चला गया। उस के बाद सिंध और अंत में गुजरात तथा राजपूताना मे पहुँचा। उस ने एक बार फिर अजमेर मे औरंगज़ेब का सामना किया परंतु फिर भी हार गया। जैसिंह ने उस का बलूच प्रदेश में पीछा किया और अंत मे उसे क़ैद कर के औरंगज़ेब के सुपुर्द कर दिया। वह दिल्ली लाया गया। सड़कों पर घुमाया गया और अंत मे उस की हत्या करा दी गई।

शुजा, जो बंगाल से उत्तराधिकार प्राप्त करने के लिए बढ़ा था, दारा के सेनापतियों द्वारा हराया गया था और भाग कर बिहार में हो रहा था। परंतु जब औरंगज़ेब ने राज्याधिकार अपने हाथों मे लिया तो उस ने अपनी सेना फिर एकत्र की और बढ़ कर इलाहाबाद आया। खजवा मे औरंगज़ेब और शुजा का युद्ध हुआ और औरंगज़ेब ने इस युद्ध में शुजा को पूर्ण रीति से परास्त किया। शुजा का पीछा किया गया और बड़ी लड़ाई के बाद वह बंगाल से भी भगाया गया। उस ने अराकान मे शरण ली और वहाँ उस की हत्या हो गई।

इस प्रकार औरंगज़ेब अपने सभी प्रतिस्पर्द्धियों का दमन कर के गद्दी पर बैठा और १६५९ में उस ने राजगद्दी के उत्सव में एक महान् दर्बार किया। शाहजहाँ आगरा के क़िले मे अपनी मृत्यु के समय, १६६६ तक क़ैद रहा।

औरंगज़ेब की गद्दी

अपने भाइयों को परास्त कर के और पिता को क़ैद कर के औरंगज़ेब ने राजगद्दी प्राप्त करने के मार्ग से सब कंटक दूर कर दिए थे। उस की सफलता मुख्यतः उस की योग्यता के कारण थी क्योंकि साम्राज्य भर के प्रतिष्ठित लोग, चाहे हिंदू हों चाहे मुसल्मान, यह जानते थे कि अपने भाइयों मे यही अकेला इतने बड़े साम्राज्य के उत्तरदायित्व-पूर्ण भार को वहन करने में सब से अधिक समर्थ है। जिन कठिनाइयों का उसे सामना करना पड़ा वह वास्तव में महान् थीं। मुग़ल शासन अपने ही अपव्यय के भार से टूट रहा था; करों का बोझ खेती को, जो मालगुज़ारी का मुख्य आधार थी, नष्ट कर रहा था; किसान लोग देहातों को छोड़ रहे थे, क्योंकि किसानी की कमाई सरकार ले लेती थी और किसान दलित तथा ग़रीब हो रहे थे; सड़कों और घाटों पर जो चुंगी और

महसूल लगते उन के कारण व्यापार में रुकावट पड़ रही थी। जमींदारों और कर्मचारियों की चुंगियाँ भी व्यापार को नष्ट कर रही थीं। उधर अमीर लोग दर्बार का अनुकरण करते हुए आराम और अपव्यय का जीवन व्यतीत करते। वह सैनिक के कठोर और कष्टमय जीवन को नापसंद करने लगे थे और अपने धावों में भी वह आडंबर और शान न छोड़ पाते थे। अपनी रियासतों में वह रियाया के प्रति अपने कर्तव्य का पालन न करते और मालगुज़ारी ठेकेदारों द्वारा वसूल करते। राजकीय सेवा-विभाग पुश्तैनी वस्तु हो रही थी। उत्तराधिकार के लिए जो युद्ध हुआ उस ने इन कठिनाइयों को और भी बढ़ाया। सेनापतियों तथा कर्मचारियों की राजभक्ति में खिंचाव उत्पन्न हो गया था और आत्म-रक्षा तथा अपने लिए बल प्राप्त करने का भाव उन में प्रबल हो उठा था। सरकार के अधिकारों को बड़ा आघात पहुँचा और उपद्रवी चारों ओर सिर उठाने लगे थे। असंतुष्ट सर्दार, जातियों के तथा धार्मिक नेता-गण तथा कर्मचारी-वर्ग ने किसानों की अशांति से लाभ उठा कर और भी अशांति और विद्रोह फैला रक्खा था।

औरंगजेब की निजी प्रकृति ने तथा जिन स्थितियों में उस ने अधिकार प्राप्त किया था, कठिनाइयों को और भी बढ़ाया। वह बड़ा शुष्क तथा सोच विचार का आदमी था, और वह बड़ी संकुचित सहानुभूति रखता था। धर्म के संबंध में उस के विचार कड़े थे और उन पर वह सचाई से अमल करता था। उस के जोश ने उसे उन लोगों के विरुद्ध किया जो कि दूसरे धर्म के थे, अथवा जो धर्म के विषय में उत्साह नहीं रखते थे। परिणाम यह हुआ कि पाखंड की वृद्धि हुई। औरंगजेब ने दारा का जो विरोध किया उस के कारण वह कट्टरता का पक्षपाती समझा गया, क्योंकि धार्मिक विचारों में दारा उदार था। स्वाभाविक था कि कट्टर मुसलमान औरंगजेब के पक्ष में हो जाते और उसे अपनी नीति उन के पक्ष में करनी पड़ती। हिंदुओं में सुधार के आंदोलन का उद्देश्य हिंदू-धर्म को परिष्कृत करना तथा हिंदुओं के अंतःकरण को जागृत करना था। सुधारकों का उद्देश्य यह था कि लोगों के व्यक्तिगत जीवन को महत्तर और अधिक अच्छा बनावें और समाज में जो विषमता तथा अन्याय

थे उन्हें दूर करें। जो मत इन लोगों ने स्थापित किए उन के बहुत से अनुयायी हो गए। परंतु इन मूलतः धार्मिक संगठनों में से कुछ का राजनैतिक बन उठना, साम्राज्य की कठिनाइयों में वृद्धि का कारण हुआ।

फिर इस काल में, हिंदू जातियाँ, विशेष कर राजपूत, गंगा की घाटी में नए प्रदेशों में आ बसे, और इन के आने के कारण स्थानीय उपद्रव हुए जिन का कि शासन को सामना करना पड़ा। हिंदुओं में जो व्यापक जागृति हो रही थी वह भी साम्राज्य के लिए कठिन प्रश्न बन गई।

इन कठिनाइयों का सामना करने के लिए यह आवश्यक था कि शासन के अपव्यय को रोका जाय और उस के समर्थकों के हृदयों में ईश्वर का भय उकसाया जाय। इस प्रकार विश्वास और स्थिति दोनों ने ही एक ही नीति का संकेत किया—यदि शांति स्थापित रखना था और शासन का परिष्कार करना था।

गद्दी पर बैठने पर औरंगज़ेब को शांति न प्राप्त हुई। और इस के राजत्व-काल का पहिला आधा भाग अधिकांश ज़मींदारों, राजाओं तथा हिंदू धार्मिक मतों के उपद्रवों और विद्रोहों को दमन करने में व्यतीत हुआ। इस बीच में साम्राज्य की सीमा के विस्तार का कार्य भी चलता रहा। सब से घोर उपद्रवों में आगरा-अवध तथा इलाहाबाद के सूबों के उपद्रव थे। आगरे में जाट लोगों ने जो कि हाल में ही आकर आबाद हुए थे, मालगुज़ारी देने में बड़ी उद्दंडताएँ दिखाईं। अपने नेता गोकल की अधीनता में उन्हों ने १० वर्ष तक मुग़ल अधिकार का तिरस्कार किया और मथुरा के फ़ौजदार की १६६९ में हत्या भी कर दी। तब अंत में मुग़ल तथा राजपूत सेना-नायकों की अधीनता में औरंगज़ेब ने उन के विरुद्ध सेना भेजी और स्वयं भी वहाँ गया। विद्रोही परास्त हुए और उन्हें बड़ा कठोर दंड दिया गया। विद्रोह दमन करने में केशवदेव के मंदिर का विध्वंस हुआ—यद्यपि सम्राट् ने साधारण किसानों पर अत्याचार होने से रोका। अवध में बैस राजपूतों ने

औरंगज़ेब का शासन
—प्रथम काल
१६५८-१६८२ ई०
अशांति और उपद्रव

और इलाहाबाद में हरदी तथा अन्य जमींदारों ने उपद्रव किया और सम्राट् के अधिकार की उपेक्षा की। सम्राट् ने इस का बदला मंदिरों को नष्ट कर के लिया। बनारस में, जो इलाहाबाद सूबे के अंतर्गत था, सन् १६६९ में विश्वनाथ का मंदिर गिरवा दिया गया।

शासन-काल के आरंभ में ही, बुंदेलखंड में चंपतराय बुंदेला ने, जो मुग़लों की नौकरी में बहुत समय तक रह चुका था, विद्रोह किया। औरंगज़ेब ने मुग़ल और बुंदेला अफ़सरों को उस का पीछा करने के लिए भेजा और वह मारा गया। उस के पुत्र छत्रसाल का जीवन चंचल रहा। कभी तो वह साम्राज्य में नौकरी कर लेता और कभी मुग़लों को छोड़ कर उन का सामना करता।

इस के अतिरिक्त अन्य अधीन राजे थे, जिन्हों ने कि शासन को तंग कर रक्खा था, परंतु अंत में यह दमन किए गए।

उन हिंदू मतावलंबियों में, जिन्हों ने सिर उठाया, सतनामी तथा सिक्ख मुख्य थे। सतनामी मेवात तथा नारनौल प्रदेश में रहते थे। अधिकांश वह किसान या छोटे पेशावर लोग थे। १६७२ में उन में भी विद्रोह फैला। स्थानीय अधिकारियों के विरुद्ध उन्हें कुछ सफलता प्राप्त हुई परंतु राजकीय सेना ने कुछ और राजपूत दलों की सहायता से उन्हें दमन किया।

सिख, इस समय तक एक राजनैतिक संस्था बन चुके थे। गुरु लोग पुश्तैनी शासक हो गए थे और राजकीय समारोह के साथ शासन करते थे। गुरु हरगोविंद ने राजकीय सैनिकों पर आक्रमण तक किया था। उन के पुत्र तेगबहादुर ने मुग़लों से मिल कर उन के पक्ष में १६६८ में आसाम में युद्ध किया। इस के बाद सिखों और मुग़लों में युद्ध छिड़ गया। गुरु तेगबहादुर के पुत्र, गुरु गोविंद सिंह (१६७६-१७०८) ने जो अंतिम गुरु थे सिखों के एक राज्य की स्थापना के लिए प्रयास किया। इस युद्ध में सिख हार गए और गुरु गोविंद के दो पुत्र मारे गए। सन् १७०६ में गुरु गोविंदसिंह ने साम्राज्य में नौकरी कर ली और साम्राज्य के पक्ष में युद्ध करने के लिए दकन गए। औरंगज़ेब की मृत्यु पर

उन्हों ने बहादुर शाह को गद्दी प्राप्त करने में सहायता दी और उस के साथ दक्षिण गए। जब वह नंदेर पहुँचे तो सन् १७०८ में एक अफ़ग़ान द्वारा उन की हत्या हुई।

पश्चिमोत्तर सीमा-प्रांत के पठान जिरगे अकबर के समय से मुग़लों के लिए उपद्रव का कारण रहे हैं। वह विद्रोह करते और हिंदुस्तान से काबुल जाने वाले कारवानों को लूटते मारते तथा राजकीय सैनिकों को, जो रक्षा के लिए नियुक्त होते, मार डालते थे। उन में स्थायी शांति स्थापित करना अत्यधिक दुस्तर कार्य था। इस कार्य में अकबर, जहाँगीर तथा शाहजहाँ को बहुत धन व्यय करना पड़ा था। औरंगज़ेब को भी इन के उपद्रवों को दमन करने के लिए कई बार आक्रमण करने पड़े थे। सन् १६६७ से जब कि यूसुफ़ज़ई पठानों का विद्रोह हुआ था, सन् १६७९ तक मुग़ल सेनाओं को बराबर इन जिरगों से लड़ाई करते रहना पड़ा। अंत में सफलता प्राप्त हुई—कुछ तो इस कारण कि बल का प्रयोग हुआ, परंतु अधिकतर इस कारण कि रुपया दे कर एक जिरगे को दूसरे के विरुद्ध कर दिया गया। इस में राजकीय कोष का बड़ा धन चला जाता और दक्षिण में प्रबल नीति के उपयोग में लाने में बड़ी कठिनाई पड़ती। इस प्रकार शिवाजी को इस बात का मौक़ा मिला कि वह अपनी स्थिति को, जब तक मुग़ल उस पर आक्रमण करें, दृढ़ कर ले।

सीमा-प्रांत के युद्ध

राजपूताना में तीन मुख्य हिंदू रियासतें थीं—मारवाड़ (राजधानी जोधपुर) जहाँ राठौड़ शासन करते थे, मेवाड़ (राजधानी उदयपुर) जहाँ सीसोदियों का राज्य था और जैपूर जो कछवाहों के अधिकार में था। जोधपुर के राजा जसवंत सिंह ने शाहजहाँ के यहाँ बड़ी राजभक्ति के साथ नौकरी की थी। परंतु उस ने धरमत में औरंगज़ेब का सामना किया और बाद में कुटिल आचरण किया। फिर भी उसे क्षमा प्रदान हुई और एक उच्च पद पर आसीन हुआ। उस को दकन में सेनापतित्व का पद मिला और उसने शिवाजी के विरुद्ध तथा सीमाप्रांत युद्धों में भाग लिया और बिना किसी उत्तराधिकारी के

राजपूत विद्रोह

१६७८ में, खैबर के दर्रे के निकट जमरूद में मरा। उस के अनुयायी बिना आज्ञा प्राप्त किए अपनी नियुक्तियां को त्याग कर चल और लाहौर में आए, जहाँ उस की रानी के एक पुत्र उत्पन्न हुआ। इस बीच में औरंगज़ेब ने जोधपुर पर अधिकार कर लिया और जब महाराजा का कुटुंब दिल्ली पहुंचा तो औरंगज़ेब ने आज्ञा दी कि इस पुत्र का दिल्ली में ही पालन-पोषण हो और बड़े होने पर इसे राजा का पद देने का वचन दिया। राठौड़ों को इस पर संदेह हुआ और दुर्गादास उस बालक को लेकर दिल्ली से भाग निकला। मुग़ल सेना ने उस का पीछा किया और इस ने सारे मारवाड़ पर धावा किया। जसवंत की रानी ने, जो कि सीसोदिया कुल की थी, मेवाड़ के राना से सहायता की प्रार्थना की। और इस प्रकार उदयपुर में तथा साम्राज्य में युद्ध छिड़ गया। इस युद्ध के बीच राजपूत औरंगज़ेब के छोटे पुत्र अकबर को कैद करने में सफल हुए, और इस प्रकार उन्हों ने सम्राज्यवादियों को कठिन स्थिति में डाल दिया। परंतु अंत में राजपूतों की हार हुई और सन १६८१ में युद्ध का अंत हुआ। उदयपुर के राना ने अधीनता स्वीकार कर ली और सम्राट् के यहाँ पद स्वीकार किया। दुर्गादास कुछ काल तक और मुग़लों का सामना करता रहा परंतु अंत में उस ने भी अधीनता स्वीकार कर के एक मनसब तथा पद स्वीकार किया।

साम्राज्य की पूर्वी सीमा पर कूचविहार तथा आसाम के प्रदेश थे। उन पर अहोम जाति का अधिकार था। उत्तराधिकार के युद्ध के समय उन के राजा ने कुछ मुग़ल प्रदेश छीन लिए थे। अब सम्राट् ने मीर जुमला को उसे दंड देने के लिए भेजा। १६६१ में उस ने कूचविहार को मुग़ल साम्राज्य में मिला लिया उस के बाद आसाम की तरफ़ बढ़ा। गढ़गाँव राजधानी पर अधिकार कर लिया गया, और सन १६६३ में राजा शांति के लिए प्रार्थना करने पर विवश हुआ। बाद में फिर आसाम में उपद्रव हुआ परंतु वह दमन किया गया। सन् १६६७ में मुग़लों ने चटगाँव पर अधिकार कर के जलडाकुओं का अंत किया।

विजय

जब मुग़लों ने अपना साम्राज्य दक्कन में फैलाना आरंभ किया उस समय कई मराठा सर्दारों ने उन के यहाँ पद स्वीकार कर लिए थे। इन में एक शाहजी भोंसला था। बाद में वह पक्ष बदल कर बीजापुरियों के यहाँ चला गया। उस के पुत्र शिवाजी ने साम्राज्य तथा बीजापुर के बीच युद्ध होते देख, उस से लाभ उठा कर एक सेना एकत्र कर ली। और नगरों को लूटना तथा दुर्गों को अधिकार में करना आरंभ कर दिया। उत्तराधिकार के युद्ध ने उसे इस बात का अवसर दिया कि वह अपने राज्य का उत्तरी कोंकण तक विस्तार कर ले। बीजापुर के सुल्तानों को दमन करने का उसका प्रयास असफल रहा। परंतु सन १६६० में, दक्कन के मुग़ल सूबेदार ने उसे दमन करने की ठानी। उस ने पूना तथा अन्य स्थानों पर अधिकार कर लिया परंतु १६६८ में शाइस्ता ख़ाँ के डेरे पर शिवाजी ने छापा मारा। सूबेदार स्वयं घायल हुआ और बंगाल भेज दिया गया। दूसरे साल शिवाजी ने सूरत लूटा उस समय उस के विरुद्ध महाराजा जैसिंह भेजा गया। उस ने मराठा दुर्गों पर अधिकार कर लिया और शिवाजी को, शांति के लिए प्रार्थना करने पर, विवश किया। पुरंधर की संधि (१६६५) द्वारा शिवाजी ने कई दुर्गों का पतन कर दिया। वह आगरा पहुँचा, और वहाँ उस ने मनसब स्वीकार किया परंतु इस से उस की आकांक्षा सन्तुष्ट न हुई। उस के असंतोष से सम्राट् का मन उस से फिरा और वह क़ैद कर लिया गया परंतु शिवाजी भाग निकला और घटनापूर्ण तथा साहसी यात्रा के उपरांत दक्कन पहुँचा। तीन वर्ष तक वह चुप रहा। परंतु १६७० में मुग़ल सेना को दक्षिण में परास्त होते देख कर उस ने फिर विद्रोह आरंभ किया। १६७० में उस ने सूरत लूटा और बरार तथा बगलाना पर भी छापा मारा और मुग़लों के विरुद्ध भी, जो आपस में लड़ रहे थे, सफलता प्राप्त की। उसे इस प्रकार बहुत धन भी मिला और प्रदेश भी प्राप्त हुए। १६७६ में वह राजा बन बैठा और दो वर्ष के अनंतर उस ने कर्नाटक पर आक्रमण किया। परंतु उस के पुत्र शंभाजी के मुग़लों से जा मिलने के कारण मराठे निर्बल हो गए और उन के प्रमुख किले हाथ से निकल गए।

मराठे

१६८० में उस की मृत्यु पर शंभाजी राजा हुआ और उस ने मुगल प्रदेशों पर छापा मारने का काम फिर आरंभ किया बुरहानपुर लूटा और औरंगाबाद पर छापा मारा। औरंगजेब राजपूतों के विरुद्ध युद्ध में लगा हुआ था और इस वजह से मराठों के विरुद्ध यथेष्ट कार्यवाही नहीं की जा सकी। परंतु जब शाहजादा अकबर मारवाड़ से भाग कर शंभाजी की शरण में पहुँचा तब औरंगजेब को बड़ी आशंका हुई। उस ने राजपूतों से युद्ध रोक कर दकन की ओर ध्यान दिया।

औरंगजेब का शासन-काल भार कठिनाइयों में आरंभ हुआ। यह कठिनाइयाँ हानिकर आर्थिक नीति तथा अपव्यय का परिणाम थीं। इन्हों ने किसानों में कष्ट फैलाया तथा अशांति को उत्तेजित

शासन-संबंधी कार्यवाही किया। अतएव व्यय का कम करना आवश्यक हुआ। और साथ ही आर्थिक नीति का बदलना भी। आनंद और बाहुल्य के जीवन ने राजकीय अधिकारी-वर्ग को आराम-पसंद, स्वार्थी और घूसखोर बना दिया था। उन में कर्तव्य और राज्यभक्ति के भाव उपजाने के लिए कोई उपाय करना आवश्यक था। अब तक सहिष्णुता, हिंदू तथा मुसल्मानों में एकता के तथा उच्चतम कर्तव्य के भाव जाग्रत करने में असफल रही थी, परंतु यही मुसल्मानों को अपने दीन की पाबंदी के विषय में ढीला बना रही थी।

औरंगजेब, जो कठोर धार्मिक पुरुष था, यह स्थिति नहीं सहन कर सकता था।

उस की कृतियों का उद्देश्य था मितव्यय, इस्लाम द्वारा विहित कार्यों का रोकना और एक ऐसे शासन का संगठित करना जो धर्म की आज्ञाओं के अनुकूल चलाया जाय। उस ने दर्बार के आडंबरों और समारोहों को कम किया; दर्बार के गवैयों, कवियों, कलावंतों और इतिहासकारों को अलग कर दिया। उस ने आय बढ़ाने के उद्देश्य से हिंदू व्यापारियों पर कर बढ़ाया और हिंदुओं पर जज़िया कर भी फिर से लगाया। परंतु इसी के साथ उस ने हिंदू यात्रियों से जो आमदनी होती थी वह बंद कर दी। सादा जीवन व्यतीत करने का उपदेश उस ने अपने व्यक्तिगत आचरण द्वारा दिया, क्योंकि वह

अपनी जीविका उपार्जन करने के लिए टोपियाँ बनाता तथा क़ुरान लिख कर बेचता था। उस ने लोगों के आचरणों की जाँच करने के लिए निरीक्षक नियुक्त किए और साथ ही मदिरा के व्यवहार तथा बिक्री की मनाही करा दी। उस ने हिंदुओं के साथ साथ मुसल्मानों को भी हिसाबी काम तथा मुंशीगीरी पर नियुक्त किया। उस ने नए मंदिरों का बनना तथा पुराने मंदिरों की मरम्मत करना बंद करा दिया। जिन प्रांतों में हिंदुओं ने उपद्रव किए थे उन में उस ने हिंदू मंदिर गिरवाए भी।

औरंगज़ेब की क़ानूनों द्वारा आर्थिक तथा राजकीय नौकरियों के संबंध की दोनों कठिनाइयाँ हल न हुईं। साम्राज्य की आर्थिक स्थिति उस के निरंतर युद्धों के कारण बिगड़ती ही गई, और अमीर लोग अधिकाधिक आचरण-च्युत तथा अराजक हो रहे थे। धार्मिक नीति का भी विशेष परिणाम न निकला। हिंदू तो चिढ़ गए परंतु इस प्रकार मुसल्मानों ने अपने आप को सुधारा नहीं।

इन कार्यवाहियों के बुरे परिणाम शासन-काल के आरंभ में यकायक प्रकट नहीं हुए। इस के प्रत्युत, १६८१ में उस की स्थिति बहुत दृढ़ थी। मार्ग से प्रत्येक वैरी के हट जाने के कारण, सारे हिंदुस्तान के साम्राज्य में उस की आज्ञा का पालन होता था, और उस के द्वारा स्थापित दृढ़ और सचेत शासन ने शांति और व्यवस्था उत्पन्न कर दी थी और धन और सभ्यता की वृद्धि हो रही थी। जान पड़ता था कि औरंगज़ेब ने मनुष्य के भाग्य और समृद्धि की चरम सीमा को प्राप्त कर लिया है।

दूसरा काल—
१६८२-१७०७ ई०
दकन में युद्ध

अकबर के दकन में भागने पर, औरंगज़ेब ने दक्षिण जा कर वहाँ की अशांति को, जो कि बीजापूर और गोलकुंडा रियासतों के पतन से तथा मराठों की राजलिप्सा के कारण बढ़ रही थी, अंत करना निश्चय किया। वह इन युद्धों की व्यवस्था में इतना व्यस्त हो गया था कि बाद में उत्तर में लौट न पाया। इस प्रकार उस ने अपने शासन-काल का उत्तरार्द्ध दकन में युद्ध करते हुए व्यतीत किया और वहीं पर १७०७ में उस की मृत्यु भी हुई।

सम्राट ने बीजापुर के सुल्तान से मराठों का दमन करने में सहायता पाने की इच्छा प्रकट की, परंतु उस ने सम्राट् की सहायता करना स्वीकार न किया और वह शंभाजी की सहायता करता रहा। इस लिए बीजापुर का दमन करना आवश्यक हुआ। औरंगज़ेब अहमदनगर पहुँचा और बीजापुर का घेरा डाल दिया। मराठों और गोलकुंडा के राजा ने बीजापुरियों की सहायता की और मुग़ल सेना को बहुत तंग किया और उस को रसद काट दी। परंतु बीजापुर की रक्षा के सब प्रयत्न व्यर्थ गए और १६८६ में अंतिम आदिलशाही सुल्तान सिकंदर ने किले का पतन कर दिया और वह राज्य मुग़ल साम्राज्य का एक सूबा बन गया।

बीजापुर की विजय

पिछले ५० वर्षों के भीतर, गोलकुंडा के सुल्तानों ने बड़ा दुःशासन किया था। अंतिम सुल्तान अबुल हसन ने सारा अधिकार दो मराठे ब्राह्मण भाइयों—मदन्ना तथा अकन्ना के हाथों में छोड़ दिया था। उन्हों ने मराठों से संधि कर ली थी। और यद्यपि वह ऊपरी रीति से मुग़लों के राजभक्त बने रहे, गुप्त रीति से वह उन के विद्रोही तथा वैरी थे। बीजापुर के युद्ध में उन्हों ने साम्राज्य के वैरियों को बराबर सहायता दी और इस कारण औरंगज़ेब ने उन के विरुद्ध सेना भेजी। मराठा भाइयों की हत्या, मुग़लों को शांत करने के लिए की गई, परंतु इस में कुछ लाभ न हुआ। क्योंकि बीजापुर के पतन के अनंतर सम्राट् ने गोलकुंडा पर चढ़ाई की। दुर्भिक्ष, मरी और मुग़ल अधिकारियों के षड्यंत्रों के कारण घेरा अधिक काल तक चलता रहा परंतु अंत में गोलकुंडा के सेनापतियों के धोखा दे जाने के कारण क़िले का पतन हुआ। अबुल हसन क़ैद कर लिया गया और राज्य सन् १६८७ में साम्राज्य के अंतर्गत आ गया।

गोलकुंडा की विजय

औरंगज़ेब दक्कन में शीघ्रता से इस कारण बढ़ा था कि मराठे बड़े वेग से बल में बढ़ रहे थे और शहज़ादा अकबर के उन के यहाँ होते हुए उस के

अधिकार के लिए बड़ी आशंका उत्पन्न हो गई थी। वह १६८२ में औरंगाबाद पहुँचा और मराठों के विरुद्ध उस ने सेना भेजी। आरंभ में तो उन्हें सफलता न प्राप्त हुई परंतु शंभाजी की मूर्खताओं और मराठा अधिकारियों में अशांति तथा उन के पद-त्याग के कारण मुग़लों को अवसर मिल गया। बीजापुर और गोलकुंडा के पतन के कारण औरंगजेब को भी अवकाश मिला कि वह मराठों से समझे। शंभाजी अपने पिता का धन बे-रोक-टोक आमोद का जीवन व्यतीत कर के, उड़ा रहा था। मुग़लों ने उस के दुर्गों पर अधिकार कर लिया और उसे अचानक क़ैद कर लिया। वह पड़ाव पर घुमाया गया और १६८७ में उस की हत्या कर दी गई। उस के पुत्र साहू का पालन दर्बार में हुआ। औरंगजेब का जीवन इस समय तक पूर्णतया सफल रहा! दकन पूर्णतया वश में लाया गया। सारा हिंदुस्तान मुग़ल साम्राज्य के अधीन हो चुका था।

मराठा युद्ध

परंतु स्थिति शीघ्र ही पलटी। मराठों के नए राजा राजाराम ने उत्तरी प्रदेश अधिकारियों के निरीक्षण में छोड़ कर कर्नाटक में जिंजी में निवास कर लिया था। सन् १६९८ में मुग़लों ने जिंजी-विजय किया और उस के बाद उन्हों ने कोंकण के पहाड़ी दुर्गों को दमन करना चाहा। १७०० में राजाराम की मृत्यु पर ताराबाई रिजेंट बन गई और उस ने बड़ी योग्यता से मुग़लों के विरुद्ध युद्ध जारी रक्खा। यद्यपि दुर्ग, राजकीय अधिकारियों के हाथों में, बहुत दीर्घ काल के घेरों के उपरांत और बहुत व्यय के बाद, पड़ जाते थे परंतु मराठों ने दकन को अपने साहसी धावों से नष्ट-भ्रष्ट कर दिया और बड़ा उत्पात मचाया। साम्राज्यकीय सहायक-सेना विच्छिन्न कर दी गई। धन और रसद उत्तर से आते हुए लूट लिए गए और मुग़लों के पड़ाव पर बड़ी कठिनाइयाँ अनुभूत होती रहीं।

दक्षिण में सम्राट् के युद्धों ने साम्राज्य की आर्थिक दशा पर बड़ा धक्का पहुँचाया। इन युद्धों ने जो भी धन एकत्र था, ख़तम कर दिया और सूबों पर बड़ा बोझ डाला। साथ ही उत्तर में सम्राट् की अनुपस्थिति से शासन कार्य

सुस्त तथा अयोग्य अधिकारियों के हाथों में पड़ गया जिस के कारण प्रजा बहुत पीडित हुई। जाटों ने, जिन के विद्रोह ने शासन काल के आरंभ में देश को अव्यवस्था में डाल दिया था, फिर विद्रोह किया और राजपूत जातियों ने उन का अनुकरण किया। मार्गों में डाकू लगने लगे, अव्यवस्था फैली और व्यापार तथा उद्यम का ह्रास हुआ।

वृद्ध सम्राट् कठिनाइयों के बोझ से टूट गया, सफलता की ओर से हताश हो गया और शरीर तथा मन से जर्जर होकर अहमदनगर में चला गया और वहाँ १७०७ में उस की मृत्यु हो गई।

धर्म के विषय में औरंगजेब सरल और तंग विचार रखता था। उस के लिए अपने धर्म के अतिरिक्त सभी धर्म झूठे थे और वह सत्य धर्म की रक्षा करना अपना कर्तव्य समझता था। उस के धर्म की प्रेरणा थी कि शासक अपने धर्मवालों के साथ एक प्रकार का और अन्य धर्मवालों के साथ दूसरे प्रकार का व्यवहार करे। जहाँ तक संभव होता, औरंगजेब इन धार्मिक नियमों का स्थिति के अनुसार उपयोग करने का प्रयत्न करता। उस ने जो व्यवस्थाएं कीं उन का उद्देश्य एक ऐसी शासन-प्रणाली की रचना करना था जिसे हिंदुस्तान ने कई सदियों से नहीं जाना था। इस ने प्रजा को दो भागों में विभक्त किया — एक जो कि कृपा-पात्र वर्ग था और दूसरा जो किसी प्रकार सहन किया जा सकता था। इस नीति के दो बुरे परिणाम हुए। एक तो साम्राज्य के केवल एक पक्ष पर कृपा दिखाने के कारण दूसरा पक्ष साम्राज्य के भाग्य की ओर से विरक्त हो गया। दूसरे, इस ने हिंदुओं का नैतिक पतन किया क्यों कि जो सेवा वह साम्राज्य को अर्पित करते थे वह किसी ऊंचे मतव्यों के अंतर्गत न थी वरन् केवल अपनी व्यक्तिगत उन्नति के लोभ से। विषमता के आधार पर एक सुदृढ़ शासन का निर्माण करना असंभव था और इस दृष्टि से औरंगजेब ने अकबर का बनाया काम बिगाड़ दिया और हिंदुस्तानी जातीयता की सृष्टि का कार्य स्थगित कर दिया। परंतु एक बात स्मरण रखने योग्य है। वह यह कि अपने ऊपर लगाई गई कठिनाइयों को, हिंदू, सम्राट् के विरुद्ध व्यापक

औरंगजेब और हिंदू

विद्रोह करने का कारण न समझते थे। उन्हों ने इन के विरुद्ध प्रतिरोध न प्रगट किया और न उन्हों ने सम्राट् के पक्ष में उस की ओर से युद्ध करना छोड़ा। औरंगजेब के सभी युद्धों में, चाहे वह हिंदू जातियों या हिंदू वर्गों के विरुद्ध रहे हों, हिंदू सेनापति अपने स्वामी के पक्ष में लड़ते थे। राजपूत, बुंदेले, मराठा और सिख अधिकारी राजपूत, बुंदेलों, मराठा तथा सिख और सतनामी दलों के विरुद्ध औरंगजेब के संपूर्ण शासन-काल में बराबर लड़े। उस के शासन के विरुद्ध कोई हिंदू जनता का आंदोलन न हुआ।

उस काल के लोग धर्म को निजी और व्यक्तिगत बात समझते थे, जिस का संबंध उन के सार्वजनिक तथा राजनैतिक जीवन से न था। इस प्रकार किसी हिंदू के लिए अ-हिंदू के नेतृत्व में हिंदू के विरुद्ध लड़ना, अथवा मुसल्मान का ग़ैर-मुसल्मान के नेतृत्व में मुसल्मान के विरुद्ध लड़ना, कोई लज्जा की बात नहीं समझी जाती थी। न हिंदुओं और मुसल्मानों में देश-भक्ति का भाव ही था। यदि कोई बंधन वह स्वीकार करते थे, तो वह राजा का और उस के साथ स्वामिभक्ति का था, या अपने रक्त-संबंधियों का और स्वामी की नमक हलाली का था। और कभी कभी व्यक्ति-गत उत्कर्ष के लिए इन की भी उपेक्षा की जाती थी।

औरंगजेब की असफलता के कारण

औरंगजेब का लगभग आधी सदी का शासन-काल अंत में असफल सिद्ध हुआ। साम्राज्य के बल का निरंतर शीघ्रता पूर्वक ह्रास होता रहा और उस की मृत्यु के थोड़े समय के अनंतर ही वह टुकड़ों में छिन्न-भिन्न हो गया। इस ह्रास के क्या कारण थे? औरंगजेब असाधारण चरित्र का आदमी था। वह युद्ध में शूर और भय के अवसर पर धीर था। वह शुद्ध, सादा और कठिन जीवन व्यतीत करता था। वह दुर्गुणों से मुक्त, धार्मिक तथा उत्साही था। कर्त्तव्य-प्रेम तथा कार्य-संलग्नता उस में असाधारण थी। उस के धर्मवाले उसे साधु कर के जानते थे। यह ठीक है कि उस की सहानुभूति संकुचित थी और दूसरों पर उस का संदेह बढ़ा-चढ़ा था। परंतु यह सब कुछ होते हुए, उस का चरित्र एक योग्य शासक का चरित्र था।

कुछ लोगों के अनुसार उस की धार्मिक नीति ही उस की असफलता का कारण है मूलत यह बात ठीक नहीं। हिंदू विद्रोह सफल नहीं हुए और उन को किसी धार्मिक या राजनैतिक उद्देश्य ने प्रेरित नहीं किया। औरंगजेब ने हिंदुओं की सहायता से ही उन का दमन किया। मराठों के विरुद्ध युद्ध ने अवश्य साम्राज्य की आर्थिक अवस्था को बड़ा धक्का पहुँचाया। परंतु मराठों का विद्रोह जातीय नहीं था वरन् साधारण विद्रोह था। यह विद्रोह अन्य जातियों के विद्रोह से भिन्न न था। राजपूत, बुंदेले और स्वयं शिवाजी के संबंधी औरंगजेब के पक्ष में शिवाजी और उस के उत्तराधिकारियों के विरुद्ध लड़े। और न मराठे ही हिंदुओं पर आक्रमण करने से चूके या मुसल्मानों को अपने झंडे के नीचे लड़ने में नियुक्त करने से। औरंगजेब की असफलता के कारण मुख्यत: आर्थिक और शासन-संबंधी थे। खेती का नाश, इसी प्रकार व्यापार कला-कौशल का नाश और साम्राजकीय अधिकारी-वर्ग की अयोग्यता। सरकार की तरफ़ से किसानों से अत्यधिक कर वसूल किया जाता। खेती का ह्रास हुआ, अपव्यय के जीवन ने अमीरों को दरिद्र कर दिया और अपव्यय, अयोग्यता तथा निरंतर युद्धों ने शासन को निर्धन कर दिया। मनसबदार बढ़ते गए परंतु उन्हें देने को जागीरें न रहीं; जो जागीरें उन्हें मिलीं उन से उन्हें कुछ लाभ न हुआ। क़िलों की मरम्मत कराने तक के लिए सरकार के पास धन न था। इस के अतिरिक्त देश बहुत बड़ा था और यात्रा तथा संपर्क के साधन बहुत कम और पुराने ढंग के थे जिन के द्वारा किसी प्रकार की राजनैतिक तथा आर्थिक एकता उत्पन्न न हो सकती थी। हिंदुस्तान अभी जातीयता के लिए परिपक्व न था और औरंगजेब की असाधारण स्फूर्ति तथा परिश्रम द्वारा देश को विभाजित करने वाली प्रगतियाँ रुक न सकीं।

चित्रकार "कवि" मोलाराम की चित्रकला और कविता[1]

[लेखक—श्रीयुत मुकुंदीलाल, बी० ए० (आक्सन), बैरिस्टर-एट-लॉ]

[१]

मोलाराम की कविता और चित्रकला का विकास-स्थान श्रीनगर गढ़वाल

श्रीनगर गढ़वाल जिले की प्राचीन राजधानी अलकनंदा (गंगा की मुख्य शाखा) के दाहिने तट पर है। आधुनिक श्रीनगर वर्तमान टेहरी नरेश सर नरेंद्र शाह के पूर्वज अजयपाल (सन् १४४६–७९) का बसाया हुआ बताया जाता है। इसी श्रीनगर मे सन १६५८ मे मोलाराम के पूर्वज शामदास (पिता) और हरदास (पुत्र) सुलैमान शिकोह के साथ आए थे। यही मोलाराम के पूर्वज व मोलाराम ने सहस्रों विलक्षण चित्र अंकित किए। यहीं रानियों के साथ राज दरबार में कांगड़ा, बशोहली, कुलेर, सिरमोर इत्यादि पहाड़ी रियासतों से सैकड़ों चित्र आए, जो कि राजपूत (पहाड़ी) चित्रकला के सर्वोत्तम उदाहरण हैं।

गढ़वाल और श्रीनगर का प्राचीन नाम

पुराणों और संस्कृत ग्रंथों में गढ़वाल को केदार खंड, उत्तराखंड, केदार क्षेत्र, बद्रिकाश्रम, देवभूमि और ब्रह्मदेश इत्यादि नामों से पुकारा है। पांडवों के समय मे, उन से इस प्रदेश का घना संबंध था। कई स्थान यहाँ पांडवों व कौरवों से संबंध रखते हैं। यथा पांडुकेश्वर, कर्णप्रयाग इत्यादि।

[1] इस लेखमाला का पहला भाग 'हिन्दुस्तानी' के भाग २, अंक ४, पृष्ठ ४३२—५२ में छप चुका है।

जगद्विख्यात चीनी यात्री ह्युएन्त्सांग सन ६३४ ई० में भारत में भ्रमण करता हुआ इस प्रदेश (गढ़वाल) में आया। और उस ने गढ़वाल को ब्रह्मपुर का राज्य कहा है। चीनी यात्री जो भारत-वर्ष में सन ६२९ ई० में बौद्ध-धर्म-संबंधी पुस्तकों के संग्रह व बुद्ध भगवान से संबंध रखने वाले स्थानों व भारत के विख्यात प्रदेशों व नगरों को देखने आया था, वह मायापुर व हरद्वार पहुँचा और वहाँ से वह गढ़वाल आया। ह्युएन्त्सांग ने लिखा है कि वह मायापुर (जिस को वह "मो-यू-लो" कहता है और जो गंगा के तट पर था) से उत्तर की तरफ़ ३०० ली (१०० मील) "पो-लो-ली-हो-मो-पु-लो" (ब्रह्मपुर) प्रांत में आया। "यह राज्य (ब्रह्मपुर) गोलाई में ४००० ली (१३०० मील) है, और चारों ओर से पर्वतों से घिरा है। प्रधान नगर (राजधानी) गोलाई में (लम्बा चौड़ा) करीब २० ली (करीब ७ मील) है। बस्ती बड़ी घनी है। गृहस्थ लोग धनी हैं। जमीन अच्छी व उपजाऊ है। हर फ़सल के वक्त जमीन जोती व बोई जाती है। यहाँ ताँबे व पत्थर की खानें है। आब-हवा ठंडी है। लोग मज़बूत और अपढ़ हैं। बहुत ही कम लोग साहित्य का मनन करते हैं। अधिकांश लोग तिजारत में लगे रहते हैं।"[1]

गढ़वाल को ह्युएन्त्सांग ने ब्रह्मपुर राज्य कहा है।

ह्युएन्त्सांग कहता है कि ब्रह्मपुर प्रदेश के उत्तर में बर्फ़ से ढके पहाड़ हैं और तिब्बत की सीमा उस से मिली है। तिब्बत में सोना होता था। इस-लिए उस को चीनी परिव्राजक ने "सु-फा-ला-किह-ता-लो" (सुवर्णगोत्र) देश कहा है। यहाँ स्त्री राज्य करती थीं। पुरुष रण-क्षेत्र में रहते थे और कृषि करते थे। वहाँ गायें, भेड़ व घोड़े बहुत होते थे। इस में कोई संदेह नहीं कि ब्रह्मपुर प्रदेश गढ़वाल ही है। किंतु उस समय गढ़वाल (ब्रह्मपुर प्रदेश) की राजधानी (ब्रह्मपुर नगर) क्या थी इस में कुछ मतभेद है। कनिंघम

[1] बील, 'बुद्धिस्ट रेकर्ड्स अव् दि वेस्टर्न वर्ल्ड' (फ़्रम दि चाइनीज़ अव् ह्युए-न्त्सांग); ट्रुबनर्स ओरियंटल सीरीज़; पृ० १९८।

का ख़याल है कि ब्रह्मपुर प्रदेश का गढ़वाल और कुमायूँ दोनों जिलों से मतलब है। और संभवतः ब्रह्मपुर नगर रामगंगा पर प्राचीन लखनपुर था। किसी का यह भी ख़याल है कि ब्रह्मपुर बिजनौर जिले में वर्तमान बढ़ाहपुर है। एटकिनसन का कथन है कि हुयेन्त्सांग का ब्रह्मपुर वर्तमान टेहरी राज्य में बाड़ाहाट है। विवियन डी सेंट मार्टिन का विचार है कि ब्रह्मपुर गढ़वाल का सब से बड़ा शहर श्रीनगर है।[1]

हुयेन्त्सांग जो बात लिखता है बिल्कुल ठीक। पूरी जाँच व नाप तोल के बाद लिखता है। ब्रह्मपुर प्रदेश का वृत्तांत गढ़वाल जिले से ठीक मिलता है। हरद्वार से गंगा के किनारे यात्री का आगे बढ़ना और किसी बड़े नगर मे पहुँचना नितांत स्वाभाविक था। गढ़वाल, अलमोड़ा, नैनीताल किसी भी जिले मे पहाड़ों के बीच तिब्बत की तरफ ७ मील की गोलाई का स्थान मायापुर से १०० मील की दूरी पर सिवा श्रीनगर के और कोई नहीं। श्रीनगर क़रीब ३ मील लंबी व डेढ़ मील चौड़ी घाटी में है। इस की गोलाई ७ मील के क़रीब है। चारों तरफ़ पर्वत हैं। यहाँ से तिब्बत को सीधा रास्ता है। जो वृत्तांत (मायापुर से) चीनी यात्री ने ब्रह्मपुर का दिया है वह श्रीनगर के अलावा और किसी स्थान से नहीं मिलता है। बाड़ाहाट तो केवल १ फ़रलांग चौड़ा व दो फ़रलांग लम्बा है। बाड़ाहाट से और आगे क़रीब २० मील की दूरी पर एक भटवाड़ी गाँव है जिसे पहले ब्रह्मपुरी कहते थे। यह स्थान बाड़ाहाट से भी छोटा है और मायापुर से क़रीब १२५ मील की दूरी पर है। इस लिए सिवा श्रीनगर के और कोई स्थान ब्रह्मपुर हो ही नहीं सकता है।

जो कुछ खोज हम अब तक कर पाए हैं उस से हमें यही पता लगा है कि सत्रहवीं शताब्दी के पहिले साहित्य अथवा इतिहास में गढ़वाल के जिले के लिए 'गढ़वाल' शब्द प्रयोग नहीं किया गया था। साहित्य मे

[1] एटकिंसन, 'हिमालयन डिस्ट्रिक्ट्स अव् दि नार्थवेस्टर्न प्राविंसेज़ अव् इंडिया'। जिल्द २, पृ० ४५२, १८८४ का संस्करण।

सब से पहिले भूषण (सं० १६७०-१७५२ वि०) ने अपनी फुटकर कवित्त में गढ़वाल की प्रशंसा करते हुए गढ़वाल को 'गढ़वार राज' कहा है। भूषण ने केवल एक ही स्थान पर अपनी कविता में 'गढ़वाल'[1] शब्द का प्रयोग किया है। अन्यत्र अपने काव्य में भूषण ने गढ़वाल को 'श्रीनगर'[2] और 'सिरी नगर'[3] कहा है।

पहिले पहल 'गढ़वाल' शब्द कब गढ़वाल के लिये प्रयोग हुआ ?

इस के बाद साहित्य में मोलाराम के ऐतिहासिक काव्य 'श्रीनगर राज्य इतिहास' है जिस की रचना उन्हों ने सन १८०३ ई० में की। इस में मोलाराम ने गढ़वाल को भूषण की भाँति बहुधा 'गढ़वार' कहा है और कहीं गढ़वाल को 'गढ़' मात्र कहा है। यथा--

फतेसाह सरणाय के हुवे बहोत लाचार
सौंफ सैजादे को गये अपने ही गढ़वार ॥
गढ़ मही जाके जयनी कीनी।
जिनस सब हजरत की लीनी ॥

गढ़वाल के राजा को मोलाराम ने 'गढ़पति' कहा है--

सलेमशाह को पातिक लाग्यो।
तुम आये इन गढ़पति भाग्यो ॥

ब्रजभाषा जो कि वास्तव में हमारी काव्य और पद्य की भाषा है, उस में प्रायः 'ल' के बदले 'र' का प्रयोग करते हैं और तुक मिलाने के लिए 'ल' के बदले 'र' लिखते हैं। मोलाराम ने अन्यत्र कुछ स्थानों में 'गढ़वार' के बदले "गढ़वाल" भी लिखा है किंतु ऐसे पद्य बहुत कम हैं जिन में गढ़वाल लिखा हो। अधिकतर 'गढ़वार' और 'गढ़' शब्दों का ही प्रयोग किया है। एक स्थान पर मोलाराम लिखते हैं, कि जब सुलैमान शिकोह औरंगजेब

---

[1] 'गढ़वार राज पर राज जो बखानैगो' 'भूषण-ग्रंथावली', पृष्ठ ३०८

[2] 'श्रीनगर नयपाल जुमिला के छितिपाल।' वही, पृष्ठ २४

[3] 'मोरंग जाहु कि जाहु कमाऊँ सिरीनगरै कि कवित्त बनाये।' वही, पृष्ठ ९५

के हवाले कर दिया गया था तो उस ने श्राप दिया—'दिल्ली और गढ़वाल को राज भ्रष्ट हो जाय।'

सब से प्रथम गढ़वाल में यात्रा करने वाले पाश्चात्य यात्री कैप्टन टॉमस हार्डिक हैं। वे सन् १७९६ ई० के अप्रैल-मई में नजीबाबाद, कोटद्वार, बिलखेत, नैथाणा और खडा होते हुए श्रीनगर गए। उन्हों ने अपने भ्रमण-संबंधी निबंध का नाम दिया है—'श्रीनगर-यात्रावृतांत'[1]। उन्हों ने अपनी भ्रमण-पुस्तक में गढ़वाल शब्द का प्रयोग नहीं किया और इस जिले को श्रीनगर का मुल्क कहा है, गढ़वाल शब्द का प्रयोग उन्हों ने नहीं किया।

मिस्टर फ्रेज़र इस के बाद सन् १८१५ ई० के लगभग यमुनोत्री और गंगोत्री की तरफ़ (अलकनंदा के उस पार के) गढ़वाल में घूसे। उन की यात्रा का विवरण सन १८२० ई० में छपा। उन्हों ने अपनी भ्रमण-पुस्तक में गढ़वाल शब्द का प्रयोग किया है। सन १८२६ ई० में कैप्टन स्किनर मसूरी होते हुए यमुनोत्री गए। उन्हों ने गंगोत्री और यमुनोत्री वाले हिस्से को अर्थात् वर्तमान टेहरी राज्य को गढ़वाल नहीं माना। और न उसे गढ़वाल कहा, वरन् जब वे बंकूली से लुल्ली जाते वक्त एक रमणीय ऊँचे पहाड़ की चोटी पर पहुँचे तो उन्हों ने वहाँ से गढ़वाल के पहाड़ों को देखा। वास्तव में उन्हों ने शब्द Ghurudwall 'गढ़वाल' इस्तेमाल किया[2]। इस से यह स्पष्ट है कि उस समय तक अलकनंदा के उस पार के भाग (टेहरी राज्य) को गढ़वाल नहीं कहते थे। किंतु मालूम होता है कि अलकनंदा के इस पार के भाग को जिस में सन् १८१५ ई० में अंगरेजी राज्य की स्थापना होगई थी उस को 'गढ़वाल' प्रदेश सन् १८१५ ई० के लगभग कहने लग गए थे।

हम अब तक यहाँ निश्चित रूप से कहने के लिए तैयार नहीं कि किस

---

[1] कैप्टन टॉमस हार्डविक, 'ए नैरेटिव अव् ए जर्नी टु श्रीनगर'; एशियाटिक रिसर्चेज़, जिल्द ६, पृ० ३०९

[2] स्किनर, 'एक्सकर्शन्स इन इंडिया' जिल्द १, पृ० २६२ (लंदन, १८३२)

सन में व किस ने इस ज़िल को पहिल पहल गढ़वाल कहा किंतु हमारी खोज से हमें यहाँ पता लग सका है कि शायद १७९१ में जब गोरखाओं ने कुमाऊँ के रास्ते नेपाल से आकर गढ़वाल पर पहिले पहल आक्रमण किया और सन १७९२ ई० में श्रीनगर के राजा से संधि कर वापिस चले गए और जब वे फिर सन १८०३ ई० में गढ़वाल में आए और गढ़वाल के राजा प्रद्युम्न शाह को पराजय कर उन्हों ने गढ़वाल में अपना राज्य स्थापित किया तब यहाँ बहुत से (५२) गढ़ देख कर इस मुल्क को उन्हों ने गढ़वाल देश कहा। और जब अंगरेज़ी सेना ने गोरखों को गढ़वाल से सन १८१५ ई० में हटाया और अपना राज्य यहाँ अलकनंदा के इस पार स्थापित किया तो तब उन्हों ने गोरखों का अनुकरण करते हुए गढ़वाल नाम का प्रयोग इस मुल्क के लिए किया।

'गढ़वाल' नाम इस पर्वतीय प्रान्त को किस ने दिया?

कुमाऊँ के लोग अब तक गढ़वाल को 'गढ़' कहते हैं। कुमाऊँ के राजा पर गढ़वाल के राजाओं ने कई बार आक्रमण किए। यहाँ तक कि ललित शाह (सन १७८०-१७९१ ई०) ने अपने चारों पुत्रों के लिए एक एक राज्य छोड़ जाने के इरादे से अपने पड़ोसी राजाओं पर आक्रमण शुरू किए। कुमाऊँ के राज्य को जीत कर अपने एक पुत्र, प्रद्युम्न शाह को कुमाऊँ के राजसिंहासन पर बिठा दिया। संभवतः तब से कुमाऊँ के लोग इस प्राचीन केदारखंड अथवा उत्तराखंड प्रदेश को, यहाँ कई गढ़ होने के कारण 'गढ़वाल' और 'गढ़' कहने लगे। अर्थात् इस पर्वतीय प्रांत में ५२ गढ़ पहाड़ों की चोटियों पर थे। इन इतने गढ़ों को देख कर बाहर के लोगों ने इस ज़िले को गढ़वाला पहले पहल कहा हो। और उस से इस ज़िले को गढ़वाल कहने लगे।

[८]

प्राचीन काल में गद्य हिंदी ग्रंथों का अभाव

यह आश्चर्य की-सी बात प्रतीत होती है कि हिंदी के पुराने लेखक व

ग्रंथकर्त्ता गद्य में नहीं लिखते थे। जो कुछ लिखने लायक़ बात होती थी वह वे पद्य तथा तुकबंदी, में लिखते थे। भारतेंदु हरिश्चंद्र से पहिले किसी हिंदी के विद्वान ने कोई ऐसी पुस्तक हिंदी गद्य में नहीं लिखी, जिस का हिंदी साहित्य मे उच्च स्थान हो। इस के तीन कारण प्रतीत होते हैं—

हिन्दी में गद्य ग्रंथों के अभाव के कारण

(१) संसार के प्रायः सभी देशों में प्राचीन काल में रचना पद्य में हुआ करती थी। काव्य-रचना मे अलंकार व कल्पना का बहुत प्रयोग होता है, लेखक को अपना निबंध मनोहर बनाने का अच्छा मौक़ा मिलता है। इसी लिए ऐतिहासिक व सामाजिक घटनाओं का उल्लेख लेखक प्राचीन काल में पद्य मे करते थे। संस्कृत के ग्रंथ भी इसी प्रथा व मनोवृति के कारण पद्य मे लिखे जाते थे। जब कि संस्कृत से नाटकों की रचना होने लगी तब गद्य का प्रयोग नाटकों में होने लगा। किंतु तब भी गद्य को गौण स्थान मिलता था। इसी प्राचीन प्रथा के अनुसार हिंदी के लेखक व पंडित लोग भी जो कुछ विचार प्रकट करने हो या जो कुछ उन्हें कहना हो वह कविता बना कर प्रकट करते थे।

(२) चूँकि प्राचीन ग्रथ (संस्कृत में) पद्य में होते थे इस लिए हिंदी के प्राचीन लेखक भी अपनी रचना कविता मे लिपिवद्ध करने लगे। गद्य मे रचना करने वाले के लिए कोई आदरणीय नाम नहीं था, किंतु कविता बनाने वाले को लोग कवि कहते थे। इस लिए यदि किसी को चिरस्थाई बात कहनी या लिखनी होती थी तो वह कविता बना कर, और इस प्रकार कवि कहलाने का गौरव प्राप्त कर, उसे प्रकट करता था।

(३) तीसरा कारण यह है कि प्राचीन काल में पुस्तको के छपवाने की तो सुविधा थी ही नहीं, ग्रंथ के नक़ल करने में समय बहुत लगता था। कहां तक व कितनी प्रतियां एक पुस्तक की हाथ से लिखी या नकल की जा सकती थीं। इस लिए ग्रंथ कंठ करने होते थे और पद्य में की हुई रचना आसानी से याद हो सकती है। अस्तु अपने विचार व रचनाओं का प्रचार करने के हेतु लेखक लोग काव्यों की रचना करते थे।

(४) चौथा कारण यह प्रतीत होता है कि प्राचीन हिंदी के प्रायः सब ग्रंथ या तो किसी की प्रशंसा में हैं या किसी के गुणों का प्रदर्शन करने के निमित्त बनाए गए या कल्पित गुणों को दर्शाने के हेतु हैं; या संगीत या मनोरंजन के लिए या भक्ति-भजन हैं। इन सब को गाने की आवश्यकता होती है और कविता के रूप में ही ये गाए जा सकते हैं।

[९]

गढ़वाल के राजा के दरबार में कवियों का आगमन

विक्रमादित्य के दरबार में, नवरत्न नौ विद्याओं के पंडित थे। इसी प्रकार प्रत्येक राजा के यहाँ विशेष गुणज्ञ लोग रहते थे। कवियों और चित्रकारों के आश्रय और अन्नदाता तथा गुणग्राहक राजा ही होते थे। कवि लोग भी अपने अन्नदाता गुणग्राहक, राजा का उसी तरह गुणगान करना अपना धर्म समझते थे, जैसे कि मंत्री लोग राज्य-कार्य करना अपना कर्तव्य समझते थे। कवि लोग प्रशंसा के पुल बाँधते हुए राजाओं का इतिहास भी लिख डालते थे। कवियों की तरह चित्रकार भी राजाओं के मनोरंजन के हेतु और बहुधा धार्मिक दृष्टि से हिंदू राजाओं के दरबारों में पौराणिक व धार्मिक विषयों के और मुसलमान बादशाहों के दरबारों में बादशाह व उस के दरबार तथा आखेट इत्यादि शाही क्रीड़ा के ऐतहासिक चित्र बनाते थे।

प्राचीन काल में राजा कवि व चित्रकारों के गुणग्राहक होते थे।

हिंदुओं के सब से पवित्र पावन हिंदू तीर्थ बद्रीनाथ व केदारनाथ के मंदिरों की और ज्योतिर्पट (जोशीमठ) की स्थापना श्री शंकराचार्य ने की थी। श्रीनगर (गढ़वाल) का राजा बद्रीनाथ का संरक्षक माना जाता है। गढ़वाल के राजा की गद्दी को बद्रीनाथ की गद्दी कहते हैं। बद्रीनाथ के पूजा-सत्कार्य का दायित्व गढ़वाल के राजा पर है। बद्रीनाथ की यात्रा को आने वाले कवि व पंडित तथा अन्य विद्वान

श्रीनगर (गढ़वाल) के राजा के दरबार में कवियों का आगमन।

बद्रीनाथ की यात्रा को जाते व उस से लौटते हुए श्रीनगर में कुछ समय ठहरा करते थे। भूषण के भाई मतिराम के गढ़वाल के राजदरबार में कुछ काल तक रहने का काफ़ी सबूत है। मतिराम ने तत्कालीन श्रीनगर-नरेश फ़तेहशाह (सन् १६९९—१७४१) की कवि-गुणग्राहकता के उपलक्ष में अपना काव्य 'छंदसार पिंगल' उसे ही समर्पित किया था।[1]

कवि शिरोमणि भूषण अपने काव्य 'शिवराज-भूषण' और फुटकर कविता में इस बात का पर्याप्त प्रमाण छोड़ गए हैं कि वह एक दो बार श्रीनगर के राजदरबार में आए थे। भूषण अपने काव्य में अपने श्रीनगर आने की चर्चा इन पदों में करते हैं:—

श्रीनगर में भूषण

श्रीनगर नयपाल जुमिला के छितिपाल,
भेजत रिसाल चौर, गढ़, कही बाज की।
मेवार ढुंढार मारवाड़ और बुंदेलखंड,
झारखंड बाँधौ धनी चाकरी इलाज की॥[2]

इस कवित्त से उन की श्रीनगर से जानकारी का परिचय होता है। आगे चल कर 'शिवराज-भूषण' में भूषण ने लिखा है—

मोरंग जाहु कि जाहु कुमाऊँ,
सिरीनगरै की कवित्त बनाए,
बाँधव जाहु कि जाहु अमेरि कि,
जोधपुरै कि चितौर ही धाए।
जाहु कुतुब्ब कि एदिल पै कि,
दिलीसहु पै किन जाहु बोलाए,
भूषन गाय फिरै महि में बनि,
है चितचाह सिवाहि रिझाये॥[3]

[1] श्रीश्यामसुंदरदास-संपादित 'सतसई सप्तक', पृष्ठ—३२

[2] 'भूषण-ग्रंथावली' (शिवराज भूषण), पृष्ठ २४।

[3] वही, पृ० ५५।

यहाँ पर भूषण कहता है कि उस ने उल्लिखित राजाओं के दरबारों में जा कर गाया (अपनी कविता सुनाई), उन की प्रशंसा का पात्र बना, किन्तु उस को तसल्ली सिर्फ शिवाजी के ही दरबार में आ कर होती है। अर्थात् शिवाजी ही भूषण के पूरे गुण-ग्राहक थे। 'सिरीनगर' के राजा के दरबार में आ कर भूषण ने कविता की और राजा को सुनाई, यह पहिली पंक्ति में सिद्ध है।

श्रीनगर उस समय गढ़वाल की राजधानी था। गढ़वाल में घरेलू बोल-चाल में अब तक श्रीनगर को 'सिरीनगर' कहते हैं। इसी तरह भूषण ने भी श्रीनगर को कहीं कहीं 'सिरीनगर' लिखा है। भूषण शिवाजी को भी उन के क़िले, सिंहगढ़, की वजह से गढ़पति कहते थे। गढ़वाल को उन्हों ने श्रीनगर के नाम से पुकारा है। किन्तु अपने फुटकर कवित्तों के २८ वें पद में उन्हों ने गढ़वाल को 'गढ़वार' कहा है और गढ़वाल की प्रशंसा निम्नलिखित पदों में की है—

> लोक ध्रुवलोक हू ते ऊपर रहैगो भारी ,
>
> भानु ते प्रभानि को निधान आनि आवैगो ।
>
> सरिता सरिस सुरसरी तें करैगो गहि ,
>
> हरितें अधिक अधिपति नाहि मानैगो ॥
>
> ऊरध—पराध ते गनती गनैगो गुनि ,
>
> वेद ते प्रमान सों प्रमान कछु आनैगो ।
>
> सुजस तें भल्यो सुख भूषण भनैगो बाढ़ि ,
>
> गढ़वार राज पर राज जो बखानैगो ॥२८॥[1]

अर्थात् अगर कोई गढ़वाल राज्य से बढ़ कर राज्य का वर्णन करे तो ध्रुवलोक से भी बढ़ कर भारी लोक ढूँढ़ना पड़ेगा। सूर्य से भी अधिक किरणों का घर ढूँढ़ना पड़ेगा। गंगा से भी अच्छी नदी ढूँढनी पड़ेगी। स्वर्ग पाताल में छान बीन कर के, वेदों से प्रमाण ढूँढ़ कर, विष्णु से अच्छा राजा जब मिले तब उस से गढ़वाल के राजा की तुलना हो सकती है।

[1] 'भूषण-ग्रंथावली', (श्रीशंकर पुस्तकमाला पुष्प ११), सम्पादक, विश्वनाथ प्रसाद, पृष्ठ २०८।

यह अत्युक्ति-पूर्ण प्रशंसा गढ़वाल की और गढ़वाल के राजा की भूषण ने की है।

मोलाराम श्रीनगर के राजा प्रद्युम्न शाह के समकालीन थे। मोलाराम का जन्म सन १७६० ई० में हुआ था। प्रद्युम्न शाह का सन १७६५ ई० मे। मोलाराम की मृत्यु सन् १८३३ मे और प्रद्युम्न शाह की मृत्यु सन १८०४ ई० में हुई। जब तक प्रद्युम्न शाह श्रीनगर गढ़वाल के राजसिंहासन पर रहे तब तक मोलाराम उन्हीं के दरबार में रहे और जब गोरखों ने प्रद्युम्न शाह से उन का राज्य छीन लिया और प्रद्युम्न शाह अपने भाई पुत्रों को लेकर श्रीनगर छोड़ कर गंगा (अलकनंदा) के उस पार, टेहरी के इलाके मे, चले गए तो मोलाराम गोरखा गवर्नर हस्थिदल चौतरिया के दरबार मे रहने लगे। गोरखा गवर्नर ने उन की पीठ ठोकी और उन से श्रीनगर के राजवंश का इतिहास पूछा। उसी इतिहास को मोलाराम ने कविता के रूप में हस्थिदल चौतरिया को सुनाया। इसी ऐतिहासिक काव्य से मोलाराम की कविता का कुछ अंश, मोलाराम की कविता का परिचय कराने तथा उस को संरक्षण करने के हेतु पाठकों की भेंट किया जाता है।

श्रीनगर दरबार में "कवि" मोलाराम

[१०]

गढ़वाल के राजवंश का इतिहास

मोलाराम के कथनानुसार जब गोरखा गवर्नर हस्थिदल ने मोलाराम से उन के पूर्वजों के आने का हाल और सुलैमान शिकोह के आने व जाने का वृत्तांत सुना और गढ़वाल के पराजय का कारण सुना तो—

गढ़राज की उत्पत्ति

हस्थिदल सुनि के इहै रीझे अति मन माही।
कहो गढ़राज की अब उत्पती देहो सुनाही॥

मोलाराम कवि कह्यो सौं ।
इम बूझत है सब कुछ तुम सौं ॥[१]

हस्तिदल के कहने पर व उस के अनुरोध करने पर मोलाराम ने, जिस प्रकार उन की सुनी हुई थी, गढ़वाल के राज-वंश की कथा हस्तिदल को सुनाई—

धारानगरी से चल्यो आयो एक पंवार ।
हरिद्वार वह नहाई के बस्यो आन गढ़वार ॥
केते दिवस भये गढ़ माहिं ।
खेती करे चाकरी नाहिं ॥
भौना ताको बालक भयो ।
एक दिन वह वन महि गयो ॥
सतनाथ जोगी तहँ आयो ।
उन अलोक हि तहाँ जगायो ॥
भौना देखि चरन सिर सन्यो ।
सतनाथ देखि आनंद भयो ॥
कह्यो नाहि सौ भूखो आयो ।
फिर्यो बहुत कहुँ अन्न न पायो ॥
....
....

सतनाथ जू ने कहि सुन बचा यह बात ।
रोटी तेरे पास है सो दे तू हमारे हाथ ॥
सुनि लड़का करुणामहि आयो ।
दृग भर नीर दो रोटी लायो ॥
रोटी सतनाथ जी के कर दीनी ।
दुहुँ कर जोरि दंडोत कीनी ॥

---

१ 'गढ़वाल राजवंश का इतिहास'—मोलाराम-कृत ।

यह सब जंगल में हुआ। इस के बाद भौना सतनाथ जी को अपने घर ले गया।

सतनाथ आलेक तह कीन्यो नाद बजाई।
माता आइ दौरि के परी जोगेश्वर पाई॥

सतनाथ ने माता से कहा—बहुत भूख लगी है। माता रोटी पकाती गई और भौना सतनाथ के सामने रखता गया।

पावै खाय होय फिर खाली।
माता रोटी कर कर हारी।
थकति भै अति ही अहितारी॥
बावन रोटी गिनती भई।
तब माता तह ने उठ गई॥

घर में जो कुछ आटा था, वह सब माता ने पका कर सतनाथ के सामने रख दिया था।

तब

जोगेश्वर बोले बानी।
नाहक तू मैया अकुलानी॥
हमसों कौल किया क्यों हारी।
हमको लागी यह न प्यारी॥
अंदर अन्न घना धरा, भर राखे कोठार।
ये बावन रोटी काम की, पाछे अहाचार॥
भौना जोगी पास बुलायो।
भौनापाल, यह नाम धरायो॥
बावन पुस्त राज वर दिन्यो।
निर उपाध सब ही से किन्यो॥
... ...
... ...

मोलाराम के कथनानुसार, यह वर दे के, कि ५२ पुस्त तक तो गढ़-

वाल मे भौनापाल के वशजों का राज्य अपनी पराकाष्ठा पर रहेगा, उस के बाद उस का विभव कम हो जाएगा, सतनाथ जोगी लोप हो गए

हस्तिदल व उस के दरबारियों के आग्रह करने पर मोलाराम ने दोहा चौपाइयों मे गढ़वाल के ५२ राजाओं के नाम गिना दिए। जिस वंशावली को टेहरी दरबार मानता हैं, उस मे जो नाम दिए हैं, उन में और मोलाराम के दिए नामों में कुछ भेद है। यथा मोलाराम आदिम पुरुष भौना (भवन) पाल को मानते हैं और उन के बाद अभयपाल, कर्णपाल और विशेषण पाल इत्यादि।

टेहरी दरबार की दी हुई वंशावली के अनुसार कनकपाल (सन् ६४८ ई०), श्यामपाल (६६५ ई०), पांडुपाल (७११ ई०) और अभिगत पाल (७५० ई०) इत्यादि थे। कैप्टन हार्डिक को जो वंशावली श्रीनगर में सन् १७६६ ई० में राजा प्रद्युम्न शाह ने स्वयं दी थी वह मोलाराम व दर्बार की वर्तमान वंशावली से नहीं मिलती है। किंतु नामो मे भेद शुरू शुरू में ही है। अजयपाल (सन् १३५८—१३७०) के बाद की वंशावली में बहुत कम भेद है।

मोलाराम ने अपने काव्य मे ५२ राजाओं के नाम हस्तिदल को बताते हुए अंत में कहा है:—

> मान साह तिन के भये दाता ज्ञाता सूर।
> स्याम साह तिनके भये बावन पुस्त मसूर॥
> श्रेपन सों घटिया सभी बात गढ़ माहि॥
> ... ...
> ... .

> यह सुनि के सब राजी भये।
> मळजस महि जे बैठिहि रहे॥
> हस्तीदल चौतरि कह्यो।
> आगे आगो क्यों कर भयो॥
> एक एक कर हमें सुनायो।
> प्रजा की सब व्यथा जनाओ॥

स्याम साह राजा क्या कीना ।
परजा कौं सुख दुख क्या दीना ॥
बावन गुस्त से कथा चलावो ।
आज नलक को सभी सुनावो ॥

(क्रमशः)

बाबू राधाकृष्ण दास की अप्रकाशित कविता

[प्रेषक—श्रीयुत ब्रजरत्नदास, बी० ए०, एल्-एल्० बी०]

बाबू राधाकृष्ण दास जी भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र के फुफेरे भाई थे और हिंदी साहित्य-क्षेत्र में उन्हीं का अनुगमन करने का इन्हों ने अंत तक प्रयत्न किया था। उन्हीं के समान साहित्य के कई अंगों पर इन्हों ने भी बहुत सी रचनाएँ लिखी थीं। अपना अंत काल आता समझ कर अपनी कुल रचनाओं का स्वत्व इन्हों ने काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा को वसीयत कर दिया था पर उस के अनुसार इन की रचनाओं को प्रकाशित करने का सभा ने कदाचित् अभी तक कोई प्रयास नहीं किया। सभा जो अब तक न कर सकी थी उसे बाबू राधाकृष्ण दास के परम सुहृद राय बहादुर बाबू श्यामसुंदरदास जी, बी० ए०, हेड अव् दि हिंदी डिपार्टमेंट, हिंदू यूनिवर्सिटी ने कर दिखलाया। इन्हों ने उन की समग्र रचनाओं का दो भागों में संग्रह किया, जिन में प्रथम भाग प्रकाशित हो चुका है। इस भाग में कविता, लेख, जीवन-चरित्र तथा नाटक संकलित किए गए हैं और उपन्यासादि दूसरे भाग में प्रकाशित होंगे। इस का जितना सुंदर तथा सस्ता संस्करण आप ने निकलवाया है उस के लिए वे हिंदी प्रेमी, विशेष कर स्वर्गीय बाबू राधाकृष्ण दास जी के संबंधियों के धन्यवादार्ह हैं।

बाबू राधाकृष्ण दास जी की कुछ कविताएँ अप्रकाशित रह गई हैं, जिन के विषय में उन्हों ने स्वयं अपने वसीयतनामे में लिखा था कि उन कविताओं को बाबू जगन्नाथदास जी 'रत्नाकर' यदि कृपा कर दुहरा दें तो वे प्रकाशित कर दी जायँ। पर अब तक कदाचित् उन कविताओं का पता नहीं लगा था या उन

पर ध्यान नहीं दिया गया था, जिस से वे प्रकाशित न हो सकीं। इधर पुराने कागजात खोजते हुए मुझे कुछ फटे-गले कागज के छोटे छोटे टुकड़े मिले, जिन पर बाबू राधाकृष्ण दास के हाथ की लिखी उन्हीं की कविताएँ थीं। ये टुकड़े इतने गले हुए थे कि अत्यंत सतर्कता से उन की प्रतिलिपि लेने पर भी कितनों के कई टुकड़े हो गए। एक कारण यह भी था कि उक्त बाबू साहब ने बड़े गले कागजों पर यह सब लिखा था और वे उन की अच्छे कागज पर प्रतिलिपि नहीं करा सके थे। इन कविताओं का यह संग्रह मेरे पास तैयार है। कहीं कहीं अवश्य सुधार मात्र कर दिया गया है, कोई रद्दोबदल नहीं है। दो तीन पद ऐसे भी मिले, जिन में दो तीन चरणों की कमी है और उपनाम 'दास' या नाम नहीं आया है, पर ये हैं उन्हीं के हस्ताक्षर में।

इस संग्रह के कुछ अंश इस विचार से प्रकाशित कर रहा हूँ कि यदि बाबू श्यामसुंदरदास उचित समझें तो वह मुझ से प्राप्त कर पूरे संग्रह को दूसरे भाग में स्थान दे कर उन अप्रकाशित कविताओं को भी स्थायी करें।

पद

बलिहारी या मान की जेहि कृष्ण मनायो।
बलिहारी वह मानिनी जिन लाल लुभायो॥
बलिहारी घन स्याम पिया को चरन दबायो।
बलिहारी यह 'दास' दरस करि नैन जुड़ायो॥ १॥

❦ ❦ ❦

हरि की कृपा परम उदार।
जे कबहूँ हरि शरण आवैं बरति तिन पैं दार॥
सकल काबहु विषय भटकत सठ विमुख नहिं होत।
धाइ गहि बाहँ उबारनि बहत भव-जल-स्रोत॥
मोह माया जटिल जड़ मति ननिकहू लहि खेद।
लखत दृश्य हरि-कृपा कौ बिना जाने भेद॥
घोर विपत्ति, कराल काल, कलङ्क-मेघ घिराय।
लखै सो लघु खेद के मिस सबै देत भगाय॥

झूठ ही अपवाद के मिस जस बढ़ावन हेत
कनक पै दै ताय जग में आदरित करि देत ॥
अरे शठ, तजि भ्रम शरण गहि हरि चरण की धूरि।
सदा 'राधाकृष्ण दासहिं' जो सजीवनि मूरि ॥ २ ॥

❧ ❧ ❧

जमुना के तीर तीर नव कदंब खंडी।
तहँ मंद पवन बहै स्वच्छ सुखद ठंडी ॥
लहलहे सब वृच्छ भए फूलन सों छाए।
मंद मंद फुही परति अधिक छवि बढ़ाए ॥
सुंदर हिंडोर रच्यो करि कै अभिलाखा।
फूलन सों झुकीं सबै कदमन की साखा ॥
राजैं दोउ श्याम गौर नवल प्रेम भीने।
लखि यह छवि अखिल 'दास' तन मन वारि दीने ॥ ३ ॥

❧ ❧ ❧

हरि तुव भक्त पैं है भीर।
भक्त वत्सलता रखन हित धाइये बलबीर ॥
पूर्व सतकृत तुव कृपा मम हृदय जनायो आय।
भक्ति को अंकुर मधुर प्रहलाद सम सुखदाय ॥
आइ सो हरि नाम की हिय-घर मचाई धूम।
कुढ़ीं सब इन्द्रिय जगत-सुख होत लखि महरूम ॥
ज्ञान औ विज्ञान युक्ति अनेक लाइ मिलाइ।
विषय सुख का दै प्रलोभन मन दियो बहकाइ ॥
सो अबोध प्रलुब्धि धारयो हिरनकस्यप रूप।
देत कष्ट अनेक ताकों चहत डारन कूप ॥
कबहुँ कामिनि परस काम-दवाग्नि जारत जाय।
कबहुँ उच्चऽभिलाप-गिरि लै जाइ देत गिराय ॥

कबहूँ सर्पपति-व्याल सों डसवाइ त्रासन हेत।
कबहूँ जल उपहास अग्नि प्रलोभ बहु विधि देत॥
पै डिगत नहिं सो अजहूँ जदपि सहत बहु त्रास।
रटत अविचल नाम तुव, तुव चरन को करि आस॥
रहि सके नहिं सुनत नव प्रह्लाद जन की टेर।
अब कृपानिधि कौन चूक लगाइ रहे अबेर॥
जौं न अब सुधि लेहु तौ यह असुर तौ ललकारि।
भक्त तुम्हरे भक्ति-अंकुर फेंकि है जु उपारि॥
निज दुहाई फेरि है तुव विजित देश मँझार।
ह्वै समर्थहु रहोगे तुम लाज मों सिर डार॥
त्यागि आलस बेगि चलि निज विरद लेहु सँभारि।
'दास राधाकृष्ण' को अब देहु संकट टारि॥ ४॥

❦ ❦ ❦

तुम बिन को राखै मेरो मान।

एहो प्रान जीवन-धन माधो परम प्रेम की खान॥
हौं अबला बिन बात रिसानी तुम न मनावत हारे।
ज्यों रिस बढ़ी दीन भए त्यों त्यों धन्य चरित्र तुम्हारे॥
निज धनु भूलि चरन तर लोटे सो कसकत हिय मेरे।
प्रेम भरे शुभ चरित मनोहर अति उदार हैं तेरे॥
छमिए चूक हमारे प्यारे परम दया के सागर।
अति अकुलाय मिले पिय प्यारी 'दास' प्रेम गुन आगर॥ ५॥

❦ ❦ ❦

ऐसे हैं अपराध हमारे।
तेलौं दंड देत नहिं स्वामी परम कृपा जिय धारे॥
जौं सेवक-करनी दिसि हेरैं तौ कहुँ कहाँ ठिकानो।
कायिक मनसा घोर पाप अगिनित नित नव मन ठानो॥

लाख लाख अपराध करैं तब एक पुन्य यदि आवै
लोक स्वारथ हीन हात नहिं कहो कहाँ ठहरावै।
जो तुव जन पग फूँकि धरत भुव, हाय नाथ तुव माया
घेरि कुसङ्ग तिनहुँ बोरति ज्यों रहै शुद्ध नहिं काया
जो लागैं हिसाब करि ताड़न तौ नरलोक महान
होय भस्म नरकाग्नि ज्वाल में शत यमलोक समान
जो नहि ताड़ैं सब कों भेजैं न्याय हेतु यम द्वार
तौ नहिं अधम जीव नरकनि तैं पाइ सकै उद्धार
तातें करि कै कृपा कृपानिधि करि लघु दंड विधान
नासत महा महा अघ कोटनि कोटनि मेरु समान।
यह उपकार न मानत हम सब महा स्वारथी जीव
तनिक दुःख पावत ही प्रभु की दूसत कृपा अतीव।
पै लखि करनी नहिं मुख मेरो कहन सुनन के जोग
'राधाकृष्ण दास' को तारो कै सुगवाओ भोग

❧ ❧ ❧

बृज के भाग की बलिहारी।
प्रगटे जहँ पूरण पुरुषोत्तम अनुपम लीला धारी।
भव-बाधा-हर सब सुख साधा राधा जग हितकारी
लै सब शक्ति मिलन प्यारे सों आकुल होइ पधारी।
बढ़्यो अनंद सिंधु लखि द्वै ससि मव मर्यादा टारी
बोन्यो बृज मंडल सुख खंडल मच्यो कुलाहल भारी।
एक तरंग उठी गोकुल तें रावल जाइ सिधारी
रावल तें उमगी दूजो इक गोकुल कियो सुखारी।
बहे सबै दुख द्वन्द जगत के मानि सबै विधि हारी
रहे कल्यान अनंद सुमंगल रतन अमोलक भारी.
अटपट बचन कहत नाचत सब मत्त भए नर नारी
कोउ राधा कोउ कृष्ण कहत कोउ राधाकृष्ण पुकारी।

छीर सिंधु निधि या सागर मैं सब सुख लै अवतारी ।
'राधाकृष्ण दास' तिहुँलोकन माच्यो जय जय कारी ॥ ७ ॥

❦ ❦ ❦

आजु जिय आनँद नाहिं समात ।
भयो पूत ब्रजराज नंद को अति सुंदर सब गात ॥
श्याम सुभग नव बदन लोचन दुख-मोचन सुखदाई ।
मंद हाँसि आनंद भरो यह हिय मे रही समाई ॥
सुंदरि नव छैरे चहुँ दिसि सों मंगल चार सजाई ।
जुरि आईं ब्रज नारी सगरी सब मिल देत बधाई ॥
नंद जसोदा आनंदित मन फूले इत उत डोलैं ।
दान देत जो कोउ जो माँगत मोहन को मुख खोलैं ॥
दौरि गो सुनराहि 'दास' जाइ तहँ मंगल गीत सुनायो ।
मन बाँछा पूरन भई वाकी प्रेम बधाई पायो ॥ ८ ॥

❦ ❦ ❦

पीर जिय सही परत नहिं हाय ।
इत के रहे भए नहिं उत के जीवन बीत्यो जाय ॥
नहिं धन नहिं विद्या नहिं पौरुष नहिं जग के सुख भोग ।
इत नाहिन प्रीतम प्यारे को अनुभव भयो वियोग ॥
नहिं पूरी जग विषय बासना नहिं पूरो अनुराग ।
भटकत ही से दिवस गए सब बिधि न लिख्यो सुख भाग ॥
छन मैं रंक भए छन राजा छन सुख छन दुख भार ।
गिरत उठत फिर गिरत सँभारत दिवस भए सब छार ॥
छन आसा नैराश्य छनक मैं छन गिलानि बिलखान ।
छन संदेह विदेह रंच इक असह तपत फिर प्रान ॥
प्राणनाथ तोहि तजि कोउ दूजो और न जग में मोहि ।
अकिंचन भटकत निज 'दासहिं' अब कृपा दीठि तन जोहि ॥ ९ ॥

❦ ❦ ❦

पढ़ि पढ़ि पंडित राज भये ।

मानहु अपने पीठ काँध पै पोथी लादि लये ॥

छट पट द्वैताद्वैत लरत ही जीवन बीति गये ।

परम धर्म हरि पद सेवा को सोचत तनिक न ये ॥

आपु परे अंधे कूआँ में औरन हू वे राह किये ।

मकरी से फँसि भरत जाल में सिद्ध न कछू भये ॥

छोड़हु झगरो बेद शास्त्र को युक्ति हु नित्य नये ।

हरि-पद 'दास' होइ है जब तब सब दुख दूर गये ॥ १० ॥

❧ ❧ ❧

दीजै विरह-यातना मोहिं ।

भये अनंत काल बिछुरे पिय भूले बिरह बिछोहिं ॥

बिरह ताप तन तपै अहर्निस नैनन बरसत नीर ।

प्राणनाथ प्रीतम पिय प्यारे भाखूँ होइ अधीर ॥

छिन नहिं ध्यान टरै दृग अंतहु ध्यावत श्याम शरीर ।

तपित मूरछित थकित छकित नित कथित हिए को पीर ॥

या वियोग दुख में आनंदित दिवस न जानूँ रात ।

'राधाकृष्ण दास' पागल को लखि लखि जगत लजात ॥ ११ ॥

❧ ❧ ❧

अँखियाँ हरि दरसन की प्यासी ।

सदा रूप रस रहत छकी सी मोहन प्रेम प्रकासी ॥

महा कुलच्छन कुलटा पापिन बिगरि गईं ये ब्वासी ।

अतिहि मगन रहतीं निसि वासर प्राणनाथ की दासी ॥ १२ ॥

❧ ❧ ❧

नाथ क्यों इती कृपा या दीन पै ।

परम स्वारथी कीट विषय को अधमाधम गुन हीन पै ॥

अंगीकार करत क्यों दीखत वस्तु समर्पन कीन पै ।

आलस करत लेत कहि कहि तौ यहि या छीना छीन पै ॥

जानत नाहिं होन गुन रीते जो सब पतित कुलीन पै ।
'राधाकृष्ण दास' अनुरागो करम-हीन गुमलीन पै ॥ १३ ॥

❦ ❦ ❦

प्रेम ही जग को जीवन प्रान ।
स्यामा स्याम प्रेम आधारन मंगलमय सुभ नाम ॥
बिना प्रेम कछु सार नहीं जग, झूठो सबै धकाम ।
रहिये यासों होइ काहि को 'दास' सदा बेदाम ॥ १४ ॥

❦ ❦ ❦

मन न तक प्रेमिक सों प्रीति ।
तनमय ह्वै प्रिय प्रानहिं ध्यावहु छाँड़ि सकल जग रीति ॥
सोवत जागत बैठत डोलत ग्रीषम बरसा सीत ।
काम अकाम रैन दिन पल छिनु भजिए श्री नवनीत ॥
नैनन देखहु स्याम सुंदर तन कानन हरि गुन गीत ।
श्री अँग सुगंध नासिका पूरित मुख सों मोहन मीत ॥
महाप्रसाद स्वाद जिह्वा में कंठ माल पट पीत ।
हृदय बिराजै मोहन मूरति टरै न छिनु उतईत ॥
तन मन धन सेवा में तत्पर त्यागि जगत परतीत ।
रोम रोम रमि रहौ स्याम में वाही सों हुकरीत ॥
या असार संसार सिंधु में कोऊ मीत न फीत ।
केवल एक प्रेममय मोहन प्रेमीजन को मीत ॥
जो अनुपम सुख लहन चाहत छाँड़हु मीति अनीत ।
नेह जोरि या प्राण रमन सों रहु तू 'दास' ह्वै क्रीत ॥१५॥

❦ ❦ ❦

दोहा

नव कुमारता नव बयस, नवल नवल अनुराग ।
सब ही आसिक अलि बनी, पै नहिं हमरे भाग ॥ १ ॥

निज जन पूरण काम।
रसिकशिरोमणि प्रेमनिधि, जय जय श्री घनश्याम॥
दुखित देखि निज जन तुरत, द्रवत सुकृपा निकेत।
दया-ऐन घनश्याम तोहि, भाखत याही हेत॥
अधरन रस राची मिसी, अतिसय सोभा देत।
मनु रँग पिय को श्याम लगि, मुख चुम्बत करि हेत॥
चख-चकोर प्रमुदित कियो, चंद्रानन दरसाय।
केहि हित बादर सों लियो, घूँघट ओट दुराय॥
अँखियाँ सुखियाँ ही रहत, करि प्यारे को ध्यान।
बरसि सुधा छतियान पैं, करत सुशीतल प्रान॥
पल-फाटक भ्रुव-असि बरुनि, पहरू बिकट लगाय।
पिय-मन पुतरिन धरि कस्यो, अंजन-डोर बँधाय॥
लाज भरीं अमृत भरीं, पिय तन लखि मुँदि जाहिं।
पिय-मन जोअत धरि मनौ, प्रेम-संपुटी माहिं॥
श्री हरि चरण-सरोज-रज, धारि हृदय सानंद।
निसि बासर निरभय रहत, त्रासै नहिं यम-फंद॥
रसिक बधन तुव नैन-शर, कहा नाहिं उपयुक्त।
बिष प्रयोग जो करत तू, करि कमल-संयुक्त॥ १
जयति नवल श्री राधिका, प्रेममूर्ति गुन धाम।
नेह डोर सैं बँधि रहे, जाके श्री घनश्याम॥ १
इन नैनन कों रुचत यह, जुगल रूप रसखान।
नेह करन मधुरो हँसन, प्रेम-रूप अरु मान॥ १
प्रियतम-विरह-समुद्र धँसि, प्रियतम-मय भइ बाल।
प्रेम-मगन प्रियतम समुझि, निसि दिन रहत निहाल॥ १
इती रुखाई कौन हित, अहो मित्र सुख दैन।
हम निसि दिन तरसत रहैं, दरसन बिनु नहिं चैन॥

मुख मुख पूरन चन्द सखि, वाके नैन चकोर
घन घुमड़े इत नेह के, लखि नाचत मन मोर ॥१५॥
हाय सनेही आपुने, छिनही छिन बिछुरंत ।
एक घाव पूजत नहीं, दूजो हृदय करंत ॥१६॥

कुंडलिया

जय महरानी राधिका, जै बृजपति घन स्याम ।
जै सुंदर बृन्दा विपिन, प्रेम-रूप बृज-धाम ॥
प्रेम-रूप बृज धाम प्रेम सों सींचे तरु-गन ।
जय बृजबासी लोग प्रेम रंगे जिनके मन ॥
जय पसु पंछी मोर पियत अमृत तजि कै भय ।
जय पवित्र बृज-भूमि सबै बृज मंडल जय जय ॥१॥

सब ही तन समुहाति छिन, चलत सबनि दै पीठ ।
वाही तन ठहरात इक, किबिलनुमा लौं दीठ ॥
किबुलनुमा लौं दीठि घूमि बिडर्यो सगरो जग ।
शिव भैरव देवी गणेश रिषि गणहू मग मग ॥
पै कहुँ रुकत न छनिक प्राण प्रिय देखे बिनु मन ।
पारा सों ढँगलात जात निरखत सब ही तन ॥२॥[1]

कब लो चूमि चढ़ाइ सिर, हिय लगाइ भुज भेंटि ।
लखि पाती पिय की लिखी, बाँचति धरति समेटि ॥
बाँचनि धरति समेटि देखि कै हिय मैं हुलसै ।
करि करि पिय की याद बिरह अगिनी सों झुलसै ॥
देखि पिया को लेख धरति पुनि पुनि अँखियन पर ।
नीर बहाइ बहाइ 'दास' मींजत अँखियन कर ॥३॥[2]

[1] यह कुंडलिया बिहारी के दोहे पर है, जिस की 'बिहारी-रत्नाकर' में ३० वीं संख्या है ।

[2] " " " ६३५ "

नासा मोरि नचाइ दृग, करी कका की सौंह।
काँटे सी कसकति हिये, गरी कटीली भौंह॥
गरी कटीली भौंह कसकती हिय मैं मेरे।
कहा कहूँ सखि रहत सदा अलकावलि घेरे॥
'दास' होत बेचैन भई सुधि सुंदर नासा।
चमकि गई भरि रोस चकित भो देखि तमासा॥४॥[1]

सवैया

प्यारे मुकुन्द तिहारी कृपा बलिहारी,
न छाड़ति है बरजोरनि।
प्रेम के मारग को रग पाइ,
लग्यो भटकाइ वृथा मन मोरनि॥
जानि कै होइ अजान करैं करतूत,
सबै ही महा कुल-बोरनि।
'दास' अभागन भागन की निधि,
घोस करैं हम यत्न करोरनि॥१॥

मोहन की यह मोहिनी मूरति,
जीय सों भूलत नाहिं भुलायें।
छोरन चाहत नेह को नातो,
कोऊ विधि छूटत नाहिं छुराये॥
'दास जू' छोरि कै प्यारे हहा,
हमैं और के रूप पै जाइ लुभाये।
भूलि सकै अब कौन जिया जन,
तो हँसि कै पहिले ही चुराये॥२॥

[1] यह कुंडलिया बिहारी के दोहे पर है, जिस की 'बिहारी-रत्नाकर' में ४०६ वीं संख्या है।

घनाक्षरी

जाके काज सक तजि गुरुजन निसक ह्वै के,
केवल एक दरस ही की इच्छा अभिलाख्यो है।
सोई मोहि देखि मुख फेरि वहराइ जात,
भूलेहू न बचन-सुधा कानन पिच नाख्यो है॥
दीन भई डोली बिलखाइ नित हाहा खाइ,
तऊ नेकु हिय में न दया-रस माख्यो है।
जानि परयो भेद आजु प्राननाथ प्यारे यह,
दीनानाथ नाम काहू दीन ने न राख्यो है॥१॥

अधम हू ते अधम सुनीचन को पातसाह,
पापी कुल-नायक सबै विधि निकाम है।
पतितन को राजा महाराजा सब दुष्टन कों,
धूरत-शिरोमणि अरु निमकहराम है॥
सब ही बुराई को सत्त होन हू पै यह,
'राधाकृष्णदास' को पियारे जू कलाम हैं।
चाकर तुव चाकर को, दास तेरे सेवक को,
पद-धूलि भक्तन को गुलाम को गुलाम है॥२॥

जाकी समताई को न और भूप सके पाइ,
जा कुल की जगत माहिं जाहिर विचित्रता॥
हिन्दूपति हिन्दू-कुल-कमल-दिनेश जासु,
दिपत दिगंत माहिं कीरति पवित्रता॥
दिल्लीपति अकबर से पायो नाहिं जासु प्रेम,
रहे हारि करि करि कै लाखन चरित्रता।
सोई देखि साँची प्रीति 'दास' आज होत भई,
अटल उदैपुर सों लंदन की मित्रता॥३॥

वेई सखि सूरज नछत्र नभ मंडल में,
वेई मंद मंद पौन गातनि परसि जात।

वेई तरु पल्लव पुहुप भुव लहलहात
वेई मधुरे सुर पशु पक्षी चहकि जात ॥
वेई गृह वेई साज बाज वे कुटुंबी जन,
वेई 'दास' हम वे सुगंध हू महकि जात ।
हाहा प्रान प्यारे एक बिछुरे तिहारे आजु,
सब ही समाज और भोर ही बहकि जात ॥४॥

समालोचना

कोष

हिंदुस्तानी कोष—संपादक, श्रीयुत रामनरेश त्रिपाठी। प्रकाशक, हिंदी मंदिर, इलाहाबाद। साइज़ २०×३० सोलहपेजी। पृष्ठ ७०८। मूल्य २) सजिल्द। १९३३।

यह कोष हिंदी के अन्य कोषों से कुछ विभिन्न है और एक विशेष उद्देश्य से संग्रह किया गया है। कोषकार का वक्तव्य है कि हिंदी में अब तक और जितने कोष तैयार हुए हैं वह हिंदी के न होकर वास्तव में अवधी, ब्रजभाषा और खड़ी बोली के मिश्रित कोष हैं। कोषकार हिंदी का एक व्यापक अर्थ लेता है। उसका कहना है कि "हिंदी, जो केवल हिंदुओं की भाषा न कहला कर संपूर्ण हिंद अर्थात् हिंदुस्तान की भाषा के अर्थ में व्यवहृत हो रही है और जो राष्ट्रभाषा और हिंदुस्तानी नाम से भी प्रसिद्ध है, अपना एक स्वतंत्र रूप रखती है...हिंदुस्तान की राष्ट्रभाषा होने के कारण अब अवध और ब्रज का संकुचित क्षेत्र ही नहीं, बल्कि विशाल भारत उसके विकास का क्षेत्र बन गया है।...इस कोष मे जहाँ संस्कृत के तमाम तत्सम और तद्भव शब्द आ गए है जो हिंदी की पुस्तकों और पत्रों में चल रहे हैं, वहाँ अरबी, फ़ारसी, तुर्की, और अन्य विदेशी भाषाओं के शब्द भी साथ-साथ कर दिए गए है जो उर्दू की दुनियाँ में चलते हैं।" इन अन्य विदेशी भाषाओं के शब्दों मे अधिकांश अंग्रेज़ी हैं, जिन्हें लेखक ने हिंदुस्तानी मान लिया है। यद्यपि यह कहना ठीक न होगा कि अब तक प्रकाशित हिंदी कोषों मे अरबी, फ़ारसी, तुर्की और अन्य विदेशी भाषाओं के शब्दों का बहिष्कार हुआ है, तथापि यह यथार्थ है कि ऐसे शब्दों का इस कोष में अधिक संख्या में

समावेश किया गया है।

कोषकार हिंदी तथा उर्दू को भिन्न भाषाएं नहीं मानता। उस का कहना है कि यह दोनों एक ही भाषा के दो भिन्न रूप मात्र हैं। उस का उद्देश्य इन दोनों के भेदों का दूर करना है और इस कार्य के लिए एक तीसरे रूप अर्थात् हिंदुस्तानी के माध्यम की सहायता लेनी उसे आवश्यक जान पड़ती है।

लेखक का यह विचार पुराना है। परंतु इस विचार को व्यवहारिक रूप देने का एक विशेष अवसर हुआ। अप्रैल सन १९३२ की 'हिंदुस्तानी' में लेखक ने 'हिंदी या हिंदुस्तानी' शीर्षक एक लेख प्रकाशित कराया था। इस लेख में लेखक ने अपने निजी विचारों का प्रतिपादन किया था। परंतु उसे लेकर हिंदी पत्रों में बड़ा शोर मचा और लेखक पर तरह तरह के आक्षेप हुए। यह कहा गया कि लेखक एकेडेमी के प्रभाव से प्रेरित होकर हिंदी-उर्दू को एक करना चाहता है। लेखक का कहना है कि "सब को अलग-अलग उत्तर देने की अपेक्षा मैंने यह उचित समझा कि मैं अपने उत्तर को इस कोष के रूप में अधिक स्पष्ट करके शिक्षित वर्ग के सामने रक्खूँ।"

हिंदी-उर्दू के व्याकरणों में भेद नहीं। इस कोष के संग्रह-कर्त्ता का उद्देश्य ऐसे शब्द-भंडार का प्रस्तुत करना है जिसे समान रूप से दोनों रूपों के समर्थक ग्रहण कर सकें। वह हिंदी-उर्दू में केवल लिपि का अंतर स्वीकार करता है। लिपि के संबंध में यह डाक्टर सर शाह मुहम्मद सुलैमान के नीचे लिखे वक्तव्य का समर्थन करता है—

"नागरी और उर्दू लिपि का विवाद भाषा से उतना संबंध नहीं रखता जितना कि राजनीति से। किसी विशेष प्रकार की लिपि का व्यवहार विशेषकर भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की प्रवृत्ति या इच्छा पर निर्भर है। इस लिए लिपि को अधिक महत्त्व न देना चाहिए। किसी विशेष लिपि का अपनाना बिल्कुल लोगों की इच्छा पर निर्भर है। कोई विशेष लिपि गढ़ी जा सकती है, कहीं से ली जा सकती है तथा हठात बदल या त्याग भी दी जा सकती है। इस प्रकार के परिवर्तन संसार में सभी जगह हो चुके हैं। परन्तु टर्की को छोड़कर

इस प्रकार के परिवर्तन अधिकतर क्रमशः और धीरे-धीरे इस तरह हुए हैं कि लोग जल्दी ही उन्हे भूल भी गए हैं। किसी भी लिपि की कृत्रिमता हम उस समय तुरंत जान सकते हैं जब कि हम देखते हैं कि कुछ भाषाएँ भिन्न-भिन्न समयों में भिन्न-भिन्न रीति से लिखी गई हैं। इस बात का अब पता लग गया है कि मेक्सिकन चित्र-लिपि नीचे से ऊपर की ओर लिखी जाती थी। चीनी लिपि ऊपर से नीचे की ओर, सेमिटिक भाषायें दाहिने से बायें ओर को लिखी जाती हैं। संस्कृत तथा इससे उत्पन्न भाषायें बायें से दाहिने को लिखी जाती हैं। यद्यपि संस्कृत भी जब खरोष्ठी लिपि में लिखी जाती थी तब दाहिने से बायें को लिखी जाती थी। ग्रीक भाषा एक समय बायें से दाहिने को लिखी जाती थी, पर बाद में यह उस ढंग से लिखी जाने लगी, जैसे बैलों से हल जोता जाता है; अर्थात् क्रम से एक बार दाहिने से बायें और फिर बायें से दाहिने। यदि एक पंक्ति दाहिने से बायें लिखी गई तो उसके बाद की पंक्ति वहीं से आरम्भ होगी जहाँ पहली पंक्ति समाप्त हुई थी और यही क्रम बराबर चलता रहेगा। बाद में यह प्रथा छोड़ दी गई और फिर बराबर बायें से दाहिने को लिखने की प्रथा चल गई। उपरोक्त वर्णन से यह स्पष्ट होजाता है कि किसी विशेष लिपि का अपनाना स्वेच्छा पर निर्भर है जब चाहें तब हम इसमें परिवर्तन या इसका त्याग कर सकते हैं।"

कोषकार ने स्वीकार किया है कि कोष पूर्ण नहीं। वास्तव में इस में बहुत से ऐसे अंग्रेज़ी शब्दों का समावेश कर लिया गया है जिन्हें हिंदुस्तानी कहने में संकोच होगा। इसी प्रकार संस्कृत के तथा फ़ारसी-अर्बी के ऐसे शब्द ले लिए गए हैं, जिन्हें उर्दू अथवा हिंदी वाले सहसा हिंदुस्तानी न मान सकेंगे। ग्रामीण शब्द भी कुछ ऐसे ले लिए गए हैं जो कदाचित् ग्राह्य न हों। परंतु जिस सिद्धांत पर यह कोष बना है इन से उस में अंतर नहीं पड़ता। यह एक अकेले व्यक्ति का प्रयत्न है और इस के आधार पर आगे विशेष रूप से कार्य किया जा सकता है तथा त्रुटियाँ दूर की जा सकती हैं।

लेखक का प्रयास प्रशंसनीय है, उसे अपने उद्देश्य में कहाँ तक सफलता प्राप्त हो सकेगी यह कह सकना अभी कदाचित् संभव नहीं।

स्वास्थ्य-विज्ञान

स्वास्थ्य और रोग—लेखक, डाक्टर त्रिलोकीनाथ वर्मा, डी० एस-सी०; एम० बी० बी० एस०, डी० पी० एच०। लेखक द्वारा प्रकाशित और साहित्य-भवन लिमिटेड से प्राप्त। आकार २०×३० सोलहपेजी। पृष्ठ ९००। सचित्र। मूल्य ७)। १९३२।

पिछले दो-तीन वर्षों मे स्वास्थ्य-विज्ञान संबंधी कई ग्रंथ हिंदी में प्रकाशित हुए हैं और इन मे कुछ बृहदाकार भी है। यह कहने में विशेष संकोच न होना चाहिए कि उन सभी ग्रंथों में समालोच्य ग्रंथ सब से अधिक प्रामाणिक तथा वैज्ञानिक ढंग से लिखा गया है। 'स्वास्थ्य और रोग' पुस्तक के लेखक डाक्टर त्रिलोकीनाथ वर्मा से हिंदी संसार अच्छी तरह परिचित है। आप की पहली पुस्तक, 'हमारे शरीर की रचना' ने हिंदी-जगत मे ख्याति तथा आदर प्राप्त किया है। उच्चकोटि की पाश्चात्य शिक्षा-प्राप्त अपने देशवासियों को हिंदी भाषा के भंडार को भरने के लिए उद्यत देख कर हर्ष होता है। हमें पूर्ण आशा है कि जिस प्रकार डाक्टर वर्मा की पहली पुस्तक का आदर हुआ था, उसी प्रकार प्रस्तुत पुस्तक का भी आदर किया जायगा।

पुस्तक मे उन सभी विषयों की चर्चा आ गई है जिन का हमारे स्वास्थ्य से संबंध है। स्वास्थ्य को उत्तम बनाने की विधियाँ और भाँति भाँति के भयानक रोगों के कारण तथा उन से बचने के उपाय बताए गए है। इसी प्रकार भोजन, व्यायाम तथा काम-संबंधी सिद्धांत तथा व्यवहार की बातों को सरल भाषा में समझाने का प्रयत्न किया गया है। यह स्पष्ट है कि इन विषयों के अंतर्गत ऐसे अनेक प्रसंग हैं जो विवादग्रस्त हैं। डाक्टर वर्मा ने ऐसे अवसरों पर अपने निजी मत को कारणों सहित निर्दिष्ट करने में संकोच नहीं किया है।

पुस्तक की भाषा सरल और स्पष्ट है। विषय को समझाने के लिए चार सौ से अधिक चित्रों का उपयोग किया गया है और इनमें कई रंगीन चित्र है। इन चित्रों में अधिकांश ऐसे हैं जो इसी पुस्तक के लिए तैयार किए गए हैं।

पुस्तक का एक मूल्यवान् अंग उस से संबद्ध पारिभाषिक शब्दों का कोष

है। ज्यों ज्यों हमारी भाषा उन्नति करेगी त्यों त्यों ऐसे शब्दों का हमारा भंडार बढ़ता ही जायगा। इन पारिभाषिक शब्दों की गढ़ंत के संबंध मे दो मत है। एक तो यह कहता है कि जिस विषय के पारिभाषिक शब्दों का कोष बने उसके मान्य पंडित एकत्र होकर शब्दों का संग्रह तथा उनके पर्यायवाची शब्दों की गढ़ंत करें। दूसरा मत यह है हमारे भिन्न भिन्न वैज्ञानिक विषयों के लेखक अपनी पुस्तकों मे ऐसे पारिभाषिक शब्दों की गढ़ंत करके, उनका प्रयोग कर ले। जब इस प्रकार की कुछ सामग्री एकत्र हो जाय तो आगे चल कर स्वयं जनता उचित शब्दों को ग्रहण कर लेगी, दूसरों को छोड़ देगी। दोनों ही मतों में सार है परंतु निस्संदेह दूसरा मत अधिक व्यवहारिक है। और इसी मत के अनुकरण में डाक्टर वर्मा ने पारिभाषिक शब्दों की गढ़ंत की है। एक बार जब पारिभाषिक शब्द ध्यानपूर्वक गढ़ लिए जायँ तो आवश्यक है कि जब तक बहुत विशेष कारण न हो अन्य लेखक भी उसी का अनुसरण करे।

डाक्टर वर्मा के दिए हुए पारिभाषिक शब्दों को देखकर यह जान पड़ता है कि उन्होंने इस कार्य में विशेष परिश्रम किया है। थोड़ा बहुत मतभेद तो सदा हो सकता है और इस विषय का निर्णय विशेषज्ञों के हाथ में रहेगा परतु अधिकांश पारिभाषिक शब्द जो यहाँ दिए गए हैं उपयुक्त और ग्राह्य हैं, और अन्य लेखकों को ग्रहण करने चाहिए।

समालोच्य पुस्तक और प्रकार से इतनी अच्छी है कि इसके दोष-निरूपण करने में संकोच होता है। परंतु एक त्रुटि ऐसी है जिसका बताना आवश्यक है। लेखक ने इस स्वास्थ्य-विज्ञान की पुस्तक में बहुत स्थलों पर समाज-सुधारक का वेश धारण कर लिया है। इसमे संदेह नहीं कि बहुत से ऐसे विषय हैं जिन पर समाज-सुधारक तथा डाक्टर दोनों ही की दृष्टि पड़नी चाहिए। तो भी दोनों की सीमाएँ भी हैं। वक्तव्य यह है कि इस सीमा को लेखक कई स्थलों पर पार कर गया है और धार्मिक विश्वास इत्यादि के संबंध मे ऐसी बातें कह गया है जिनकी कदाचित् स्वास्थ्य-विज्ञान संबंधी पुस्तक में आवश्यकता न थी। अपनी भूमिका में लेखक ने लिखा है कि—"जिन

बातों का जानना मैंने अपने देशवासियों के लिए आवश्यक समझा उनको मैंने निडर होकर लिखा है। मैं जानता हूँ कि कुछ लोगों को सत्य अत्यंत अप्रिय होता है और ऐसे लोग स्पष्टता से खुश न होंगे परंतु मुझे इससे क्या मतलब, वैज्ञानिकों को किसी व्यक्ति की खुशी और नाखुशी से क्या लेना ?" आपत्ति की बात तो यह है कि पुस्तक में कुछ ऐसे स्थान हैं, वैज्ञानिक दृष्टि से जिनका होना आवश्यक हो न था। कई स्थलों पर तो ऐसा जान पड़ता है कि लेखक डाक्टरी शिष्टाचार का भी उल्लंघन कर गया है। केवल एक स्थल का हम यहाँ निर्देश करेंगे। पृष्ठ ३६१ पर चित्र ११६ के नीचे लिखा है--"शक्कर, घी और चावल खाकर, बिना शारीरिक श्रम किए कपट बल से दूसरों का माल हड़प करके सेठ जी ने अपनी और सेठानी जी की थोंद निकाली है।" निस्संदेह 'कपट बल से...' इत्यादि शब्दों की वैज्ञानिक दृष्टि से आवश्यकता न थी और यह डाक्टरी शिष्टाचार के भी विरुद्ध है। अन्य ऐसे स्थल भी हैं जहाँ वर्ग विशेष को व्यर्थ आघात पहुँचाया गया है। आशा है आगामी संस्करण में ऐसी आपत्ति-जनक बातें दूर कर दी जायँगी। इस से पुस्तक की उपयोगिता में कमी न होगी।

पुस्तक की छपाई बहुत सुंदर हुई है।

भाषा-शास्त्र

ग्रामीण हिंदी--संग्रहकर्त्ता, श्रीयुत धीरेंद्र वर्मा, एम० ए०। प्रकाशक, साहित्य-भवन लिमिटेड, इलाहाबाद। साइज़ फुलस्केप सोलहपेजी। पृष्ठ १२८। १९३३।

इस संग्रह को प्रकाशित कर के श्रीयुत धीरेंद्र वर्मा जी ने भाषा-शास्त्र के विद्यार्थियों का बड़ा उपकार किया है। अब तक हिंदी में कोई भी ऐसी सुलभ और उपयुक्त पुस्तक न थी जिस के द्वारा हिंदी की विभिन्न ग्रामीण बोलियों से परिचय प्राप्त किया जा सके। निस्संदेह ग्रियर्सन द्वारा संपादित 'लिंग्विस्टिक सर्वे' की जिल्दों में इस विषय की प्रचुर सामग्री उपस्थित है। परंतु सर्व साधारण के लिए यह बृहदाकार और अपने मूल्य के कारण प्रायः अलभ्य है। वर्मा जी के इस संग्रह के प्रकाशन के उपरांत यह आशा की जाती है कि उपरोक्त अभाव का अनुभव न होगा।

पुस्तक सुसंपादित है। ग्रामीण बोलियों के नमूने देने से पूर्व योग्य संग्रहकर्ता ने एक 'परिचय' दिया है जिस में संक्षेप में परंतु स्पष्टता के साथ हिंदी, खड़ी बोली, हिंदी के साहित्यिक रूपों तथा हिंदी की ग्रामीण बोलियों की व्याख्या की है। इस व्याख्या के अंतर्गत हिंदी शब्द की व्युत्पत्ति; हिंदी भाषा का भाषा शास्त्र की दृष्टि से और प्रचलित अर्थ तथा प्रभाव का क्षेत्र, खड़ी बोली हिंदी; आधुनिक साहित्यिक हिंदी और उर्दू में साम्य तथा भेद; उर्दू भाषा का जन्म तथा विकास; उर्दू का साहित्य में प्रयोग; हिंदुस्तानी आदि विषयों पर चर्चा की गई है।

ग्रामीण बोलियों में खड़ी बोली, बांगरू, ब्रजभाषा, कनौजी, बुंदेली, अवधी, बघेली, छत्तीसगढ़ी तथा भोजपुरी के नमूने दिए गए हैं। इन में से कुछ तो 'लिंग्विस्टिक सर्वे' से उद्धृत हैं, कुछ संग्रहकर्ता ने आप एकत्र किए हैं। अधिकांश नमूने रोचक कहानियों के रूप में हैं जिन से भाषा संबंधी ज्ञान के साथ पर्याप्त मनोरंजन भी होता है।

ग्रामीण बोलियों के साथ साहित्यिक खड़ी बोली के भी नमूने दिए गए हैं। साहित्यिक खड़ी बोली के निम्न विभाग किए गए हैं और प्रत्येक के उदाहरण भी हैं:—साहित्यिक उर्दू (क्लिष्ट और साधारण), बेगमाती उर्दू (लखनऊ), साहित्यिक हिंदी (क्लिष्ट और साधारण), साहित्यिक हिंदी (हिंदुस्तानी के निकट) और साहित्यिक हिंदुस्तानी।

इन के अतिरिक्त हिंदी उर्दू को साहित्यिक भाषा के रूप में अपनाने वाले अन्य प्रदेशों की बोलियों के भी नमूने हैं। इन में बिहार की बोलियाँ (मगही और मैथिली), राजस्थान की बोलियाँ (मारवाड़ी, जयपुरी और मालवी), पहाड़ की बोलियाँ (कुमायूँनी और गढ़वाली) तथा पंजाबी (नाभा राज्य) आ गई हैं।

परिशिष्ट रूप में हिंदी की मुख्य मुख्य बोलियों के व्याकरणों की तालिकाएं तथा आरंभ में भिन्न बोलियों के क्षेत्रों को समझने के लिए मानचित्र पुस्तक की उपयोगिता को बढ़ाते हैं।